

चतुर्थ मंडल

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

देवसंस्कृति-जिज्ञासा प्रकरण

गुरुकुलेषु तदाऽन्येषु छात्रा आसंस्तु ये समे ।
 गुरुजनैः सह ते सर्वेऽप्यायाता द्रष्टुत्सुकाः ॥ १ ॥
 ऋषेः कात्यायनस्येमां व्यवस्थामुत्तमामपि ।
 तस्याऽध्यापनशैली तां चर्यां च ब्रह्मचारिणाम् ॥ २ ॥
 तैः श्रुतं यन्महर्षेर्यद् विद्यते गुरुकुलं शुभम् ।
 छात्रनिर्माणशालेव यत्रत्याः स्नातकास्तु ते ॥ ३ ॥
 समुन्नता भवन्त्येवं मन्यन्ते संस्कृता अपि ।
 सफला लौकिके संति समर्था अपि जीवने ॥ ४ ॥
 संपन्ना अपि चारित्र्य - संयुक्ता व्यक्तिरूपतः ।
 उदात्तास्ते तथैवोच्चैस्तदा गणयन्त उत्तमैः ॥ ५ ॥
 टीका—एक बार अन्यान्य गुरुकुलों के छात्र अपने-
 अपने गुरुजनों समेत महर्षि कात्यायन के आश्रम की व्यवस्था
 और अध्ययन शैली व दिनचर्या का पर्यवेक्षण करने आए ।
 उनसे सुना था कि कात्यायन का गुरुकुल टकसाल है, जिसमें
 पढ़कर निकलने वाले स्नातक न केवल समुन्नत होते हैं, वरन्
 सुसंस्कृत भी माने जाते हैं । वे लौकिक जीवन में समर्थ,
 सफल और संपन्न रहते हैं तथा व्यक्तिगत जीवन में चरित्रवान्,
 उदात्त एवं मूर्द्धन्य स्तर के गिने जाते हैं ॥ १-५ ॥

वैशिष्ट्यं चेदृशं छात्राः केनाधारेण यांति ते ।
 इदं द्रष्टुं च विज्ञातुं छात्रास्ते गुरुभिः सह ॥ ६ ॥
 विभिन्नेभ्यः समायाताः क्षेत्रेभ्य उत्सुका भृशम् ।
 तदागमनवृत्तं च सदस्यैर्ज्ञातमेव तत् ॥ ७ ॥
 टीका—ऐसी विशेषताएँ किस आधार पर छात्रगण प्राप्त
 करते हैं? यह जानने देखने की अभिलाषा लेकर वे छात्र
 मंडल अध्यापकों समेत विभिन्न क्षेत्रों, देशों से आए थे । उनके
 आगमन और उद्देश्य की पूर्व सूचना कात्यायन गुरुकुल के
 सभी छोटे-बड़े सदस्यों को विदित हो गई थी ॥ ६-७ ॥

ध्यानेनागंतुकाः सर्वे दिनचर्या व्यवस्थितिम् ।
 कात्यायनाश्रमस्यास्य स्वच्छतां व्यस्ततामपि ॥ ८ ॥
 अनुशासनसम्मानं तत्रत्ये पाठ्यसंविधौ ।
 सुसंस्कारित्वभावं तं व्यवहारेऽवतारितुम् ॥ ९ ॥
 पालितुं च सदाचारमध्यापनमिवानिशम् ।
 कर्तव्यं निजदायित्वं पालितुं चानुशासनम् ॥ १० ॥
 ध्यानं तत्र विशेषं हि दिनचर्यागतं ह्यभूत् ।
 वैशिष्ट्यं मौलिकं चाभूदेतदेवास्य सुदृढम् ॥ ११ ॥
 टीका—आगंतुकों ने कात्यायन आश्रम की दिनचर्या,

व्यवस्था, स्वच्छता, व्यस्तता और अनुशासनप्रियता को
 ध्यानपूर्वक देखा । पाठ्य पुस्तकों के अध्ययन-अध्यापन की
 भाँति ही सुसंस्कारिता को व्यवहार में उतारने तथा शिष्टाचार
 पालने, कर्तव्य-उत्तरदायित्व समझने और उन्हें पालने के लिए
 अनुशासन बरतने पर समुचित ध्यान दिया जाता था यही इस
 आश्रम की सुदृढ़ मौलिकता थी ॥ ८-११ ॥

नैवाध्ययनमेवात्र पर्याप्तं भवति त्वयि ।
 नेतुं तान् प्रगतीं छात्रान् महामानवतामपि ॥ १२ ॥
 व्यवहारे समावेशोऽभ्यासश्चापि विशेषतः ।

सदाशयसमुद्भूतो मतस्त्वावश्यकः सदा ॥ १३ ॥
 टीका—व्यक्तित्वों को उभारने और सामान्य मनुष्यों को
 महामानव बनाने में मात्र अध्ययन ही पर्याप्त नहीं होता, व्यवहार
 में सदाशयता का समावेश अभ्यास इसके लिए नितांत आवश्यक
 है । इस सिद्धांत को उस आश्रम में भली प्रकार चरितार्थ होते
 हुए सभी आगंतुकों ने पाया ॥ १२-१३ ॥

गुरुकुलों की महामानवों को ढालने वाली टकसाल के
 रूप में मान्यता देवसंस्कृति की अनेकानेक विशेषताओं का
 एक अंग रही है । ऐसे शिक्षालयों से तपकर निकलने वाले
 विद्यार्थी एकांगी प्रवीणता मात्र नहीं प्राप्त करते थे, अपितु
 अपने आपको संस्कारों की निधि से संपन्न बनाकर व्यावहारिक
 दृष्टि से बहिरंग जीवन में भी कुशल एवं सूझ-बूझ के धनी
 बनकर निकलते थे । ऐसे आरण्यकों के प्रति ऋषि समुदाय
 एवं अन्यान्य छात्रों की जिज्ञासा होना स्वाभाविक है ।

विद्यालय का परिकर अपने एक-एक अंग से अपना
 परिचय देता है । बाह्य सुसज्जा, विद्यार्थियों का ठाट-बाट से
 रहना, बैठने-पढ़ने की सुव्यवस्था होना भर पर्याप्त नहीं । यह
 बाह्याडंबर तो आज हर कहीं रास्ता चलते देखा जा सकता
 है । अध्ययन-अध्यापन की श्रेष्ठ व्यवस्था होना भी समुचित
 नहीं । संस्कारों के अभिवर्द्धन के लिए, व्यक्ति को महामानव
 रूप में ढालने के लिए आत्मानुशासन को जीवन का अंग
 बनाने के लिए, उदारता परमार्थ परायणता को व्यवहार में
 समावेश करने हेतु क्या प्रयास पुरुषार्थ अध्ययन-अध्यापन के
 साथ किया गया, वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । उसी में विद्यालय
 के विद्या का घर कहे जाने की सार्थकता है ।

आश्रमस्थैस्तथा तत्र समायातैश्च निश्चितम् ।
 अवरुद्ध्य तु सप्ताहं शिक्षां तां लौकिकीं भवेत् ॥ १४ ॥
 विद्याया विषये चर्चा याऽमृतत्वाय कल्पते ।
 स्वभावे विनयं शीलं समाविष्टं करोति या ॥ १५ ॥

४.२ प्रज्ञोपनिषद्

अपेक्ष्य लौकिकीं शिक्षां विद्या या त्वात्मवादिनी।

तुलनायां महत्त्वं तु तस्या एवाधिकं मतम् ॥ १६ ॥

उपस्थिता जनाः सर्वे ज्ञातुमेतच्च विस्तरात्।

ऐच्छन्त्येन समे तथ्यं कुर्युस्तेऽवगतं स्वतः ॥ १७ ॥

टीका—आगंतुकों और आश्रमवासियों ने मिलकर निश्चय किया कि एक सप्ताह तक लौकिक जानकारी दे देना वाला शिक्षाक्रम बंद रखा जाए और विद्या पर अधिक प्रकाश डाला जाए, जो अमृत कहलाती है और स्वभाव में विनयशील शालीनता का समावेश करती है। लौकिक शिक्षा की तुलना में आत्मवादी विद्या का कितना अधिक महत्त्व है इसे सभी उपस्थित जन और भी अधिक विस्तार से जानना चाहते थे। या इस तथ्य से किसी न किसी रूप में अवगत तो सभी थे ॥ १४-१७ ॥

साप्ताहिकं समारब्धं संस्कृतेः सत्रमुत्तमम्।

आगतः समुदायश्च यथास्थानमुपाविशत् ॥ १८ ॥

उद्बोधको महर्षिः सोऽगादीत्कात्यायनस्तदा।

प्रगतेः सार्वभौमाया नृणामाधारगानि तु ॥ १९ ॥

तथ्यानि यानि संप्राप्य स्फुलिंगं इव शक्तिमान्।

विकासं पूर्णमासाद्य जीवो ब्रह्म भवेद् ध्रुवम् ॥ २० ॥

टीका—एक सप्ताह का संस्कृति सत्र आरंभ हुआ। उपस्थित समुदाय अपने-अपने निर्धारित स्थानों पर पंक्तिबद्ध होकर आसीन हुआ। उद्बोधनकर्ता महर्षि कात्यायन ने जिज्ञासुओं की आकांक्षा के अनुरूप मनुष्य की सर्वतोमुखी प्रगति के आधारभूत तथ्यों पर प्रकाश डालना आरंभ किया, जिन तथ्यों को प्राप्त कर शक्तिशाली चिंगारी के रूप में विद्यमान जीव पूर्ण विकास को प्राप्त कर ब्रह्मरूप बन जाता है ॥ १८-२० ॥

कात्यायन उवाच—

भद्रा! जन्मना मर्त्यः पशुवृत्तियुतो भवेत्।

संज्वितो व्यवहारो यो योनिषु स हि निम्नगः ॥ २१ ॥

भ्राम्यताशीतिसंख्यासु चतुरुत्तरकासु तु।

गरिष्णो मर्त्यभावस्य त्याज्यो विस्मर्य एव सः ॥ २२ ॥

देवयोनिगरिष्णश्च योग्यानां गुणकर्मणाम्।

प्रकृतेरपि चाभ्यासः कर्तव्यो मर्त्यजन्मनि ॥ २३ ॥

त्यागस्वीकारयोरेवानयोर्वा प्रक्रिया मता।

देव - संस्कृतिरुक्ताऽतो देवत्वं नर आश्रयेत् ॥ २४ ॥

टीका—कात्यायन बोले, हे भद्रजनो मनुष्य जन्मतः पशु-प्रवृत्ति का होता है। चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते समय जो व्यवहार संचित किया गया है, वह मनुष्य जीवन की गरिमा को देखते हुए ओछा पड़ता है। इसलिए उसे भुलाना, छोड़ना पड़ता है। इस देव योनि की गरिमा के उपयुक्त गुण, कर्म, स्वभाव का अभ्यास करना पड़ता है। इसी छोड़ने

ग्रहण करने की उभयपक्षीय प्रक्रिया को देव संस्कृति भी कहते हैं, जिससे मनुष्य देवत्व को प्राप्त करता है ॥ २१-२४ ॥

शिक्षा और विद्या में अंतर समझना अत्यंत अनिवार्य है। बहुसंख्य व्यक्ति दोनों को एक ही मानते एवं स्वयं तथा अपनी संतानों के लिए बहिरंग की जानकारी देने वाली शिक्षा को ही समुचित मान बैठते हैं।

शिक्षा का अर्थ है, जानकारी को व्यापक बनाना, बुद्धि विस्तार करना, ताकि वह दैनंदिन जीवन में काम आ सकें। विद्या वह है, जो जीवन को सुसंस्कारी बनाती एवं आत्मिक प्रगति में सहायक भूमिका निभाती है। दोनों ही समग्र मानवी विकास के लिए जरूरी हैं। जहाँ एक व्यक्ति के बहुमुखी लौकिक विकास के लिए उत्तरदायी है, वहाँ दूसरी, व्यक्ति के अंतःक्षेत्र के परिशोधन, परिष्कार एवं उन्नयन की भूमिका संपादित करते हैं। अतः शिक्षा मनुष्य के बहिरंग जीवन को सुविकसित करती है और विद्या अंतरंग को। शिक्षा सांसारिक योग्यता, प्रतिभा बढ़ाती है और विद्या मनुष्य को सुसंस्कारी, उदार, उदात्त बनाती है व्यक्तित्व को श्रेष्ठता एवं शालीनता से सुसंपन्न करती है। एक को सभ्यता के विकास का साधन तथा दूसरे को सांस्कृतिक उन्नति का माध्यम समझा जा सकता है। प्रगतिशील जीवन दोनों के समन्वय एवं सुविकसित होने पर बनता है।

ऋषि श्रेष्ठ कात्यायन यहाँ बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि कुसंस्कारों का बोझ अपने सिर पर लिए नर-पशु के रूप में जन्मे अनगढ़ मनुष्य के लिए सुरदुर्लभ मानव योनि में जो बहुमूल्य अवसर स्वयं के उत्थान हेतु मिला है, उसे गँवाया नहीं जाना चाहिए। पशु स्तर त्यागकर मानवी गरिमा में प्रवेश करना ही प्रकारांतर से देव-संस्कृति है। शब्दार्थ एवं भावार्थ दोनों ही रूप में इसका आशय है ऐसी विद्या जो पेट प्रजनन तक सीमाबद्ध रखने वाली पशु-प्रवृत्तियों का परित्याग एवं देवत्व को अंतराल में उतारने, उत्कृष्ट आदर्शवादिता को जीवन में समाविष्ट करने का सर्वांगपूर्ण शिक्षण दे। कायाकल्प करने के कारण ही इसे अमृत कहा गया है।

नाञ्जसाऽभ्येति चैषा तु शिक्षा यत्नेन मानवैः।

शिक्षणीया भवत्येषा विद्या प्रोक्ता मनीषिभिः ॥ २५ ॥

संबद्धा सुविधाभिस्तु साफल्येन च या तु सा।

क्षेत्रस्य भौतिकस्यात्र शिक्षा प्रोक्ता मनीषिभिः ॥ २६ ॥

शिक्षाऽप्यस्ति च सा नूनमनिवार्या तथाऽपि तु।

अपूर्णेव तथैकांगं विना विद्या - समन्वयात् ॥ २७ ॥

टीका—यह अनायास नहीं, अति प्रयत्नपूर्वक सीखनी और सिखानी पड़ती है। यही विद्या है शिक्षा उसे कहते हैं, जो भौतिक क्षेत्र की सुविधा, सफलता से संबंधित है। शिक्षा

भी आवश्यक तो है पर विद्या का समन्वय हुए बिना वह अपूर्ण एवं एकांगी ही रहती है ॥ २५-२७ ॥

विद्या एवं शिक्षा का युग्म है। शिक्षा बाहर से थोपी जा सकती है एवं वह लौकिक प्रगति में सहायक होती है, किंतु विद्या को बाहर से आरोपित नहीं किया जा सकता। बिना अंतः की सुसंस्कारिता के अनगढ़ व्यक्ति को दी गई शिक्षा तो बंदर के हाथ तलवार की तरह सिद्ध होती है। विद्या के लिए मनुष्य को स्वयं प्रयास करना पड़ता है, प्रेरणा स्रोत कोई भी बन सकता है। वातावरण, शिक्षक, अभिभावक, मित्र अथवा हितैषीगण। विद्या अर्जन एक प्रकार की साधना है, अंतक्षेत्र का प्रचंड पुरुषार्थ है, जिसे संपादित किए बिना मानव जीवन की हर उपलब्धि व्यर्थ है।

ज्ञानविज्ञानयोर्योगः पन्थानं प्रगतेः सदा।

सार्वत्रिक्याः प्रशस्तं स विदधाति न संशयः ॥ २८ ॥

शरीरयात्रासौविध्य - संग्रहः क्रियते यथा ।

तथैवात्मिकप्राखर्यप्राप्यते यततामपि ॥ २९ ॥

विना तेन नरस्तिष्ठेन्नरवानररूपकः ।

नरपामररूपो वा हेयप्रकृतिकारणात् ॥ ३० ॥

अविकासस्थितस्तिष्ठेदसंतुष्टस्तिरस्कृतः ।

स्वास्थ्यशिक्षा - साधनानां दृष्ट्या त्राससहश्च सः ॥ ३१ ॥

टीका—ज्ञान और विज्ञान का समन्वय ही सर्वतोन्मुखी प्रगति का पथ-प्रशस्त करता है। इसलिए शरीर यात्रा की सुविधाएँ जुटाने की तरह ही आत्मिक प्रखरता के लिए भी प्रयत्न होना चाहिए। उसके बिना मनुष्य को नर-वानर या नर-पामर बनकर रहना पड़ता है, हेय आदतों के कारण पिछड़ेपन के अतिरिक्त स्वास्थ्य तथा साधनों की दृष्टि से भी त्रास सहता है ॥ २८-३१ ॥

सार्थकं जन्मानुष्यं कर्तुमावश्यकं मतम्।

सुसंस्कारत्वमत्रैतद् व्यर्थं जन्मान्यथानृणाम् ॥ ३२ ॥

तस्योपलब्धेरैषैव विद्यापद्धतिरुत्तमा ।

निश्चिताऽप्यनुभूता च शिक्षाविद्यासुसंगमः ॥ ३३ ॥

महत्त्वपूर्णो मंतव्यो नरैः सर्वत्र सर्वदा।

नोचेन स सदाचारं व्यवहर्तुं क्षमो भवेत् ॥ ३४ ॥

टीका—मनुष्य जन्म को सार्थक करने के लिए सुसंस्कारिता का संपादन नितांत आवश्यक माना गया है। विद्या उसी को उपलब्ध कराने की, सुनिश्चित एवं अनुभूत पद्धति है। अस्तु शिक्षा के साथ विद्या के समावेश का महत्त्व सर्वत्र समझा जाना चाहिए नहीं तो वह दैनिक जीवन में सदाचार का व्यवहार नहीं कर पाएगा ॥ ३२-३४ ॥

मनुष्यों व पशुओं में आकृति भेद होते हुए भी अनेकों में प्रकृति एक-सी पाई जाती है। वनमानुष देखे तो नहीं जाते, किंतु उस मनोभूमि वाले नर-वानरों की कोई कमी नहीं। ऐसे

भी अनेकों हैं, जो निरुद्देश्य जीवन जीते या मर्यादा को तब तक ही मानते हैं, जब तक कि उन पर अंकुश रहे। मनुष्य को जन्म मिलने के साथ-साथ विधाता ने मानव आकृति भी दी है। किंतु प्रकृति उसे अपने पुरुषार्थ से स्वयं अर्जित करनी होती है। खदान से निकला लोहा मिट्टी मिला होता है। उसे भट्टी में गलाना पड़ता है। जब मिला हुआ अंश जलकर नष्ट हो जाता है, तो वही अनगढ़ लोहा शुद्ध लोहे के रूप में सामने आता है। तपाने पर एवं साँचे में ढलाई करने पर भिन्न-भिन्न पात्रों उपकरणों के रूप में सामने आता है। लगभग यही तथ्य मनुष्य पर भी लागू होता है।

जीवन निर्वाह के लिए साधन जुटाना है। पर यह पर्याप्त नहीं है। अंतरंग के विकास के बिना जीवन यात्रा अधूरी है। यदि उसने बहिरंग जीवन में काम आने वाले साधन जुटा भी लिए तो वे आत्मिक प्रगति के अभाव में निरुद्देश्य ही पड़े रहेंगे, साधनों का अंबार होते हुए भी व्यक्ति अनगढ़ ही बना रहेगा, कोई लाभ उसका उठा नहीं पाएगा।

यहाँ ऋषि ज्ञान व विज्ञान के समन्वय की जीवन में महत्ता प्रतिपादित करते हुए व्यक्ति के सांस्कृतिक विकास के लिए इसे अनिवार्य बताते हैं। ज्ञान वह जो अंतः की समृद्धि बढ़ाए गुण, कर्म, स्वभाव का परिष्कार करे। विज्ञान वह जो बहिर्मुखी व्यावहारिक जानकारी मनुष्य को दे। दोनों एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं। ज्ञान संस्कृति का जन्मदाता है, तो विज्ञान सभ्यता का। संस्कृति व सभ्यता एक दूसरे के साथ चलने पर ही मनुष्य को सर्वांगपूर्ण विकास के पथ पर बढ़ाते हैं। अतः विद्या एवं शिक्षा दोनों को, ऊपर बताई गई दो आवश्यकताओं को दृष्टिगत रख समंवित्र रूप में प्रारंभ से ही दिए जाने की व्यवस्था बनाई जानी चाहिए। मनुष्य स्वेच्छाचारिता न बरतकर अनुशासित रहे, सदाचारी बने, इसके लिए यह समन्वय अत्यंत अनिवार्य है।

आगतेषु गुरुष्वत्र महर्षिः स ऋतंभरः।

उत्थाय कृतवान् व्यक्तां जिज्ञासां नम्रभावतः ॥ ३५ ॥

टीका—आगतुक अध्यापकों में से महामनीषी महर्षि ऋतंभर ने उठकर विनम्रतापूर्वक जिज्ञासा व्यक्त की ॥ ३५ ॥

ऋतंभर उवाच

संस्कारिणीमिमां विद्यां विधातुं मर्त्यजीवने।

समाविष्टां विधिर्वाच्यो बोधबोधनयोः प्रभो ॥ ३६ ॥

टीका—ऋतंभर ने कहा, भगवन् सुसंस्कारी विद्या को मनुष्य जीवन में समाविष्ट करने की विधि व्यवस्था समझाएँ। उसे किस प्रकार सीखा और सिखाया जाना चाहिए ॥ ३६ ॥

कात्यायन उवाच

भद्र एष शुभारंभः पितृभ्यां मर्त्यजीवने।

निजे कृत्वा परिष्कारं विधातव्यो यथा च तत् ॥ ३७ ॥

४.४ प्रज्ञोपनिषद्

बीजं भवति चोत्पत्तिः क्षुपाणां तादृशां भवेत् ।
दायित्वं पितरौ बुद्ध्वा सच्चारित्र्यं च चिंतनम् ॥ ३८ ॥
उच्चस्तरं तु गृहीयुर्भूत्वा कामातुरास्तु ते ।
अनीप्सितां न चोत्पन्नां कुर्युः संततिमात्मनः ॥ ३९ ॥

टीका—कात्यायन बोले भद्रजनो यह शुभारंभ माता-पिता को अपनी जीवनचर्या में सुधार, परिष्कार करके आरंभ करना चाहिए। जैसा बीज होता है, वैसी ही पौध उगती है। इसलिए जनक-जननी अपने महान् उत्तरदायित्व को समझें और सुयोग्य संतान के लिए उच्चस्तरीय चिंतन और चरित्र अपनाएँ। कामातुर होकर अवांछनीय संतान उत्पन्न न करें ॥ ३७-३९ ॥

काँटेदार बबूल का बीज बोकर आम का वृक्ष पनपने की आशा नहीं की जाती। खाद, पानी, निराई, गुड़ाई जितनी महत्त्वपूर्ण है, उससे भी अधिक यह कि बीज श्रेष्ठ है या नहीं। किसान इसलिए अपनी फसल बोने से पहले श्रेष्ठ बीज ढूँढ़ते हैं, तदुपरांत अन्य व्यवस्थाएँ करते हैं। माता-पिता की, शिशु निर्माण में किसान जैसी ही भूमिका है। जितना श्रेष्ठ चिंतन व चरित्र का स्तर माता-पिता का होगा, उतनी ही उच्चस्तरीय सुसंतति होगी। एक नया जीवन संसार में प्रवेश ले, उसके पूर्व माता-पिता स्वयं अपनी मनोभूमि बनाएँ, संस्कारों को पोषण दें, तो ही ऐसी श्रेष्ठ संतान की अपेक्षा की जा सकती है। जो विद्यार्जन हेतु सक्षम आत्मबल जुटा सके।

अबोधाः शिशवो मातुरुदरावधितः स्वयं ।
अभ्यस्तास्ते कुटुंबस्य ज्ञेयं वातावृतौ बहु ॥ ४० ॥
शिशूनां सप्तवर्षाणां प्रायो व्यक्तित्वनिर्मितिः ।
पूर्णेव जायते चास्यामवधौ पारिवारिकी ॥ ४१ ॥
वातावृतिः शिशून् कृत्वा पूर्णतस्तु प्रभावितान् ।
सुनिश्चिते क्रमे चैतान् परिवर्तयति स्वयम् ॥ ४२ ॥

टीका—अबोध शिशु माता के उदर से लेकर परिवार के वातावरण में बहुत कुछ सीख लेते हैं। सात वर्ष की आयु तक बच्चों का व्यक्तित्व बहुत बड़ी मात्रा में विनिर्मित हो चुका है। इस अवधि में पारिवारिक वातावरण का ही भला-बुरा प्रभाव बालकों को सुनिश्चित ढाँचे में ढालता है ॥ ४०-४२ ॥

विद्या वह उच्चस्तरीय संस्कारयुक्त मार्गदर्शन है, जिसका शुभारंभ गर्भावस्था से ही हो जाता है। माता की गर्भकाल की अवधि में जैसी मनःस्थिति होती है, जैसा चिंतन प्रवाह चलता है, बालक वैसा ही ढलता है। जन्म के तुरंत बाद से ही वह शिक्षण प्रत्यक्ष रूप से चल पड़ता है। आनुवांशिकता से गुण संपदा के संतान में समाविष्ट होने की बात जितनी सही है, उतनी ही यह भी कि वातावरण में, स्वयं के जीवन क्रम में उन संस्कारों का समावेश किया गया अथवा नहीं, जो माता-पिता अपनी संतानों में चाहते हैं। एक दार्शनिक का वह कथन शत-प्रतिशत सही है, जिसमें उन्होंने ५ वर्ष की अवधि के

बाद शिक्षण हेतु अपने बच्चे को लेकर आने वाली एक माता को कहा था कि बच्चे को विद्या देने की बहुमूल्य अवधि ५ वर्ष तो वह गँवा चुकी। वस्तुतः सुसंतति के निर्धारण हेतु माता-पिता का स्थान भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि जन्मोपरांत निर्धारित अवधि में गुरुकुल पहुँचने पर शिक्षक का।

अतः पश्चाद् विनिर्मान्ति व्यक्तित्वं गुरवश्च ते ।
नोपदेशेन पाठ्यैर्वा विषयैः संभवेदिदम् ॥ ४३ ॥
गुरुकुलेषु निवासस्याऽध्यापनस्याऽपि च द्वयोः ।
कार्यं सहैव सम्पन्नं जायते तेन तत्र च ॥ ४४ ॥
ग्रंथाऽध्यापनमात्रं न जायतेऽपितु विद्यते ।
प्रबंधस्तत्र शिक्षाया व्यवहारस्य शोभनः ॥ ४५ ॥
सुयोग्य - परिवारस्य भूमिकां निर्वहन्ति ये ।
यत्र वातावृतिः स्फूर्तिदाऽस्ति विद्यालयास्तु ते ॥ ४६ ॥

टीका—इसके उपरांत गुरुजन बालकों का व्यक्तित्व बनाते हैं। यह कार्य मात्र उपदेश या पाठ्यक्रम के सहारे संपन्न नहीं होता। गुरुकुलों में निवास और अध्ययन के दोनों ही कार्य साथ-साथ चलते हैं। इसलिए वहाँ पुस्तक पढ़ाने का ही नहीं, व्यवहार सिखाने का भी प्रबंध किया जाता है। सुयोग्य परिवार की भूमिका जो निभा सकते हैं, जहाँ प्रेरणाप्रद वातावरण होता है, वस्तुतः वे ही विद्यालय कहलाने के अधिकारी हैं ॥ ४३-४६ ॥

कुसंस्कारयुते वातावरणे याति विकृतिम् ।
व्यक्तित्वं बालाकानां सा शिक्षा व्यर्थत्वमेति च ॥ ४७ ॥
भौतिकी वर्तते चाल्पं महत्त्वं ज्ञानजं परम् ।
प्रतिभाया महत्त्वेन युतायास्त्वधिकं मतम् ॥ ४८ ॥

टीका—कुसंस्कारी वातावरण में बालकों के व्यक्तित्व उलटे बिगड़ते हैं। शिक्षा के रूप में जो भौतिक जानकारी प्राप्त हुई थी, वह भी निरर्थक चली जाती है। जानकारी का क्रम और संस्कारवान् प्रतिभा का महत्त्व अधिक है ॥ ४७-४८ ॥

माता-पिता बाल्याकाल के प्रारंभिक वर्षों में बालक के विकास हेतु उत्तरदायी हैं, तो गुरु-शिक्षक उनके उत्तरकाल के लिए। यही वह अवधि है, जिनमें मस्तिष्क की पकड़ अत्यंत पैनी होती है। बालक गीली मिट्टी के समान होते हैं। इस समय उन्हें जैसे साँचे में ढाला जाएगा, वैसे ही वे बनेंगे। उनका व्यावहारिक शिक्षण मानसिक पोषण जैसा होगा, वैसा ही उनका विकास होगा। वस्तुतः गुरुकुल भी एक परिवार संस्था ही है, गुरुजन अभिभावक हैं एवं अन्य साथी भाई-बहिन के समान। जो मर्यादाएँ परिवार संस्था पर लागू होती हैं, उन्हीं का परिपालन गुरुकुलों में भी होना चाहिए। पारिवारिक स्नेह, यथोचित सुधार हेतु अंकुश, संरक्षण मार्गदर्शन

पाकर व्यक्तित्व समग्र रूप में निखर कर आता एवं श्रेष्ठ नागरिक को जन्म देता है। यदि गुरुकुल मात्र लौकिक जानकारी तक ही सीमित रहें, वातावरण निर्माण की ओर वहाँ ध्यान न दिया जा रहा हो, तो बालकों में संस्कार नहीं विकसित हो पाते।

वातावृतिः करोत्येतत्कार्यं संपन्नमञ्जसा ।
मात्रमध्यापकस्त्वेतन् कर्तुं प्रभवेदिह ॥ ४९ ॥
शिक्षणेन महत्कार्यं परमध्यापको भवेत् ।
स्वभावेन चरित्रेण व्यवहारेण चोच्चगः ॥ ५० ॥
काले सोऽध्यापनस्यात्र पाठयत्येव नो परम् ।
अभिभावकदायित्वं तदा निर्वहति स्वयम् ॥ ५१ ॥
दायित्वमेतद् यो यावन्निर्वहेद् वस्तुतस्तु सः ।
अधिकारी गुरुत्वस्य वर्तते धन्यजीवनः ॥ ५२ ॥

टीका—यह कार्य विद्यालय का वातावरण ही सरलता से संपन्न करता है। अकेला अध्यापक मात्र प्रशिक्षण के सहारे इतना महान् कार्य संपन्न नहीं कर सकता। अध्यापक को अपना स्वभाव, चरित्र और व्यवहार भी उच्चस्तरीय रखना चाहिए, क्योंकि अध्यापन काल में वह मात्र पढ़ाता ही नहीं, अभिभावकों और परिवार वालों की भी जिम्मेदारी निभाता है इसी जिम्मेदारी को जो, जितनी अच्छी तरह निभा सके, वही सच्चे अर्थों में गुरुजन कहलाने का अधिकारी है तथा उसका जीवन धन्य है ॥ ४९-५२ ॥

वर्तमान मान्यता विद्यालयों की मात्र इतनी है कि पुस्तकों से लदकर वहाँ तक जाया जाए, समयक्षेप करके बच्चों के शाम को वापस लौटते ही अध्यापक एवं अभिभावक अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझ लें। दोनों के ही रुचि न लेने एवं अभीष्ट वातावरण न बनने के कारण ही शिक्षा का स्तर नित्य गिरता जाता है। लौकिक शिक्षा की पदवी प्राप्त छात्रों की संख्या नित्य बढ़ती जा रही है। कहीं श्रेष्ठ विद्यार्थी नाम भर को दिखाई देते हैं। जो हैं, वे स्वयं के पुरुषार्थ से अथवा अपनी जन्मजात विलक्षण प्रतिभा के बलबूते ऊँचे उठे होते हैं।

यहाँ ऋषि श्रेष्ठ कात्यायन संकेत करते हैं कि छात्र निर्माण हेतु जितनी बड़ी जिम्मेदारी अभिभावकों की, एवं श्रेष्ठ वातावरण की है, उच्चस्तरीय शिक्षण की है, उससे भी अधिक स्वयं शिक्षक की है। उन्हें व्यक्तिगत जीवन में श्रेष्ठ चरित्र वाला एवं मातृ हृदय संपन्न होना चाहिए। पढ़ाना, विद्या को छात्र के अंदर तक उतार देना जितना जरूरी है, उतना ही अपने चरित्र से शिक्षण देना भी। शिक्षक का यह नैतिक दायित्व है कि वे पहले स्वयं वैसा बनें, जैसा वह छात्रों से अपेक्षा रखते हैं।

ज्ञानात्पुस्तकसंबद्धादतिरिक्तं च कौशलम्।

व्यवहारसमुद्भूतं स्वभावः श्रेष्ठतां गतः ॥ ५३ ॥
तयोर्निर्मितये भाव्यं वातावृत्याऽनुकूलया ।
निर्देशेन तथाऽनेकैः साधनैरपि संततम् ॥ ५४ ॥
विशेषताभिरेताभिर्युता शिक्षणपद्धतिः ।
यत्रास्ते तत्र ये बाला पुष्टिं यांति पठन्त्यपि ॥ ५५ ॥
प्रगतिं सार्वभौमां ते सन्ततं यांति च क्रमात् ।
जीवने चाऽन्यमर्त्यानां कृते प्रामाणिकाश्च ते ॥ ५६ ॥
परिवाराद् भूमिका सा प्रारब्धा सन्ततं चलेत् ।
विद्यालस्य कैशोर्यं यावदत्येति बालकः ॥ ५७ ॥
प्रौढतां परिपक्वत्वं गृह्णात्येव च नो यदा ।
तदैव ज्ञेयं बालस्य जाता निर्मितिरुत्तमा ॥ ५८ ॥

टीका—पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त व्यवहार, कौशल और श्रेष्ठता संपन्न स्वभाव बनाने के लिए तदनुरूप वातावरण, मार्गदर्शन एवं साधन भी होने चाहिए। ऐसी विशेषताओं से युक्त शिक्षण पद्धति जहाँ है, वहाँ पढ़ने, पलने और बढ़ने वाले बालक सर्वतोन्मुखी प्रगति करते हैं तथा जीवन में अन्य लोगों के लिए प्रमाण बनते हैं। अस्तु घर-परिवार से विद्यालय की भूमिका आरंभ होकर तब तक चलती रहनी चाहिए, जब तक कच्ची आयु पार करके प्रौढता परिपक्वता की भूमिका न निभाने लगे। जब ऐसा हो जाए तब समझना चाहिए कि बालक का निर्माण हो गया ॥ ५३-५८ ॥

जीवन बहुरंगी है। यहाँ तरह-तरह की परिस्थितियों से, भिन्न-भिन्न मनःस्थिति के व्यक्तियों से निरंतर पाला पड़ता रहता है। जीवन संग्राम में सफल होने के लिए व्यक्ति को व्यवहार कुशल होना अत्यंत अनिवार्य है। इस विधा का शिक्षण किसी विद्यालय में अलग से नहीं दिया जाता, अपितु समग्र शिक्षण पद्धति ही ऐसी होती है, जिससे उससे जुड़ने वाले छात्र सर्वांगपूर्ण विकास कर सकें। शिक्षण तभी समग्र माना जा सकता है, जब बच्चे को परिवार संस्था से लेकर गुरुकुल तक निरंतर इसी प्रकार मार्गदर्शन मिलता रहे। एक बार मनःस्थिति के साँचे में ढलने पर वह जीवन का एक अंग बन जाती है। तब यह प्रयास पुरुषार्थ सफल हुआ माना जा सकता है।

भद्रा नरेषु संस्कारभावनायास्तु जागृतेः ।
दायित्वं बालकेष्वत्र जातेष्वपि युवस्वपि ॥ ५९ ॥
समाप्तिं याति नो देवसंस्कृतिः प्राक् तु जन्मनः ।
पश्चादपि च मृत्योस्तां कर्तुं संस्कारसंयुताम् ॥ ६० ॥
मानवीं चेतनां दिव्यमकार्षीत्क्रममुत्तमम् ।
नोद्गच्छेत्पशुता मर्त्येऽनिवार्यं चाङ्गमत्र तु ॥ ६१ ॥
इदं तु सभ्यता स्थूलनियमाश्रितमप्यलम् ।
सिद्ध्यतीह ततोऽग्रे च मनुष्ये बलिदानिनाम् ॥ ६२ ॥
सतां समाजसंस्कारकर्तृणां चित्तभूमिकाम्।

४.६ प्रज्ञोपनिषद्

कर्तुं विकसितां तं च निर्मातुमृषिमुत्तमम् ॥ ६३ ॥

मनीषिणां महामर्त्यं देवदूतं समिष्यते।

संस्कृतेरिदमेवास्ति कार्यं मंगलदं नृणाम् ॥ ६४ ॥

टीका—हे भद्रजनो मनुष्य में सुसंस्कारिता जगाने का उत्तरदायित्व बालकों के युवा हो जाने पर ही समाप्त हो जाता है। देवसंस्कृति ने जन्म के पूर्व से मृत्यु के पश्चात् तक मानव चेतना को संस्कारित करने का क्रम बनाया है। मनुष्य में पशुता के कुसंस्कार न उभरने देना उसका एक अनिवार्य पक्ष है। यह तो सभ्यता के स्थूल नियमों के माध्यम से भी किसी सीमा तक सध जाता है, किंतु इसे आगे मनुष्य में संत, सुधारक, शहीद की मनोभूमि विकसित करना उसे मनीषी, ऋषि, महामानव, देवदूत स्तर तक विकसित करना भी अभीष्ट है। यह कार्य संस्कृति का है ॥ ५९-६४ ॥

मात्र विद्यार्जन कर विद्वान बना देना, पदवी दिलाकर वैभव संपन्न बना देना ही शिक्षा का लक्ष्य नहीं होता। देव संस्कृति के इस महत्त्वपूर्ण प्रसंग की परिधि अत्यंत विशाल है। बालक में जगाए गए संस्कारों की परिणति आगे चलकर और भी महान् हो, यह उद्देश्य ऋषिगणों का, शिक्षण प्रक्रिया के मूल में रहा है। गर्भावस्था से ही संस्कारों के पोषण की प्रक्रिया आरंभ होती एवं मृत्योपरांत तक चलती रहती है। यह देव संस्कृति के विभिन्न उपक्रमों के माध्यम से संपन्न होता है। व्यक्ति न बिगड़े, अपनी पूर्व योनियों के चिर संचित संस्कारों की ओर पुनः उन्मुख न हो यह ठीक है, किंतु यह भी जरूरी है कि वह और भी श्रेष्ठ बने।

विज्ञानं भौतिकं लोके पदार्थस्य तदोजसः ।

उपयोगं प्रशास्येव नियंत्रणमथापि च ॥ ६५ ॥

आश्रित्याध्यात्मविज्ञानमंतश्चैतन्यं तथा ।

महाचैतन्यं नूनं लभ्यतेऽत्रानुशासनम् ॥ ६६ ॥

नियंत्रिता पदार्थाः स्युरंतश्चेतनया तथा ।

जीवांतश्चेतना स्याच्च परचैतन्य संयुता ॥ ६७ ॥

विकासस्य सुखस्याथ शांतेः श्रेष्ठः क्रमस्त्वयम् ।

देवसंस्कृतिरेनं च सिद्धान्तं सुप्रतिष्ठितम् ॥ ६८ ॥

नरस्य चिंतने कर्तुं चरित्रे सफला ह्यभूत् ।

लोककल्याणमत्यर्थमस्मादेव ह्यभूत्ततः ॥ ६९ ॥

अतो विश्वस्तरेणेयं श्रेष्ठां याता च मान्यताम् ।

निर्माति मानवं या तु देवं वै देवसंस्कृतिः ॥ ७० ॥

टीका—भौतिक विज्ञान पदार्थ एवं पदार्थगत ऊर्जा के नियंत्रण और उपयोग का मार्ग प्रशस्त करता है। अध्यात्म विज्ञान के सहारे अंतःचेतना तथा महत् चेतना के अनुशासन हस्तगत होते हैं। पदार्थ पर अंतःचेतना का नियंत्रण रहे, अंतःचेतना महत् चेतना से युक्त रहे। विकास और सुख-शांति का श्रेष्ठ क्रम यही है। यह महान सिद्धान्त, देव संस्कृति ने

जन-जन के चिंतन और चरित्र में उतार देने में सफलता पाई है। इसी से महान् लोक कल्याण हुआ है। इसीलिए इसे विश्वस्तर पर श्रेष्ठ संस्कृति के रूप में मान्यता मिली है। यह मानव को देवता बनाती है, अतः देव संस्कृति कहलाती है ॥ ६५-७० ॥

भारतीय संस्कृति देव संस्कृति ने चिर पुरातनकाल से मानवता को अनेकानेक अनुदान दिए हैं। अपने स्वरूप श्रेष्ठ उद्देश्यों, सार्वभौम रूप के कारण इसे विश्व संस्कृति का पर्याय माना जा सकता है। सभ्यता इसी के गर्भ से पनपी जिससे ज्ञान-विज्ञान की अनेकानेक विधाओं ने जन्म लिया एवं सारे विश्व को उन उपलब्धियों से लाभांवित किया। किसी देश, जाति, धर्म संप्रदाय वर्ग, समाज विशेष तक सीमित न रहकर यह संपूर्ण मानव जाति के विकास एवं कल्याण का पथ प्रशस्त करती रही है। इसका मूल आधार है यहाँ की ऋषि परंपरा। ऋषियों की आध्यात्मिक एवं वैचारिक संपदा अब भी परोक्ष रूप से वातावरण में गुंजित पाई जा सकती है।

भौतिकी और आत्मिकी की परस्पर अन्योन्याश्रयता का प्रतिपादन देव संस्कृति की मूलभूत विशेषता है। पदार्थ विज्ञान, भौतिकी स्थूल उपादानों से संबंधित है, जबकि चेतना विज्ञान, आत्मिकी, परोक्ष चेतन हलचलों से संबंधित है। पदार्थ में गति है तो चेतन में गति है। गति के पीछे कोई उद्देश्य न हो, वह गति से प्रज्ञा-विवेक अंतर्दृष्टि समंवित न हो तो एक निरर्थक परिभ्रमण की खिलवाड़ ही चारों ओर नजर आएगी। साधनों के बिना गति, अंतश्चेतना भी अधूरी है। भौतिकी का अनुदान सुविधा है तो आत्मिकी का वरदान है प्रतिभा। दोनों की अपनी-अपनी उपयोगिता है, किंतु इन्हें समंवित रूप से प्रस्तुत करना संस्कृति का उत्तरदायित्व है। देव संस्कृति ने इन्हीं सूत्रों को जनसुलभ बनाकर जन-जन के मनो तक पहुँचाया है। इसी कारण इसके अनुयायी बाह्य सुख साधनों के उपभोग तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु अंतः के पुरुषार्थ में सतत् संलग्न रहें। धर्म संस्कृति की प्राण चेतना का जीवंत रहना ही इसके अनुयाइयों की चरित्र निष्ठा के मूल में रही है।

विकसंति महात्मानः संस्कृतिश्चापि कुत्रचित् ।

क्षेत्रे विशेष एवात्र परं बद्धा न सीम्नि ते ॥ ७१ ॥

विकासं भारते याता देवसंस्कृतिरित्यहो ।

सत्यं परंतु सा विश्वसंस्कृतौ चिंतिता बुधैः ॥ ७२ ॥

गौरवं चेदमेवेयं गता काले महत्तरे ।

तदा विश्वं सुखं शांतिमन्वभूच्च निरंतरम् ॥ ७३ ॥

टीका—संत और संस्कृति किसी क्षेत्र में विकसित तो होते हैं, परंतु उन्हें किसी सीमा बंधन में बाँधा नहीं जा

सकता। देव संस्कृति भारतभूमि में विकसित हुई, यह सत्य है, किंतु वह वस्तुतः विश्वसंस्कृति के रूप में मनीषियों द्वारा गढ़ी गई थी और यही गौरव उसे दीर्घकाल तक प्राप्त भी रहा। उस समय विश्व ने महान सुख-शांति अनुभव की ॥ ७१-७३ ॥

यह सही है कि कोई भी विभूति अथवा विशिष्टता स्थान विशेष से जुड़ी होने के कारण वही नाम ले लेती है, पर वह उस सीमा में आबद्ध संकीर्ण बनी नहीं कही जा सकती। संत सार्वभौम होते हैं, सारी मानव जाति का कल्याण उनका मूल उद्देश्य होता है। भारत को सनातन काल से विश्व गुरु कहलाने का, वसुधा का मुकुटमणि कहे जाने का श्रेय इसलिए मिला कि यहाँ के ऋषियों-चिंतकों ने सदैव समग्र वसुधा के उत्कर्ष को ध्यान में रखते हुए अपनी गतिविधियाँ चलाई। उनके प्रतिपादन सार्वभौम हैं। वे विश्व एकता के लिए सारी वसुधा पर भ्रमण करते रहे हैं। उन्होंने स्नेह के बंधन में सारी मानव जाति को सूत्रबद्ध करने का प्रयास किया एवं इसमें वे सफल रहे। व्यास, वाल्मीकि, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, रामानुज, कुमारजीव, विवेकानंद, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, नानक, कबीर एवं महात्मा गाँधी अरविंद जैसी विभूतियों ने संस्कृति की इस प्रगति यात्रा को आगे बढ़ाया है। भारतीय संस्कृति उपयोगिता की दृष्टि से विश्वधर्म, विश्वसंस्कृति के रूप में ही आरंभ से गठित की गई, इसलिए इतनी अधिक विविधताओं का समावेश इसमें मिलता है।

आसुरीषु सदा शक्तिष्वलमाकर्षणं जनैः।

अन्वभावि भवत्येवानिष्टकारी समं तु तत् ॥ ७४ ॥

बाह्याकर्षणमेतासु देवशक्तिषु तादृशम्।

जायते न परंत्वतः सौन्दर्यं क्षमता च सा ॥ ७५ ॥

कल्याणकारिणी नूनमद्वितीयैव विद्यते।

देवसंस्कृतिरित्यर्थं मानवं तत्प्रपञ्चतः ॥ ७६ ॥

संरक्ष्य च सुरौपम्य विकासप्रेरणां तथा।

विधिं देवोपमं लोके यच्छतीह निरंतरम् ॥ ७७ ॥

टीका—आसुरी शक्तियों में आकर्षण विशेष होता है, परंतु वे अनिष्टकारी होती हैं। देवशक्तियों में बाह्याकर्षण उतना नहीं होता, परंतु आंतरिक सुंदरता और कल्याणकारी क्षमता अद्वितीय होती है। देवसंस्कृति मानवमात्र को आसुरी प्रपंच से बचाकर, देवोपम विकास की प्रेरणा और विधि-व्यवस्था प्रदान करती है ॥ ७४-७७ ॥

आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता भोग प्रधान है। अधिक उपार्जन एवं उसका उपभोग सुख-सुविधाएँ इत्यादि ही उनका लक्ष्य बनकर रह गया है। इससे समृद्धि तो बढ़ी है, किंतु सबसे बड़ी हानि यह हुई है कि उससे सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास हुआ है। नैतिकता के प्रति पदार्थ परक दृष्टिकोण होने

से न केवल दुराचरण बढ़ा है अपितु पारस्परिक संबंधों में रूक्षता संकीर्ण स्वार्थपरता एवं स्वच्छंद उपभोगवाद ने मनश्चेतना पर अपना आधिपत्य जमा लिया है। आदर्शवादिता कहने-सुनने की चीज रह गई है। यह संस्कृति की अवमानना की ही परिणति है। देवशक्तियों को पोषण देने वाली संस्कृति ही उस महाविनाश को बचा सकती है, जो आधुनिकता का भविष्यत् कहा जा सकता है।

देवसंस्कृति का इतिहास बताता है कि अंतः के विकास एवं मानवी गरिमा की स्थापना हेतु इसकी अवधारणाओं ने अति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

देव देने वाले को और दैत्य लेने वाले को कहते हैं। जिसने संसार में लिया कम और दिया अधिक है वह देव है। जो लेता अधिक और देता कम है उसकी गणना दैत्यों में की जाएगी। संक्षेप में स्वार्थी को दैत्य और परमार्थी को देव कहते हैं। देवों को मान दिया जाता है और दैत्यों के लिए सहज ही घृणा उठती है। यह नितांत स्वाभाविक है। स्थिति को देखते हुए लोक मानस में इस प्रकार की प्रतिक्रिया उठाना उचित ही है। व्यक्ति का चिंतन और कार्य जिस स्तर का है उसी के अनुरूप तो उसे श्रेय दिया या हेय समझा जा सकता है।

तत्त्वदर्शन में मानव के लिए महानात्मा, देवात्मा और परमात्मा बनने की दिशा को ही परम लक्ष्य माना गया है। इसी से इस जन्म की सार्थकता है। स्वर्ग मुक्ति, सिद्धि, आत्म साक्षात्कार प्रभु प्राप्ति जैसे दिव्य लाभ मात्र परमार्थ पथ पर चलते हुए देव संस्कृति को अपनाते हुए ही प्राप्त किए जा सकते हैं। सांसारिक यश, गौरव, सम्मान, सहयोग जैसे उच्चस्तरीय लाभ इसी मार्ग पर चलने से मिलते हैं।

श्रेष्ठ मान्यताओं पर आधारित देव संस्कृति के सारे सिद्धांत अपने आप में इतने सही एवं युगानुकूल हैं, कि आज भी उन्हें परीक्षित कर ऊँचा उठ सकना देवमानव की स्थिति में जा खड़ा होना संभव है। इसका एकमात्र कारण यह है कि ऋषियों ने जो अध्यात्म सिद्धांत निर्धारित किए उन्हें अपनी बहुमूल्य मानवी काया रूपी प्रयोगशाला में सत्यापित भी किया। आत्मा, परमात्मा, कर्मफल, मरणोत्तर जीवन संबंधी आप्त मान्यताओं का भारतीय दर्शन के मूलभूत सिद्धांतों का इसलिए युगों-युगों से सम्मान किया जाता रहा है। उनके आधार पर जीवन दर्शन बना है व भारत निवासी उन पर चलकर प्रगति पथ पर आगे बढ़े हैं। जब भी इन मान्यताओं को झुठलाया गया, उस समुदाय को प्रतिकूलताओं ने घेरा है एवं उसे अंधकार भरे समय से गुजरना पड़ा है।

संदेशवाहकाश्चास्याः स्व सदाचारतो जनान्।

प्रशिक्षितान् प्रकुर्वन्तः प्रेरितान् व्याचरन्भुवि ॥ ७८ ॥

४.८ प्रज्ञोपनिषद्

केवलं न मनुष्यास्ते प्राणिमात्रं तु सर्वदा।

अन्वभूवन् स्वतुल्यं च तेषामेषा मनःस्थितिः ॥ ७९ ॥

प्रचंडात्मीयताधारमाधृत्याभूत्फलान्वितः ।

उद्घोषो विश्वमाकर्तुं कुटुंबमिव वर्द्धितम् ॥ ८० ॥

टीका—देवसंस्कृति के महान् संदेशवाहक अपने-अपने आचरण से जन-जन को प्रेरणा प्रशिक्षण देते सारे भूमंडल पर विचरते रहे हैं। वे मनुष्यों को ही नहीं, प्राणिमात्र को ही आत्मवत् अनुभव करते रहे हैं, क्योंकि उनकी मनःस्थिति ही ऐसी थी। इस प्रचंड आत्मीयभाव के आधार पर ही सारे विश्व को एक कुटुंब के रूप में विकसित करने का उनका उद्घोष सफल होता जा रहा है ॥ ७८-८० ॥

वसुधैव कुटुंबकम् की भावना से प्रेरित होकर बहुजन हिताय की दृष्टि से यहाँ के निवासी समय-समय पर देश की सीमाओं को लाँघते हुए अपने ज्ञान-विज्ञान की संपत्ति को उन्मुक्त हाथों से बाँटने के लिए दूसरे देशों में भी पहुँचते रहे हैं। तब आज जैसे यातायात के सुविकसित साधन भी न थे। दुर्गम पहाड़ों, नदियों, रेगिस्तान, बीहड़ों की कष्टसाध्य यात्राएँ उनको पावन मनोरथ से डिगा नहीं पाती थी। वृहत्तर भारत की नींव उनके इन दुस्साहसी प्रयत्नों से ही पड़ी। कुमारजीव, कश्यप, मतंग, बुद्धयश तथा गुणवर्मन आदि बौद्ध भिक्षुओं ने प्राणों को हथेली पर रखकर पैदल चीन की यात्राएँ कीं। उनके भाषणों, उपदेशों से वहाँ के मनीषी इतने अधिक प्रभावित हुए कि उस भूमि की चरणरज मस्तक पर लगाने चल पड़े जिसने अमृत तुल्य तत्वज्ञान को जन्म दिया। फाह्यान, ह्वेनसांग, इत्सिंग आदि चीनी विद्वान भारत आए तथा वर्षों तक अपनी ज्ञान पिपासा शांत करते रहे जो अपने देशवासियों में बाँटने वापिस लौटे। मंगोलिया, साईबेरिया, कोरिया आदि में भी भारतीय विद्वानों के पहुँचने तथा संस्कृति के प्रचार का उल्लेख मिलता है।

कलिंग युद्ध के बाद अशोक का हृदय परिवर्तन हुआ। प्रायश्चित्त के लिए बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर धर्म के लिए न केवल स्वयं कार्य करना आरंभ किया, वरन् अपने पुत्र पुत्री को भी वैसे ही अनुकरण के लिए प्रेरित किया। श्रीलंका में उसने अपने पुत्र महेंद्र और पुत्री संघमित्रा को प्रचारार्थ भेजा। गया से बोधिवृक्ष की एक शाखा लेकर उन्होंने लंका में आरोपित की। बौद्धधर्म के धार्मिक चिह्न, ग्रंथों एवं प्रासादों के रूप में जो लंका में दिखाई पड़ते हैं, वे महेंद्र संघमित्रा के प्रयासों के ही पुण्य प्रतिफल हैं। वर्मा का पुरातन नाम ब्रह्मदेश है, जिस पर भारतीय प्रभाव की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। बौद्ध भिक्षु यहाँ भी पहुँचे।

कंबोडिया, तीसरी से सातवीं शताब्दी तक हिंदू गणराज्य रहा। वहाँ के निवासियों का विश्वास है कि इस देश का नाम

भारत के ही एक ब्राह्मण ऋषि कौण्डिन्य के नाम पर पड़ा, जिसने यहाँ नाग कन्या से विवाह किया और अपना राज्य स्थापित किया। उनके बाद जयवर्मन, यशोवर्मन, सूर्यवर्मन आदि राजा हुए। यहाँ के प्रख्यात मंदिर हैं अंगकोर के। जिनकी दीवारों के पत्थरों पर रामायण के दृश्य खुदे हुए हैं। लाओस के कुछ मंदिरों में भी रामकथा के दृश्य देखे जा सकते हैं।

इंडोनेशिया यों तो वर्तमान मुस्लिम देश है। किंतु भारतीय संस्कृति की अमिट छाप इस पर आज भी है। इंडोनेशिया यूनानी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है भारतद्वीप। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि इसके द्वीप हैं। प्राचीनकाल में वे सभी भारत के अंग रहे थे। रक्त एवं संस्कृति दोनों ही दृष्टियों से वहाँ के निवासी भारतीयों से अविच्छिन्न रूप से जुड़े हैं। जावा के लोगों में विश्वास है कि भारत के पाराशर तथा व्यास ऋषि वहाँ गए थे तथा बस्तियाँ बसाई थीं। सैलेंड राजवंश द्वारा बरोबुदुर जैसे मंदिर वहाँ बनवाए गए, जिसमें बुद्ध की ४३२ मूर्तियाँ हैं। उन मूर्तियों पर गुप्तकला की भी स्पष्ट छाप है। मंदिर का बौद्ध स्तूप कलाकृति एवं सौंदर्य की दृष्टि से संसार भर में सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। जावा के जोग, जकार्ता की रामलीला एवं नाटक संसार भर में प्रसिद्ध हैं। वे मूलतः राम कथानक पर आधारित होते हैं। मंदिर की प्रस्तर भित्तियों पर संपूर्ण रामकथा का चित्रण किया गया है। सुमात्रा में हिंदू राज्य की स्थापना तथा भारतीय संस्कृति का विस्तार चौथी शताब्दी में हुआ। प्लेमवंग नामक स्थान कभी सुमात्रा की राजधानी था जहाँ भारतीय धर्म संस्कृति एवं अध्यात्म विषयों का शिक्षण होता था। पाली एवं संस्कृत भाषा यहाँ पढ़ाई जाती थी। इंडोनेशिया के वाली द्वीप के विषय में चीनी कहते हैं कि चौथी शताब्दी में कौण्डिन्यवंशी भारतीय राजा ने हिंदू राज्य की स्थापना की थी, जो दसवीं शताब्दी तक कायम रहा। बाद में वह हालैंड के अधीन आ गया।

बोर्नियो द्वीप सबसे बड़ा है। यहाँ हिंदू राज्य की स्थापना पहली सदी में हो गई थी। शिव, अगस्त्य, गणेश, ब्रह्मा, स्कंद आदि ऋषियों एवं देवताओं की मूर्तियाँ यहाँ प्राप्त हुई तथा कितने ही पुरातन हिंदू मंदिर आज भी मौजूद हैं, जो यह बताते हैं कि यह द्वीप भारतीय संस्कृति का गढ़ रह चुका है।

इतिहासकारों का मत है कि थाईलैंड का पुराना नाम स्याम देश था। तीसरी शताब्दी में वह भारत का उपनिवेश बना तथा बारहवीं शताब्दी तक भारत के आधीन रहा। स्याम की सभ्यता भारतीय संस्कृति से पूरी तरह अनुप्राणित है। उसकी लिपि का उद्गम पाली भाषा में हुआ है, जो भारत की देन है। उनके रीति-रिवाजों में भारतीय जैसा साम्य दिखाई पड़ता है। दशहरा जैसे पर्व धूमधाम से मनाए जाते हैं। थाई

जीवन में राम एवं रामायण के कथानक की गहराई तक जड़ें जगी हुई हैं। अष्टमी, पूर्णिमा, अमावस्या आदि पर्वों पर भारत की तरह वहाँ भी छुट्टियाँ रहती हैं। थाई रामायण का नाम रामकियेन है, जिसका अर्थ होता है रामकीर्ति। थाईलैंड में अयोध्या और लोषपुरी जैसी नगरियाँ हैं।

तिब्बती साहित्य पर बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव है। वहाँ के राजा सांगचन गंपो ने भारतीय लिपि के आधार पर तिब्बत की वर्णमाला का आविष्कार किया, नालंदा के आचार्य शांतरक्षित

ने सन् ७४७ में तिब्बत पहुँच कर समये नामक पहला बिहार बनवाया। तत्पश्चात् काश्मीर के भिक्षुक पद्मसंभव के प्रयत्नों से वहाँ महायान की तान्त्रिक शाखा का प्रचार हुआ। लामावाद की उत्पत्ति उसी से हुई।

ऐसे अगणित प्रमाण संसार के विभिन्न देशों में बिखरे पड़े हैं, जो यह बताते हैं कि भारत समय-समय पर अपने भौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान सागर से इस वसुधा को अभिसिंचित करता रहा है।

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते देवसंस्कृतिजिज्ञासा इति प्रकरणो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

वर्णाश्रम-धर्म प्रकरण

द्वितीये दिवसे चाद्य सत्रस्यास्यास्तु संस्कृतेः।

उत्साहः संगतानां स संतोषः श्लाघ्यतां गतौ ॥ १ ॥

द्वितीयस्थ दिनस्याथ सत्रं शिक्षणदं शुभम्।

प्रारब्धं बोधयन् सर्वान् विदुषोऽध्यक्ष आलपत् ॥ २ ॥

टीका—आज संस्कृति सत्र का दूसरा दिन सम्मिलित होने वालों का उत्साह और संतोष देखते बनता था। दूसरे दिन का सत्र शिक्षण आरंभ हुआ। सभी विद्वानों को संबोधित करते हुए सभाध्यक्ष कात्यायन बोले ॥ १-२ ॥

कात्यायन उवाच

धर्मलग्नाः साधका हे भारतोत्पन्नसंस्कृतेः।

विद्यते मेरुदंडस्तु धर्मो वर्णाश्रमानुगः ॥ ३ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चेति चतुर्विधः।

वर्णोऽस्ति संति चत्वार आश्रमाः क्रमशस्त्वमे ॥ ४ ॥

ब्रह्मचर्यं गृहस्थो स वानप्रस्थोऽथ शोभनः।

संन्यासश्चेति सर्वेऽपि परस्परगता इव ॥ ५ ॥

विभाजनमिदं देवसंस्कृतेरनुयायिभिः।

स्वीकार्यं स महत्त्वं च विचार्यमपि संततम् ॥ ६ ॥

अस्योपयोगितायां तु सगांभीर्यं च गौरवे।

अद्य मुख्यश्च जिज्ञासुरभूदारण्यको मुनिः ॥ ७ ॥

विशेषेण तमेवाथ संबोद्धाध्यक्ष उक्तवान्।

कात्यायनो महर्षिस्तु ज्वलन् स ब्रह्मतेजसा ॥ ८ ॥

गुणकर्मस्वभावानामाधारेण विभाजनम्।

वर्णानां भवति प्रायो जन्मना न महत्त्वगम् ॥ ९ ॥

कर्मकौशलं चैतन्मतव्यः जन्मनैव चेत्।

मन्यते कर्म नैव चेद् वंध्यवृक्ष इव स्मृतः ॥ १० ॥

महत्त्वेनाभियोज्याश्च सर्वे चत्वार एव तु।

कर्तुं नियोजितामत्र व्यवस्थां तु समाजगम् ॥ ११ ॥

श्रेयः सम्मानमप्येते लभन्तां वर्णसंगताः।

पुरुषा अत्र नो ग्राह्यो भावोऽयमुच्चनीचयोः ॥ १२ ॥

टीका—कात्यायन बोले हे धर्म परायण सद्ज्ञान साधको भारतीय संस्कृति का मेरुदंड वर्णाश्रम धर्म है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र यह चार वर्ण हैं और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास यह चार आश्रम, जो परस्पर क्रमबद्ध हैं। देवसंस्कृति के अनुयायियों को, इस विभाजन को समुचित महत्व देना चाहिए और उनकी उपयोगिता-आवश्यकता एवं गरिमा पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। आज के प्रमुख जिज्ञासु मुनिवर आरण्यक थे, उन्हीं को विशेष रूप से संबोधित कर ब्रह्मतेज से दुर्धर्ष सत्राध्यक्ष कात्यायन ने कहा वर्णों का विभाजन गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर होता है। यह वर्गीकरण जन्मजात रूप में महत्वपूर्ण नहीं है। इन्हें कर्म-कौशल के अनुरूप समझा जाना चाहिए। यदि जन्म से किसी वर्ण में है, पर कर्म तदनुकूल नहीं है, तो वह बाँझ-वृक्ष के समान है। समाज-व्यवस्था को सुनियोजित रखने के लिए इन चारों को की महत्व मिलना चाहिए। इन सभी वर्णों के लोगों को समान-श्रेय सम्मान मिलना चाहिए। इनमें छोटे बड़े या ऊँच-नीच जैसे भेद-भाव नहीं बरतने चाहिए ॥ ३-१२ ॥

देवसंस्कृति को अनायास ही सर्वश्रेष्ठ होने का सुयोग नहीं मिला। इसके अंतर्गत हुए समाजपरक सभी निर्धारण ब्रह्मवर्चस् संपन्न दूरद्रष्टा ऋषियों की अन्वेषण बुद्धि के परिणाम हैं। ऋषिगणों ने वर्ण एवं आश्रम के रूप में समुदाय एवं वैयक्तिक जीवन का चार वर्गों में विभाजन किया है, वह सर्वकालीन, सार्वभौम एवं हर परिस्थितियों में सत्य की कसौटी

४.१० प्रज्ञोपनिषद्

पर उतरने वाला है। सुव्यवस्थित समाज, जिसमें सभी के लिए उनके कर्मों के अनुरूप उत्तरदायित्वों का निर्धारण किया गया हो, सांस्कृतिक सुदृढ़ता एवं एकता के लिए उत्तरदायी है। यह पूर्व निर्धारित सुनियोजन देवसंस्कृति की ही विशेषता है। एवं इसी कारण यह मानवी गरिमा की ज्ञान-गंगा आदि काल से प्रवाहित होती चली आई है।

भारतीय धर्म को वर्णाश्रम धर्म कहा गया है। चार वर्णों से तात्पर्य है क्रिया-कलापों में उच्चस्तरीय प्रयोजनों के लिए निर्धारण। चार आश्रमों से तात्पर्य है, आयुष्य का भौतिक एवं आत्मिक उद्देश्यों के लिए सुनियोजन। यह विभाजन बड़ा ही वैज्ञानिक, प्रगतिशील और उपयोगी रहा है। चार वर्णों में विभाजित ऋषि कालीन समुदाय एक आर्य जाति के सूत्र में आबद्ध था। सब आर्य थे और सबको समान अधिकार मिले हुए थे। यदि यह विभाजन ऊँच-नीच अथवा छोटे-बड़े के आधार पर हुआ होता, तो संभवतः समाज का कोई भी सदस्य इसे मानने को तैयार न होता। यदि जोर-जबरदस्ती के आधार पर किया गया होता, तो संभवतः विद्रोह पनप उठता एवं भयानक गृहयुद्ध होता। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए महर्षि कात्यायन यहाँ समझाते हैं कि ऋषियों द्वारा स्थापित इस विज्ञान सम्मत वर्ण व्यवस्था का निर्धारण बड़ा सोच-समझकर सर्वसम्मत से हुआ था। इस सर्वसम्मत विधान को सारा समाज शिरोधार्य करता हुआ अपना कर्तव्य करता चला आया। वस्तुतः संस्कृति की यह सर्वश्रेष्ठ अवधारणा वर्ण-व्यवस्था सामाजिक विघटन का कारण नहीं है। इसका कारण तो वे विकृतियाँ हैं, जो वे कालांतर में उपद्रवों, आक्रमणों एवं सामाजिक अस्त-व्यस्तता के कारण उत्पन्न हो गई एवं मध्यकाल में निवारण हेतु जिनके लिए नहीं के बराबर प्रयास हुए।

आदिकालीन भारतवर्ष में आर्यों की अपेक्षा अनार्यों की संख्या अधिक रही है जहाँ आर्य सृजनात्मक विचारधारा के अनुरूप कर्म करते हुए सभ्य, सुसंस्कृत विकासोन्मुख व उन्नत समाज का निर्माण करते हुए एक स्थायित्व लाने का प्रयास करते थे, वहाँ लूटमार करके अपनी आजीविका चलाने वाले अनार्य आए दिन उन पर आक्रमण कर दिया करते थे। उनका सामना करने हेतु सारे आर्य समुदाय को निर्माण कार्य छोड़कर युद्ध में लग जाना पड़ता था और इस प्रकार सभी बनी-बनाई व्यवस्था बिगड़ जाती थी। फिर नए सिरे से काम शुरू करना पड़ता था। खेत उजड़ जाते थे, शिल्प नष्ट हो जाते थे और योजनाएँ बिगड़ जाती थीं। साथ ही सैकड़ों महान मस्तिष्क कटकर रणभूमि में गिर जाते थे, जिससे इनमें चल रही विकास की विचारधाराएँ जहाँ की तहाँ समाप्त हो जाती थीं। इस प्रकार आए दिन बड़ी-बड़ी हानियाँ होती

रहती थीं। जितना आगे बढ़ पाते थे, उतना ही पीछे हट जाना पड़ता था।

निदान अनार्यों की इस बर्बरता से परेशान होकर समाज के मनीषी महात्माओं ने गहराई से विचार कर इस समस्या का कोई स्थायी हल निकालने का निश्चय किया।

अस्तु उन्होंने विचार किया और समाज को चार वर्णों के नाम से चार वर्गों में विभक्त कर दिया। एक वर्ग में उन्होंने वे व्यक्ति रखे, जो चिंतनशील स्वभाव के थे और अध्ययन एवं अध्यापन, समाजसेवा एवं लोक नेतृत्व में जिनकी रुचि सर्वोपरि थी। इस वर्ग को उन्होंने ब्राह्मण कहा। दूसरे वर्ग में वे लोग लिए गए, जो स्वभाव से दुर्धर्ष और साहसी थे। शरीर से अपेक्षाकृत दृष्ट-पुष्ट और संग्राम कार्य में जिनकी रुचि सर्वोपरि थी। इनको क्षत्रिय कहा गया। तीसरे वर्ग में वे शामिल किए गए, जो स्वभाव से उत्पादक, संगठनकर्ता, मितव्ययी, शांत और सहिष्णु थे। कृषि एवं वाणिज्य व्यवसाय में वैश्य बताया गया। चौथे वर्ग में उन सब लोगों को रखा गया, जो अविशेष स्वभाव, साधारण रुचि और सामान्य शिल्प के थे और जो उपर्युक्त तीनों में से किसी में भी समस्थ न हो सकते थे, इनको शूद्र की संज्ञा दी गई।

यह समग्र विभाजन गुण, कर्म, स्वभाव के अनुरूप हुआ। जन्म से तो सभी शूद्र अर्थात् अनगढ़ होते हैं। बड़े होने पर उनकी भावना एवं निर्धारण के अनुरूप वर्ण एवं आश्रम का निर्धारण होता है। जन्म से किसी भी वर्ण में हो, पर यदि कर्म उस निर्धारण के प्रतिकूल है, तो उस व्यक्ति का कार्य के अनुरूप ही मूल्यांकन होगा। संस्कार ही वर्ण निर्धारण करते हैं।

विडंबना यह है कि आज मात्र वैश्य वर्ण और गृहस्थाश्रम की प्रमुखता है। शेष वर्ण और आश्रम तो विस्मृति के गर्त में चले गए। आवरण धारण कर लिए जाते हैं, पर उनके साथ जुड़े कर्तव्यों की ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। वर्ण के तो वंश साथ जुड़ गए एवं आश्रम धर्म लुप्त हो गया।

जैसा स्पष्ट है, लोकशिक्षण में संलग्न समुदाय को ब्राह्मण कुकर्मों के कुप्रचलनों के विरुद्ध जूझने वालों को क्षत्रिय उपार्जन का दायित्व सँभालने एवं समाज को भौतिक दृष्टि से सुसंपन्न बनाने वालों को वैश्य और श्रमिक समुदाय को शूद्र कहा गया है। इन चारों का ही समान महत्व और समान गौरव-सम्मान है।

जब सौ वर्ष की आयु थी, तब २५ वर्ष ब्रह्मचर्य और २५ वर्ष गृहस्थ में लगते थे। यह पूर्वार्द्ध निजी जीवन था। उत्तरार्द्ध में २५ वर्ष वानप्रस्थ परिव्राजक बनकर और २५ वर्ष स्थान विशेष पर आश्रम संचालन में लगते थे। यह संन्यास था। जो इनकी मर्यादाओं का पालन करे, उसी का

वर्णाश्रम धर्म पालन सच्चा है। वंश के आधार पर, वर्ण और वेष के आधार पर आश्रम की कल्पना सर्वथा अवास्तविक है।

वाल्मीकि नीच कुल में उत्पन्न होने पर भी महान ऋषि कहलाए और रावण कुंभकरण आदि ब्राह्मण परिवार में जन्मने पर भी नीच कहलाए व तिरस्कृत हुए। इन दिनों जन्म से वर्ण बनाने का और विशेषतया एक दूसरे को नीच-ऊँच मानने का प्रचलन सर्वथा अनुपयुक्त है। यह मध्यकालीन सामंतवादी अंधकार युग के प्रचलन हैं, जिसमें समर्थों को सम्मानित और असमर्थों को अपमानित किया जाने लगा ही। स्त्री और शूद्र, प्रतिशोध लेने की क्षमता न होने से नीच माने गए। यह प्रचलन समाज के नाम पर कलंक है एवं संस्कृति के स्वरूप को मलीन करने वाला। समय की माँग है, कि इसे उलटा जाए एवं पुनः उस शाश्वत-जाज्वल्यमान स्वरूप को सामने लाया जाए।

आश्रमोऽस्ति विभागः स जीवनक्रमगो ध्रुवम्।
अस्य स्वीकरणाद्व्यक्तिः सुखं याति समुन्नतिम् ॥ १३ ॥
समाजश्चापि नो रुद्धो जायते प्रगतिक्रमः।
सदा सन्तुलनं चात्र तिष्ठत्येव निरंतरम् ॥ १४ ॥
आत्मिक्याः प्रगतेस्तत्र भौतिक्याश्चाप्यपावृतम्।
द्वारं तिष्ठति संभक्ता चतुर्धा जीवनावधिः ॥ १५ ॥
एते चत्वार आख्याता आश्रमा यत्र च क्रमात्।
शक्तिविद्यासु संस्कारोपार्जनं प्रथमं भवेत् ॥ १६ ॥
ब्रह्मचर्यं इति ख्यातः संयमो यत्र पूर्णतः।
मात्रं कामपरित्यागं ब्रह्मचर्यं वदन्ति न ॥ १७ ॥

टीका—आश्रम जीवन क्रम का विभाजन है। इसे अपनाने से व्यक्ति सुखी और समाज समुन्नत रहता है। प्रगति क्रम रुकने नहीं पाता। संतुलन बना रहता है। भौतिक और आत्मिक प्रगति के दोनों ही द्वार खुले रहते हैं। जीवन अवधि को, चार भागों में विभाजित किया है। यही चार आश्रम हैं। प्रथम चरण में बलिष्ठता, विद्या और सुसंस्कारिता का उपार्जन होना चाहिए। यही ब्रह्मचर्य है, मात्र कामसेवन न करने को ही ब्रह्मचर्य नहीं कहते ॥ १३-१७ ॥

दूरदर्शी ऋषियों ने चार आश्रमों में जीवन को पूर्वाद्ध-उत्तराद्ध में बाँटा है। आयुष्य के पूर्वाद्ध में समर्थता एवं समृद्धि को बढ़ाने के लिए ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ, इन दो आश्रमों का प्रावधान है। उत्तराद्ध में वानप्रस्थ एवं संन्यास ये दो आश्रम आते हैं। इसमें भावना क्षेत्र को अधिक उत्कृष्ट बनाने तथा समय और श्रम को लोकमंगल में नियोजित रखने के लिए परंपरा बनाई गई है। जीवन को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए देव संस्कृति के ये निर्धारण बड़े महत्वपूर्ण मानने चाहिए। लौकिक प्रगति एवं आत्मिक उत्कर्ष दोनों ही प्रयोजन इस विभाजन से

पूरे होते हैं। यह विशेषता हमें कहीं देखने को नहीं मिलती।

गृहस्थश्चापरो पादो मात्रमुद्गाह एव न।
गृहस्थः प्रोच्यतेऽप्यत्र संस्था तु परिवारगा ॥ १८ ॥
समर्था सफला चापि क्रियते चेत्तदैव तु।
गृहस्थः प्रोच्यते यत्र वर्गे निर्वाह आदृतः ॥ १९ ॥
स एव परिवारश्च सदस्यास्तत्र दुर्बलाः।
पोष्यास्तु सबला ये च विधातव्यास्तु ते स्वयम् ॥ २० ॥
स्वावलंबिन एवं च संस्कारपरिसंस्कृताः।
सहकारगताश्चापि, विद्यालय इहोच्यते ॥ २१ ॥
परिवारस्य संस्थाया अस्योद्देश्यतया मता।
समुन्नतिस्तथा चैषा भावना विकसिता भवेत् ॥ २२ ॥
वसुधैव कुटुंबस्य भावनायां निरंतरम्।
समाजरचनायाश्च साऽऽधारत्वेन सम्मता ॥ २३ ॥
पारिवारिकतैवैषा या विकास्या च सर्वतः।
प्रत्येकं मनुजस्तिष्ठेत्सदस्यत्वेन सम्मतः ॥ २४ ॥
विश्वव्यापिकुटुंबस्य स्वं च मन्येत स स्वतः।
संपूर्णस्य समाजस्याविच्छिन्नं चांगमुत्तमम् ॥ २५ ॥

टीका—दूसरा चरण गृहस्थ है। गृहस्थ धर्म के पालन का अर्थ केवल विवाह करना नहीं, परिवार संस्था को समर्थ और सफल बनाना है। जिस समुदाय के बीच निर्वाह चलता है, वह परिवार है। परिवार के असमर्थ सदस्यों का भरण-पोषण और समर्थ सदस्यों को स्वावलंबी, सुसंस्कारी एवं सहकारी बनाने की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। परिवार को सुसंस्कारिता की पाठशाला माना गया है। उसका उद्देश्य परिवार संस्था को समुन्नत बनाना है। यह पारिवारिकता वसुधैव कुटुंबकम् की भावना में विकसित होनी चाहिए। समाज संरचना का आधारभूत उद्देश्य पारिवारिकता ही है। इसे हर क्षेत्र में विकसित होना चाहिए। हर व्यक्ति विश्व-परिवार बन कर रहे। अपने को पूरे समाज का एक अविच्छिन्न अंग माने ॥ १८-२५ ॥

ऋषियों द्वारा निर्धारित विद्या एवं बल संपादन हेतु नियोजित ब्रह्मचर्य की अवधि के पश्चात् व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। यह मात्र दो कार्याओं का गठबंधन ही नहीं, सुसंस्कारिता उपार्जन की प्रयोगशाला भी है, जिसमें सभी पारिवारिक जनों के साथ रहते हुए सहकारिता, अध्यवसाय एवं आत्मावलंबन का प्रशिक्षण लिया जाता है। वस्तुतः परिवार समस्त मानव समुदाय के रूप में फैले स्रष्टा के वृहत परिवार की एक छोटी इकाई है। हर मनुष्य मात्र अपने परिवार तक ही सीमित न रहकर चिंतन को वृहत् विस्तार दे एवं विराट् विश्व को अपना कार्यक्षेत्र माने, पारिवारिक भावना का विस्तार कर इस उद्यान को समुन्नत बनाए, ऐसी ऋषिगणों की इच्छा रही है। गुरुकुल से लेकर संयुक्त कुटुंब तक में इसी भावना

४.१२ प्रज्ञोपनिषद्

के विकास का प्रावधान है। इसी कारण परिवार संस्था को सम्मानित किया गया है।

गृहस्थ-धर्म अन्य सभी धर्मों से अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। महर्षि व्यास के शब्दों में गृहस्थ्येव हि धर्माणां सर्वेषां मूलमुच्यते गृहस्थाश्रम ही सर्व धर्मों का आधार है। धन्यो गृहस्थाश्रमः चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम धन्य है। जिस तरह समस्त प्राणी माता का आश्रय पाकर जीवित रहते हैं, उसी तरह सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर आधारित हैं।

श्रीराम को गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता बताते हुए चित्रकूट में भरत जी कहते हैं

धर्मेण चतुरो वर्णान्यालयन् क्लेशमाप्नुहि।

चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमाश्रमम्॥

धर्मानुसार ब्राह्मणादि चारों वर्णों के पालन करने का कष्ट आप स्वीकार कीजिए, क्योंकि हे धर्मज्ञ चारों आश्रमों में गृहस्थ आश्रम ही धर्मज्ञशील लोग सर्वोत्तम बतलाते हैं।

यौवने योजनास्याच्च भौतिकोत्पादनस्य सा।

प्रगतेश्चापिस्वस्थाऽस्ति स्वावलंबनसंस्थितेः ॥ २६ ॥

सार्वभौमसमृद्धेश्च समयः शुभ एष तु।

उपयोगिश्रमासक्तैः समृद्धयै भाव्यमेव च ॥ २७ ॥

प्रयासोऽयं गृहस्थस्य धर्मस्यैवांगतां गतः।

जीवनस्यार्धमस्येतद् भौतिकेभ्यस्तु निश्चितम् ॥ २८ ॥

प्रयोजनेभ्य एवापि स्वार्थपारार्थहेतवे।

ब्रह्मचर्ये गृहस्थे च परेषामात्मनस्तथा ॥ २९ ॥

शारीरिक्यास्तथा तस्या मानसिक्या अपि त्विह।

सामाजिक्यास्तथाऽऽर्थिक्याः समृद्धिः क्रियतेऽभितः ॥ ३० ॥

निश्चितं शेषमर्थं च परमार्थस्य वृद्धये।

भावनायाश्चरित्रस्य सत्प्रवृत्तेश्च वृद्धये ॥ ३१ ॥

टीका—युवावस्था में भौतिक उत्पादन और प्रगति की योजना सामने रहनी चाहिए। अपने स्वावलंबन और सार्वजनिक समृद्धि के संवर्द्धन का ठीक यही समय है। उपयोगी श्रम में संलग्न रहकर व्यापक समृद्धि के लिए प्रयत्नरत होना चाहिए। यह प्रयास गृहस्थ धर्म का ही अंग है। आधा जीवन भौतिक प्रयोजनों के लिए और स्वार्थ-परमार्थ प्रयोजनों के लिए निर्धारित है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ में अपनों तथा अन्यान्यों को शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक समृद्धि का सर्वतोन्मुखी संवर्द्धन किया जाता है। शेष आधे जीवन को पारमार्थिक, भावनात्मक, चारित्रिक एवं सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के लिए नियोजित रखा जाता है ॥ २६-३१ ॥

जहाँ गृहस्थाश्रम में व्यक्ति युवा व बल संपन्न होने के कारण स्वयं परिवार एवं समस्त समुदाय की समृद्धि बढ़ाने का प्रयास करता है, वहाँ अंतिम दो आश्रमों, वानप्रस्थ व संन्यास में सारी क्षमताएँ दूसरों को ऊँचा उठाने, उनका

भावनात्मक उत्कर्ष करने हेतु नियोजित कर दी जाती है। आयुष्य के पूर्वाद्ध को मूलतः बहिरंग के विकास हेतु, बल-सामर्थ्य, वैभव उपार्जन की पाठशाला माना जा सकता है, तो उत्तराद्ध को समुदाय के गुण, कर्म स्वभाव की परिष्कृत हेतु समाज में सत्प्रवृत्तियों के विस्तार हेतु नियोजित एक कर्मशाला कहा जा सकता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य-गृहस्थ एवं वानप्रस्थ संन्यास का सुविभाजित कार्यक्षेत्र है। कहीं किसी भी प्रकार व्यक्ति के समग्र-विकास जीवन व्यवस्था की उपेक्षा-अवहेलना इससे नहीं होती और न सुव्यवस्थित निर्धारण के कारण कर्तव्य संपादन में कोई कठिनाई ही आती।

वस्तुतः आश्रम व्यवस्था समाज सेवा का उत्कृष्ट आदर्श है। ब्रह्मचर्य द्वारा शारीरिक शक्तियों का जागरण करना और उसे समाज को समर्पित कर देना। गृहस्थ में परिवार का पालन-पोषण भी उसी का एक रूप है। वानप्रस्थ उस क्षेत्र से भी आगे बढ़कर विश्व परिवार में आत्माहुति है। यह त्याग शनैः शनैः बढ़ता हुआ आत्म कल्याण की अंतिम भूमिका संन्यास तक पहुँचता है।

देवसंस्कृतिरेतस्मै वानप्रस्थाश्रमस्य च।

संन्यासस्य व्यधात्पूर्णा व्यवस्थां सुदृढामिह ॥ ३२ ॥

जनसंपर्कमाकर्तुमन्यान् वा रचनात्मकान्।

कार्यक्रमांश्च जागृत्यै सामर्थ्ये तु शरीरगे ॥ ३३ ॥

वानप्रस्थक्रमः सोऽयं निर्वोदुं शक्यते जनैः।

क्षीणायां वपुषः शक्तौ संन्यासी तु कुटीचरः ॥ ३४ ॥

एकदेशस्थितो दद्यात् साधनाया अथापि च।

प्रेरणां शिक्षणस्यात्र पुण्यां हितहितां सदा ॥ ३५ ॥

टीका—देव संस्कृति ने इसके लिए वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की सुदृढ़ अपने में पूर्ण व्यवस्था बनाई है। जन-जागरण के लिए जन संपर्क एवं रचनात्मक कार्यक्रम संचालन योग्य शारीरिक सामर्थ्य रहते वानप्रस्थ क्रम निभाया जाना चाहिए। शारीरिक शक्ति क्षीण होने पर कुटीचर संन्यासी के रूप में एक स्थान पर रहकर पुण्यदायी, लोकहितैणी साधना, शिक्षण एवं प्रेरणा संचार का काम सँभालना चाहिए ॥ ३२-३५ ॥

गृहस्थस्य विरक्तस्य वानप्रस्थस्य मध्यगः।

वानप्रस्थसुसंस्कारान् स्वीकुर्वन्निवसेत्त्वचित् ॥ ३६ ॥

आरण्यके यथाकालं कर्तव्यानि निजानि च।

निर्वोदुमनुगन्त्रीं च शिक्षामासादयेन्नरः ॥ ३७ ॥

साऽधुनाऽपि तथा कार्या कार्यं यच्च महत्त्वगम्।

कर्तुं हस्तगतं तच्च पूर्वमावश्यकं ततः ॥ ३८ ॥

अनुभवं शुभमभ्यासं कुर्याद्विदमुच्यते।

वानप्रस्थस्य दीक्षायाः शुभारंभस्वरूपकम् ॥ ३९ ॥

वानप्रस्थाश्च स्वस्यास्य क्षेत्रस्य परिधेर्बहिः।

दूरक्षेत्रेषु गत्वा ते सेवन्ते जनतां सदा ॥ ४० ॥

टीका—गृहस्थ और विरक्त-वानप्रस्थ के मध्यांतर में वानप्रस्थ संस्कार संपन्न करते हुए कुछ समय किसी उपयुक्त आरण्यक में रहकर अपने नए कर्तव्य-उत्तरदायित्व के निर्वाह में सहायक हो सकने वाली शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए तथा साधना करनी चाहिए। हर महत्वपूर्ण कार्य को हाथ में लेने से पूर्व उसके लिए आवश्यक अनुभव एवं अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। यही वानप्रस्थ की दीक्षा का शुभारंभ स्वरूप है। वानप्रस्थ अपने परिचित क्षेत्र की परिधि से बाहर निकलकर दूर क्षेत्रों में सेवारत रहते हैं ॥ ३६-४० ॥

परमार्थ प्रयोजन के निमित्त, जनमानस का भावनात्मक परिष्कार करने के लिए देव संस्कृति की बड़ी ही सुंदर वानप्रस्थ एवं संन्यास के रूप में आश्रम व्यवस्था है, जो आयुष्य के उत्तर काल में संपन्न होती है। पूर्वाद्ध में अर्जित विद्या, संचित अनुभवों की संपदा से विभूषित व्यक्ति का यथाशक्ति, सर्वश्रेष्ठ लाभ समाज को मिले, इस व्यवस्था के मूल में यही तत्त्व दर्शन है। जब तक शरीर साथ दे, तब तक निरंतर समाज परिकर में भ्रमण करते हुए जनजागृति का अलख जगाया जाए, श्रेष्ठता का पक्षधर वातावरण बनाया जाए। जब शरीर बल क्षीण हो जाता है, वार्द्धक्य के कारण शक्ति उतनी नहीं रहती, तब संन्यास आश्रम ग्रहण कर किसी स्थान विशेष, आरण्यक, संस्कारित तीर्थ पर स्थिर हो आत्म परिष्कार, उन्नयन की साधना, जनमानस के परिष्कार हेतु लोकशिक्षण एवं धर्मधारणा के प्रसार-विस्तार का पुण्य कार्य संपन्न किया जाए। यही ऋषिगणों द्वारा निर्धारित व्यवस्था है, जो आदिकाल से चली आ रही है।

वानप्रस्थ हेतु ऋषि आदेश देते हैं कि गृहस्थाश्रम के दायित्वों से निवृत्ति के तुरंत बाद स्वयं को इस पुण्य-प्रयोजन हेतु दीक्षित करना चाहिए। यह कार्य तीर्थ क्षेत्र, श्रेष्ठ संतों अथवा आरण्यकों में रहकर उनके मार्गदर्शन में संपन्न हो सकता है। हर कार्य के लिए समुचित शिक्षण अनिवार्य है। बिना शिक्षण के न तो कोई चिकित्सक बन सकता है, न ही अध्यापक। जब समाज रूपी विराट् तंत्र का लोकशिक्षण करना हो, तो इस विधा में प्रशिक्षित होना जरूरी है। तदुपरांत कार्यक्षेत्र में निकला जाए, यह अपने परिचित संपर्क के क्षेत्र से अलग हो। इससे नयों के संपर्क में आने का अवसर मिलता है, झिझक खुलती है एवं पुराना परिकर न होने के कारण किसी प्रकार का पूर्वाग्रह नहीं रहता।

आध्यात्मिक और पारमार्थिक गतिविधियाँ अपनाकर जीवन के उत्तरार्द्ध को इतना मृदुल और सरस बनाया जा सकता है, मानो नवीन जन्म ग्रहण किया गया है। जिस प्रयोजन के लिए यह शरीर मिला है मानव जन्म का जो परम

लक्ष्य है, वह पूर्वाद्ध में यत्किञ्चित् ही पूरा हो पाता है। अधिक उत्तम सुअवसर तो उत्तरार्द्ध में ही मिलता है। मानसिक उभार उतर जाने और परिवार का भार हलका हो जाने से मन भी अच्छी तरह लगता है और चित्त के डाँवाडोल होने की लुढ़कने फिसलने की आशंका भी कम रहती है। मरण का दिन समीप आता देखकर परमार्थ की पुण्य पूँजी संग्रह करने के लिए अगले जन्म में ऊँची स्थिति पाने के लिए उत्कंठा जाग्रत होती है और अधिक गंभीरतापूर्वक दिव्य जीवन की उन गतिविधियों को अपनाया जा सकता है, जो चढ़ती उम्र में प्रायः अरुचिकर और कठिन लगती थीं।

ब्रह्मविद्या की तत्त्वदर्शन ज्ञान-साधना-योगाभ्यास की तप-साधना-लोकमंगल की सेवा-साधना, यह तीनों अमृतमयी देवसरिताएँ मिलकर गंगा-यमुना-सरस्वती के मिलन, संगम का प्रयोजन पूरा करती है और तीर्थराज प्रयाग जैसी त्रिवेणी इस जीवन में प्रादुर्भूत होती है। यह अभिनव आनंद अपने ढंग का अनोखा है और ऐसा है, जिससे बालकपन, किशोरावस्था और यौवन में जो अर्जित किया गया था, उससे कम नहीं, वरन् अधिक ही आनंदमयी विभूतियाँ उपलब्ध हो सकती हैं होती हैं। संपदाओं से विभूतियों का स्तर हल्का नहीं, भारी ही है। इसलिए पूर्वाद्ध में जो उपार्जित किया गया था, उसकी तुलना में उत्तरार्द्ध की कमाई का मूल्य भी अधिक ही आता है। ऐसी दशा में परमार्थ परायण उत्तरार्द्ध में प्रवेश करने वाले को बाल्यकाल और यौवन के चले जाने का पश्चाताप नहीं करना पड़ता, वरन् यही अनुभव होता है कि वह अल्हड़पन चला गया सो, अच्छा ही हुआ, यह ढलती आयु ऐसे अनुदान-वरदान लेकर आई है, जिनका इस गधा पच्चीसी के दिनों मिल ही सकना कठिन है। ऐसे चिंतन के रहते किसी को पूर्वाद्ध के बीत जाने से दुःखी होने, पछताने की जरूरत नहीं पड़ती, वरन् यह अधिक महत्वपूर्णा अवसर हाथ लगने का संतोष ही होता है।

जीवन उतना ही सार्थक है, जितना कि सदुद्देश्यों के लिए जिया जाता है।

कुर्वन्ते वानप्रस्थास्ते समाजे सर्वदैव तु।

सद्भावस्यज्ञानस्य वृद्धिमत्र निरंतरम् ॥ ४१ ॥

रचनात्मक - वृत्तीनामपि लोकहितात्मनाम्।

मूढानां मान्यतानां च वारणं तु कुरीतिभिः ॥ ४२ ॥

विद्यते युगधर्मोऽयं शाश्वती च परंपरा।

प्रत्येकस्मिन् युगे ग्राह्या जनैरेषा परंपरा ॥ ४३ ॥

टीका—वानप्रस्थ समाज में निरंतर सद्ज्ञान, सद्भाव एवं लोकोपकारी रचनात्मक सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने तथा कुप्रचलनों, मूढमान्यताओं आदि के निवारण का कार्य करते हैं। यह शाश्वत परंपरा भी है और युग धर्म भी। अतः प्रत्येक युग में

४.१४ प्रज्ञोपनिषद्

इस परंपरा का अनुसरण व्यक्तियों को करना चाहिए ॥ ४१-४३ ॥

आश्रमेषु चतुर्ष्वे वानप्रस्थो महत्त्वगः ।
लोकमंगलसिद्धिश्च जायते तत्र संभवा ॥ ४४ ॥
अस्मादेवाश्रमाद् योग्यसमर्थानां चमूरिव ।
लोकसेविनृणां वर्ग उदेत्यनुभवाऽधिकः ॥ ४५ ॥
सर्वेषां विदितं चैतल्लोकमंगलकार्मुकः ।
उदारहृदयो यश्च मनुजोऽनुभवी भवेत् ॥ ४६ ॥
आत्मकल्याणवद् विश्वकल्याणं कर्तुमुत्सहेत् ।
स एव निश्चितं नात्र विचिकित्सा मनागपि ॥ ४७ ॥
धनव्ययो न येषु स्याद् योग्यता-भावना-धिया ।
मूर्द्धन्या ये विनिर्मान्ति ते नरा लोकसेविनः ॥ ४८ ॥
देशं समाजमप्यत्र सम्पन्नं शक्तिसंयुतम् ।
तेषां यदा भवेदत्र न्यूनता तर्हि वर्धते ॥ ४९ ॥
अविकासस्थितिनूनं सर्वत्रैव महीतले ।
विश्वव्यवस्थितौ येषां दायित्वं विद्यते नृणाम् ॥ ५० ॥
पुरोधसां न शालीन्यन्यूनता स्याद् भुवीति तत् ।
वानप्रस्थे समुत्पन्नं परिपक्वं च जायते ॥ ५१ ॥

टीका—चारों आश्रमों में वानप्रस्थ सबसे महत्त्वपूर्ण है । उसी से लोकमंगल की साधना बन पड़ती है । लोकसेवियों की सुयोग्य और समर्थ सेना इसी आश्रम के भाण्डागार से निकलती है । सर्वविदित है कि अनुभवी उदारचेता और लोकमंगल की भावनाओं से ओत-प्रोत व्यक्ति ही आत्मकल्याण और विश्व कल्याण का उभयपक्षीय प्रयोजन पूरा कर पाते हैं, इसमें संदेह नहीं । जिन पर धन न खरच करना पड़े, जो योग्यता और भावना की दृष्टि से मूर्द्धन्य हों, ऐसे लोकसेवी ही किसी देश या समाज को समर्थ-संपन्न बना पाते हैं । उनकी कमी पड़ने से सर्वत्र पिछड़ापन बढ़ता है । विश्वव्यवस्था में शालीनता की मात्रा कम न होने देने की जिम्मेदारी जिस पुरोहित वर्ग की है, वह वानप्रस्थ आश्रम में ही प्रकट और परिपक्व होता है ॥ ४४-५१ ॥

देवसंस्कृति द्वारा निर्धारित आश्रम व्यवस्था में वानप्रस्थों के लिए चाहे वह किसी भी आयु में लिया गया हो, प्रमुख दायित्व है जनमानस के परिष्कार का । उसे धर्मतंत्र के माध्यम से लोकशिक्षण करना होता है । यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि वानप्रस्थ को संस्कृति का मेरुदंड कहा गया है । समाज में अनगढ़ व्यक्ति यों का बाहुल्य है । परंपराएँ, कुप्रचलन, अंधविश्वास समाज की प्रगति के मार्ग में अवरोध बन गए हैं । जिस प्रकार समय-समय पर हर स्थान आमूलचूल सफाई की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार समाज रूपी परिकर के परिशोधन हेतु, दुष्प्रवृत्तियों के निवारण एवं सत्प्रवृत्तियों के संवर्द्धन हेतु लोकमंगल हेतु समर्पित व्यक्तित्वों की आवश्यकता

निरंतर पड़ती रहती है ।

वानप्रस्थ उस भावनाशील लोकसेवी की भूमिका निभाते हैं, जो स्वेच्छा से समर्पित हों, समाज निर्माण को, नैतिक-बौद्धिक क्रांति को अपना कर्तव्य मानकर चलते हैं, थोपी गई जिम्मेदारी नहीं । इसके लिए वे समाज पर भी भार नहीं बनते । वेद में कहा गया है वयं राष्ट्रे जागृत्याम पुरोहिताः ॥ यहाँ पुरोहित शब्द से आशय वानप्रस्थ के रूप में कार्यरत पूर्ण समर्पित लोकसेवी से है । हम पुरोहित राष्ट्र को जाग्रत और जीवंत बनाए रखेंगे । जैसी उद्घोषणा करने वाला देव संस्कृति का यह प्रतिनिधि घर-घर अलख जगाने धर्म चेतना के व्यापक विस्तार के अपने संकल्प को बारंबार दुहराता है ।

आज के युग में जहाँ अनास्था का बाहुल्य है एवं चारों ओर दुष्प्रवृत्तियाँ ही संव्याप्त नजर आती हैं, वानप्रस्थों के ऊपर महती जिम्मेदारी आती है । अनीति, अभाव व अज्ञान के असुरों से जूझने हेतु समर्पित व्यक्तित्व चाहिए, जो गृहस्थ की जिम्मेदारी से मुक्त हों एवं श्रम, समय, मनोयोग लगाकर लोककल्याण हेतु तत्पर हो सकें ।

इस आश्रम व्यवस्था के संबंध में शास्त्रकारों के स्पष्ट निर्देश हैं

शास्त्र सम्मति एवं वनाश्रमेतिष्ठन्
पातयश्चैव कित्विषम् ।
चतुर्थमाश्रमं गच्छेत्
संन्यासविधिना द्विजः ॥

-हारीत स्मृति ६/१२

गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ ग्रहण करना चाहिए । इससे समस्त मनोविकार दूर होते हैं और वह निर्मलता आती है, जो संन्यास के लिए आवश्यक है ।

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि ।

पुत्रे सर्व समासज्य वसेन्माध्यस्थ्यमास्थितः ॥

-मनु ४/२५७

ढलती आयु में पुत्र को गृहस्थी का उत्तरदायित्व सौंप दें । वानप्रस्थ ग्रहण करें और देव, पितर तथा ऋषियों का ऋण चुकावें ।

उपासना च सर्वत्राऽनिवार्या सा श्रमेषु तु ।

आश्रमेषु चतुर्ष्वे स्थानं तस्याः कृते ध्रुवम् ॥ ५२ ॥

महत्त्वपूर्ण स्यादेव युगेऽस्मिन् सुलभा तथा ।

उपयुक्ताऽस्ति च प्रज्ञायोगस्यैषा तु साधना ॥ ५३ ॥

केवलेन न कार्यं तूपासनाविधिना भवेत् ।

स्वाध्यायसाधनासेवासंयमानां चतुर्विधा ॥ ५४ ॥

कार्यपद्धतिरुक्ता या तदा विश्वस्य चात्मनः ।

कल्याणरूपं यल्लक्ष्यं द्विष्टं तत्पूर्णां व्रजेत् ॥ ५५ ॥

टीका—उपासना हर क्षेत्र में आवश्यक है । उसे चारों

आश्रमों में समान स्थान और महत्व मिलना चाहिए। इसके लिए वर्तमान युग में प्रज्ञा योग की साधना सर्वसुलभ और सभी आश्रमों के लिए उपयुक्त है। उपासना अकेली से काम नहीं चलता। साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा की चतुर्विध कार्यपद्धति अपनाने से ही आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण का उभयपक्षीय जीवन लक्ष्य पूरा होता है ॥ ५२-५५ ॥

उपासना अंतःकरण की चिकित्सा है। नित्य प्रतिदिन छाप रहने वाले कुसंस्कार-कषाय-कल्मषों की महाव्याधि से छुटकारा पाने हेतु यह एक अमोघ ओषधि है। हर स्थिति में, चाहे व्यक्ति किसी भी आश्रम में हो उपासना का अवलंबन उसके लिए अनिवार्य है। इससे श्रेष्ठता के प्रति उच्चस्तरीय श्रद्धा का जागरण होता है, जो कि हर वरिष्ठ देवमानव के लिए जो सत्प्रवृत्ति विस्तार का भागीरथी पुरुषार्थ करने को उद्यत है, अनिवार्य है।

उपासना अकेली ही पर्याप्त नहीं। आत्म पर्यवेक्षण एवं सुधार द्वारा अंतःकरण के परिमार्जन की साधना, चिंतन-चरित्र एवं व्यवहार में श्रेष्ठता के समावेश हेतु महामानवों की चरित्र गाथाओं का स्वाध्याय, समय-विचार-वाणी एवं इंद्रिय निग्रह की संयम प्रक्रिया एवं समाज परिकर में फैले विराट ब्रह्म की आराधना-सेवा-साधना के रूप में चार गतिविधियों का समावेश भी साधना में होना चाहिए। यह मात्र व्यक्ति की आत्मिक प्रगति का प्रयोजन ही पूरा नहीं करते, अपितु इससे समष्टिगत परमार्थ का वह हित भी सधता है, जिसके लिए मनुष्य ने जन्म लिया है।

लकड़ी और अग्नि की समीपता का प्रतिफल प्रत्यक्ष है। गीली लकड़ी आग के समीप पहुँचते-पहुँचते अपनी नमी गँवाती और उस ऊर्जा से अनुप्राणित होती चली जाती है। जब वह अति निकट पहुँचती है, तो फिर आग और लकड़ी एक स्वरूप जैसे हो जाते हैं। साधक को भी ऐसा ही भाव समर्पण करके ईश्वरीय अनुशासन के साथ अपने आपको एक रूप बनाना पड़ता है। चंदन के समीप वाली झाड़ियों का सुगंधित हो जाना, स्वाँति बूँद के संयोग से सीप में मोती पैदा होना पारस छूकर लोहे का स्वर्ण बनना नाले का गंगा में मिलकर गंगाजल बनना पानी का दूध में मिलकर उसी भाव बिकना, बूँद का समुद्र में मिलकर सुविस्तृत हो जाना, जैसे अगणित उदाहरण हैं, जिनके आधार पर यह जाना जा सकता है कि भक्त और भगवान की एकता-उपासना का स्तर क्या होना चाहिए। सृष्टि के आदि से अद्यावधि सच्चे भक्तों में से प्रत्येक को ईश्वर का शरणागत होना पड़ा है। आत्म समर्पण का साहस जुटाना पड़ा है। इसका व्यावहारिक स्वरूप है, ईश्वरीय अनुशासन को, उत्कृष्ट चिंतन एवं आदर्श कर्तृत्व को अपनी विचारणा एवं कार्यपद्धति से अनुप्राणित करना। जो

इस तत्त्वदर्शन को जानते-मानते और व्यवहार में उतारते रहे हैं, उन सच्चे ईश्वर भक्तों को सुनिश्चित रूप से लाभ मिलते हैं, जिन्हें उपासना की फलश्रुतियों के रूप में कहा जाता रहा है।

उपासना का शब्दार्थ है समीप बैठना। ईश्वर और जीव के बीच रहने वाली दूरी को समाप्त करके जिस प्रक्रिया से निकटता बनती हो, उसे उपासना कहा जा सकता है। समीपता से विशेषताओं का आदान-प्रदान होता है। एक के गुण दूसरे को प्राप्त होते हैं। सत्संग के लाभ और कुसंग के दुष्परिणाम सर्वविदित हैं। अधिक प्रभावशाली तत्व कम सामर्थ्यवानों को अपने प्रभाव से प्रभावित करते हुए सर्वत्र देखे जाते हैं। आग के निकट आने वाले पदार्थ गर्म होते हैं और जलने लगते हैं। बर्फ के स्पर्श में जो भी ठंडक होती है, स्पर्शकर्ता को भी अपनी शीतलता प्रदान करती है। उपासना में भी ऐसा ही होता है। ईश्वर महान है। उसकी समीपता महानता की वृद्धि करती है। ईश्वर अनेकों श्रेष्ठताओं का पुंज है, पास बैठने में वे श्रेष्ठताएँ प्रवेश करती हैं। ईश्वर विभूतिवान है, साधक में विभूतियों की अभिवृद्धि होती है। राजा के अर्दली का भी मान बढ़ जाता है, उसके पास बैठने वाले दरबारियों का रुतवा बढ़ता है। फिर कोई कारण नहीं कि ईश्वर की समीपता यदि वास्तविक हो, तो उसका प्रभाव उपासनारत व्यक्ति पर न पड़े। ईश्वर से तात्पर्य है—सद्गुणों का, श्रेष्ठता का समुच्चय। श्रेष्ठता से असीम प्यार उसे आत्मसात करने की ललक ही सच्ची उपासना है।

उपासना अपने आप में एक समग्र शब्द है। उसे भाव रूप में समझना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति उसके लिए वांछित कर्मकांड पूरे करता है, पर भावना वैसी नहीं है, तो वह चिह्न-पूजा भर है। यदि भावना उच्चस्तरीय है, तो जो भी कृत्य बन पड़े, वही उपासना है।

आश्रमा इव वर्णास्ते चत्वारः संति शोभनाः।

क्षत्रियाश्च विशः शूद्रा समाजे कुर्वते क्रमात् ॥ ५६ ॥

सुरक्षायाः समृद्धेश्च श्रमस्यापूर्तिमुत्तमाम्।

ब्राह्मणस्य च दायित्वमध्यात्मप्रमुखस्मृतम् ॥ ५७ ॥

समाजोत्कर्षकार्ये च चतुर्णामपि वर्तते।

महत्त्वपूर्णमैतेषां योगदानं च वस्तुतः ॥ ५८ ॥

उच्चोनीचश्च नैवात्र वर्तते कोऽपि मानवः।

समाजावयवाः सर्वे वर्णाः स्वस्था अपेक्षिताः ॥ ५९ ॥

जन्मना जायते शूद्रो मान्यता देवसंस्कृतेः।

इयमेवास्ति संस्कारैर्द्विजाः पश्चाद् भवन्ति ते ॥ ६० ॥

सामान्यतस्तु वर्णास्ते कर्तव्यानि स्वकानि च।

निर्वहन्ति परं कश्चित् समाजस्य परिस्थितेः ॥ ६१ ॥

पूर्ण सन्तुलनं कर्तुं विवेकेन युतं स्वतः।

४.१६ प्रज्ञोपनिषद्

क्षमतां वर्द्धयित्वाऽन्यदायित्वं वोढुमर्हति ॥ ६२ ॥

चतुर्ध्वं यदाप्येको पतनैर्हि तदैव तु।

समाजस्य स्थितिर्याति विकृतिं हि शनैः शनैः ॥ ६३ ॥

सावधानैः सदाभाव्यं ब्राह्मणैर्विषयेऽत्र तु।

पतिते तु यतस्तस्मिन् पतन्त्यन्येऽपि वर्गगाः ॥ ६४ ॥

टीका—आश्रमों की तरह वर्ण भी चार हैं। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समाज में क्रमशः सुरक्षा, समृद्धि और श्रम की महत्वपूर्ण भौतिक आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। ब्राह्मण का उत्तरदायित्व अध्यात्म प्रधान है। वस्तुतः समाजोत्कर्ष में चारों का योगदान महत्वपूर्ण है। किसी को छोटा-बड़ा या ऊँचा-नीचा नहीं कहा जा सकता। समाज रूपी शरीर के सभी अंग सभी वर्ण स्वस्थ होने चाहिए। देवसंस्कृति की मान्यता है कि जन्म से सभी शूद्र हैं, संस्कारों के द्वारा द्विज बनते हैं। सामान्य रूप से सभी वर्ण अपने निर्धारित कर्तव्य सँभालते हैं। किंतु समाज तथा परिस्थितियों के विवेकपूर्ण संतुलन के लिए कोई भी व्यक्ति वर्ण विशेष की क्षमताएँ अपने अंदर विकसित करके उनके उत्तरदायित्वों को सँभाल सकता है। चारों में से किसी एक वर्ग का पतन होने से समाज का संतुलन बिगड़ने लगता है। ब्राह्मण वर्ग को इस दिशा में सबसे अधिक सतर्क रहना होता है। उसका पतन होने से अन्य वर्गों का भी पतन होने लगता है ॥ ५६-६४ ॥

तुलना ब्राह्मणस्यातो मुखेनोक्ता धियाऽपि च।

चिन्तनं स ददात्येवं शिक्षाया वहते धुरम् ॥ ६५ ॥

प्रवचनस्य चोद्घोषस्यापि दांतो महात्मनः।

जीवनं ब्राह्मणस्य स्यादपरिग्रहितात्त्विकम् ॥ ६६ ॥

सौम्यं विगततृष्णं च सद्गुणैरभिषोभितम्।

सेवापरायणं चापि सदाचारयुतं सदा ॥ ६७ ॥

टीका—ब्राह्मण की तुलना मस्तिष्क एवं मुख से की गई है, वह उदार हृदय चिंतन प्रदान करता है और उद्घोष-प्रवचन-प्रशिक्षण का उत्तरदायित्व भी स्वयं अनुशासित बन सँभालता है। ब्राह्मण का निजी जीवन अपरिग्रही एषणाओं से रहित, सौम्य, सात्विक, सद्गुणी, सेवापरायण एवं सदाचारयुक्त होना चाहिए ॥ ६५-६७ ॥

प्रस्तुत प्रकरण प्रारंभ करते हुए ही सत्राध्यक्ष श्री कात्यायन जी ने गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर समाज के चार वर्णों में विभाजित होने की चर्चा की थी। उसी प्रसंग को यहाँ विशद रूप में समझाते हुए वे प्रत्येक के कार्य विभाजन एवं उत्तरदायित्वों की व्याख्या कर रहे हैं। चारों वे स्तंभ हैं, जिन पर समाज रूपी भवन टिका हुआ है। इनमें से किसी के भी दुर्बल पड़ने से समाज का सारा ढाँचा चरमरा सकता है। वैश्य, क्षत्रिय एवं शूद्र मूलतः भौतिकी प्रधान उद्देश्यों से जुड़े हैं, तो ब्राह्मण आत्मिकी से संबंधित होने के कारण समुदाय

की आत्मिक प्रगति के लिए उत्तरदाई हैं।

कोई ब्राह्मण जन्म से नहीं होता। अपितु व्यक्ति अपनी सुसंस्कारिता द्वारा इसी मनुज काया में द्वितीय जन्म प्राप्त कर द्विज इस श्रेष्ठ स्थान को प्राप्त करता है। चूँकि आत्मिक उत्कर्ष पर ही किसी वर्ग, समुदाय की प्रगति निर्भर है, ब्राह्मण वर्ग पर विशेष दायित्व है, उन्हें अपना स्तर बनाए रखकर औरों के मार्गदर्शन का दुष्कर किंतु पुण्य कार्य निवाहना होता है। ब्राह्मणों के स्तर पर ही समाज की प्रगति, राष्ट्र का उत्कर्ष निर्भर है।

व्यक्तिगत जीवन में स्वयं के प्रति कठोर, औरों के प्रति उदार, अनुशासित जीवन क्रम, कथनी ही नहीं, करनी से शिक्षण ही ब्राह्मण की विशेषता है। ऋषि कहते हैं—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् ब्राह्मण समाज का मस्तिष्क है, मुख है। अर्थात् संचालन तंत्र है। इतना श्रेष्ठ व उच्चस्तरीय दायित्व होने के नाते निश्चित ही ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि हो जाता है। उसके अपने कर्तव्य औरों के उत्थान-पतन के कारण बन जाते हैं।

कस्मिन्नपि कुले जन्मग्रहणादेव नैव तु।

कश्चिद् भवति विप्रोऽत्रलोकोद्धारक उत्तमः ॥ ६८ ॥

तदर्थं च सदाचारसिद्धतोक्ता भवन्त्यपि।

वानप्रस्थादिगा विप्रा ब्रह्मकर्मयुता यदि ॥ ६९ ॥

टीका—मनुष्य किसी कुल विशेष में जन्म लेने मात्र से ही ब्राह्मण नहीं बनता। उसके लिए आचरण सिद्ध भी होना पड़ता है। ब्रह्मकर्मरत वानप्रस्थ एवं संन्यासी भी ब्राह्मण संज्ञा में आते हैं ॥ ६८-६९ ॥

उच्च उद्देश्यों की पूर्ति एवं विशिष्ट सामाजिक उत्तरदायित्व वहन करने हेतु एक विशेष प्रकार की जीवन पद्धति अपनाने तथा अपने भीतर ब्राह्मणत्व के गुण पैदा करने वाले व्यक्ति ही ब्राह्मण कहे जाते हैं। ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण ही उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मणत्व अर्थात् उत्कृष्टता किसी वंश विशेष की बपौती नहीं। मानसकार ने स्पष्ट कहा है कि किसी वंश-जाति में जन्म लेने के कारण कोई नीच-ऊँच कैसे हो सकता है।

उपजहिं एक संग जग माहीं।

जलज जोंक जिमि गुन विलगाहीं ॥

सुधा सुरा सम साधु असाधू।

जनम एक जल जलधि अगाधू ॥

ब्राह्मण वंश में वशिष्ठ, अत्रि, याज्ञवल्क्य, भारद्वाज आदि ऋषि-मुनि-तपस्वी त्यागी हुए हैं, तो रावण, कुंभकरण, मारीच, खरदूषण जैसे दुष्ट राक्षस भी हुए हैं। अतः जाति-वंशगत उत्तराधिकार का दावा सर्वथा निरर्थक है। हर वर्ग में श्रेष्ठ व्यक्ति होते रहे हैं और अपने श्रेष्ठ कर्मों के कारण ब्राह्मण

पद पाते रहे हैं। अगणित ऐसे ऋषियों का उल्लेख मिलता है, जो ब्राह्मणेतर वर्णों में जन्मे, पर अपने कर्मों के अनुरूप उनसे ब्राह्मण तक का पद प्राप्त किया। इन प्रमाणों से भारतीय इतिहास पुराणों का पन्ना-पन्ना भरा पड़ा है। मध्यकाल में रैदास, कबीर, नानक, दादू, नामदेव, विवेकानंद आदि ब्राह्मणेतर जातियों में, कितने ही तो शूद्र-वर्ण में पैदा हुए पर उनकी गरिमा किसी ब्राह्मण से कम नहीं आँकी गई गांधी, बुद्ध, महावीर भी तो ब्राह्मण नहीं थे। राम-कृष्ण क्षत्रिय थे। पर उनकी पूजा ब्राह्मण भी करते हैं। श्रेष्ठता को जातीयता की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता।

उदरपूर्तिनिमित्तं हि शिक्षा चार्थकरी तु या।
विद्यार्थिनस्तदर्थं तु धावंतो ह्यभिभावकाः ॥ ७० ॥
व्यवस्थां कुर्वते यात्राऽध्यापका वेतनाश्रिताः।
प्राप्यन्ते बोधकर्तारः श्रमिका इव सर्वतः ॥ ७१ ॥
अभावस्तु भवेत्तेषां प्राप्नुवन्ति स्वयं तु ये।
गुणकर्मस्वभावनां स्वानामादर्शमुत्तमम् ॥ ७२ ॥
स्याद् विवेकोदयो येन जनसाधारणस्य तु।
शिक्षयेयुरुदात्तं च चरित्रं परमार्थताम् ॥ ७३ ॥
सर्वेषां वशगं नैतत्कर्म लोके तु संभवेत्।
विप्राणां प्राय एतत्तु, पौरोहित्ये च ते स्वयम् ॥ ७४ ॥
जनसामान्यनेतृत्वं कुर्वते भावनात्मकम्।
धर्मधृत्यै तथैतस्यै मात्रमुद्बोधनं नहि ॥ ७५ ॥
पर्याप्तं परमभ्यासकारणाद्रचनात्मकम्।
आन्दोलनं च संस्कारकारकं बह्वपक्ष्यते ॥ ७६ ॥
एकत्रीकृत्य चासंख्यास्तत्र लोकांश्च कर्मणि।

कृत्वा परिणतं ज्ञानं विधेयं तत् स्वभावगम् ॥ ७७ ॥

टीका—उदरपूर्ति के लिए आवश्यक शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी और अभिभावक स्वयं ही दौड़ धूप करते रहते हैं। उसके लिए जानकारी भर बढ़ाने वाले वेतनभोगी अध्यापक भी अन्यान्य श्रमिकों की तरह हर जगह मिल जाते हैं। अभाव उनका रहता है जो अपने गुण-कर्म-स्वभाव का आदर्श प्रस्तुत करके जन-साधारण का विवेक जगा सकें, उदात्त आचरण एवं परमार्थ-परायणता सिखा सकें। यह काम कर सकना हर किसी के वश का नहीं है। प्रायः ब्राह्मण का ही है। उन्हीं को पुरोहित के रूप में जन-साधारण का नेतृत्व करना पड़ता है। इस धर्म-धारणा के लिए मात्र शिक्षण उद्बोधन ही पर्याप्त नहीं होता, वरन अभ्यास के लिए अनेकों रचनात्मक एवं सुधारात्मक आंदोलन खड़े करने होते हैं और उनमें असंख्यों को जुटाकर ज्ञान को कर्म में परिणत करते हुए स्वभाव संस्कार के स्तर तक पहुँचाना होता है ॥ ७०-७७ ॥

ब्राह्मण वह है, जो समाज में सुसंस्कारिता संवर्द्धन के बहुमुखी दायित्व सँभालते हैं। चाहे वह सुकुमार कच्ची मनोभूमि

वाले बालक हों अथवा भिन्न-भिन्न मनः संरचना वाले समाज परिकर का अपार जनसागर। उन्हें स्वयं के श्रेष्ठ आचरण द्वारा शिक्षण करते हुए, वे नैतिक पुनरुत्थान, बौद्धिक क्रांति हेतु जन-नेतृत्व का मोरचा सँभालते हैं।

बहूनि संति कर्माणि यान्याश्रित्य च युज्यते।

शिक्षितुं लोकसेवैषा जगन्मंगलकारिणीः ॥ ७८ ॥

सत्प्रवृत्तिर्विधातुं ताः शुभा अथाग्रगामीनीः।

यथा व्यायामशालास्ताः पाठशालाः कला अपि ॥ ७९ ॥

पुस्तकालय - उद्योगाः कौशलश्रमशालिताः।

हरितक्रांतिरत्रैषा स्वच्छता धेनुपालनम् ॥ ८० ॥

स्वास्थ्यवृद्धिः समारोहास्तथासंगठनादिकम्।

कुरीतिवारणं बालकल्याणं जनजागृतिः ॥ ८१ ॥

महिलामंगलादीनि रचनात्मकरूपतः।

संति ख्यातानि यान्यत्रोद्भाव्यान्यन्यापि स्वयम् ॥ ८२ ॥

सर्वाण्येतानि कर्तुं च गतिशीलानि संततम्।

अग्रगामीनि चायांतु व्यवस्थापयितुं समे ॥ ८३ ॥

लोकसेवारता येन वातावरणमुज्ज्वलम्।

सोत्साहं निर्मितं च स्याल्लोको मंगलमाव्रजेत् ॥ ८४ ॥

एष ब्राह्मणवर्गश्च स्वाध्यायोपासनास्विव।

सत्संगेष्विव चैतासु क्रियासु स्याद्रतः सदा ॥ ८५ ॥

सत्प्रवृत्त्यभिवृद्धिश्च संभवेदत्र येन च।

प्रत्येकस्मिंस्तथा क्षेत्रे वर्धमानाश्च याः समाः ॥ ८६ ॥

टीका—पाठशाला, पुस्तकालय, व्यायामशाला, कला-कौशल, उद्योग-गृह, सामूहिक-श्रमदान, हरीतिमा-संवर्द्धन, गौ-पालन, स्वच्छता-प्रयास, संगठन, समारोह, स्वास्थ्य-संवर्द्धन, कुरीति-निवारण, शिशु-कल्याण, महिलामंगल जैसे अनेकों छोटे-बड़े रचनात्मक कार्य ऐसे हो सकते हैं, जिसके सहारे लोग सार्वजनिक सेवा सीखें और जनमंगल की सत्प्रवृत्तियों को अग्रगामी बनाएँ, इन्हें गतिशील अग्रगामी बनाने एवं व्यवस्था जुटाने में लोकसेवियों को ही आगे रहना पड़ता है। ब्राह्मण-वर्ग को भावना, उपासना, स्वाध्याय, सत्संग की तरह ही एक रचनात्मक क्रिया-कलापों द्वारा सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन में भी निरत होना पड़ता है ॥ ७८-८६ ॥

सेवा-धर्म के अनेकों रूप हैं। ब्राह्मण व्यक्ति, वंश या वेश से नहीं, अपने अंतः की उदात्तता के कारण बनता है। चाहे व्यक्ति किसी भी आश्रम में हो, समाज में रहकर पीड़ा या पतन निवारण के माध्यम से समग्र मानव समुदाय की सेवा करता रह सकता है। साधना समग्र तब कहलाती है, जब उपासना-सत्संग जैसे धर्म-कृत्यों के साथ स्वयं को ऐसे रचनात्मक कार्यक्रमों से भी जोड़ा गया हो, सत्प्रवृत्ति का वातावरण बनाते हों। इनमें से कई की चर्चा यहाँ ऋषि श्रेष्ठ कात्यायन जी ने की है। इन सभी का लक्ष्य एक ही है,

४.१८ प्रज्ञोपनिषद्

सबका कल्याण एवं जन-साधारण में सेवा-भावना के विकास द्वारा आत्मीयता का विस्तार।

भारतीय संस्कृति के दो अग्रदूत भगवान बुद्ध एवं आद्य शंकराचार्य ने अपने जीवन में सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन द्वारा ही समाज की बहुमूल्य सेवा की। भगवान बुद्ध ने बुद्धवाद को सर्वोपरि मान्यता दी। उन्होंने अपने युग में प्रचलित भक्ति-भावुकता और तांत्रिक राजमार्ग के उभयपक्षीय अतिवादों से धर्म धारणा को बुरी तरह क्षत-विक्षत देखा और परंपराओं का नए सिरे से पर्यवेक्षण करने के लिए बुद्धिवादी कसौटी जनसमुदाय के हाथ में थमाई। सेवा और संयम की तपश्चर्या अपनाई। आत्मबोध जगाया और मनुष्य से भगवान बन गए। उनसे व्यापक परिमार्जन का धर्मचक्र-प्रवर्तन चलाया। बिहार खड़े किए, सेवाराम विनिर्मित किए, विश्वविद्यालय चलाए और प्रव्रज्या धर्म अपनाने के लिए प्रभाव क्षेत्र में परिपूर्ण प्रेरणा दी। अगणित जीवनदानी नर-नारी उनके आह्वान पर आगे आए और विश्व के कोने-कोने में बौद्धिक क्रांति के लिए, धर्मधारणा प्रतिष्ठित करने के लिए चल पड़े। बुद्ध का यह परम पुरुषार्थ देश की डूबती नौका को उबारने में सफल रहा।

आद्य शंकराचार्य की ऋषिकल्प गतिविधियों में तीर्थ स्थापना प्रमुख है। उनसे देश के चार कोनों पर चार धाम, चार मठ बनाए। उन्होंने अटक से कटक और कन्याकुमारी से काश्मीर तक की पैदल यात्रा की। इस यात्रा में उन्होंने हजारों व्याख्यान दिए। बड़े-बड़े उद्भट विद्वानों से शास्त्रार्थ किया और धर्म के सच्चे स्वरूप को समझने-समझाने के लिए सभाएँ आयोजित कीं। उन्होंने धर्मप्रचार करने के लिए चिद्विलास, विष्णुगुप्त, हस्तामलक, समित्पाणि, ज्ञानवृंद, भानुगर्भिक, बुद्धि विरंचि, त्रोटकाचार्य पद्मनाभ, शुद्धकीर्ति, मंडन मिश्र, कृष्ण दर्शन आदि देश के उद्भट विद्वानों को संगठित किया। वेद धर्मानुयायियों की विशाल सेना बनाई गई और संपूर्ण भारत में धर्म सुधार की हलचल मचा दी। उनके इस अखंड प्रयत्न का फल यह हुआ कि जनता के मानस में धर्म संबंधी जो भी भ्रांतियाँ घर कर रही थीं, वे सब दूर होने लगीं और सारे देश में वैदिक धर्म का शंखनाद गूँजने लगा।

अवांछनीयतास्ताश्च कर्तुमुन्मूलिताः स्वयम्।

सशक्ताक्रोशसंघर्ष विरोधानामपि स्थितिम्॥ ८७॥

उत्थितां कर्तुमर्हास्ते शास्त्रमेककरे तथा।

शस्त्रं तिष्ठति विप्राणां करे येषां द्वितीयके॥ ८८॥

टीका—हर क्षेत्र में पनपने वाली अवांछनीयताओं का उन्मूलन कर सकने वाला आक्रोश, विरोध एवं संघर्ष खड़ा करना भी उन्हीं का काम है। ब्राह्मण के एक हाथ में शास्त्र और दूसरे में शस्त्र रहता है॥ ८७-८८॥

जहाँ समाज में श्रेष्ठता है, वहाँ निकृष्टता भी व्यापती है। ब्राह्मण वर्ग का कर्तव्य है अपने मनु को जगाना एवं अनीति के विरुद्ध संघर्ष करना। मात्र शास्त्र वचनों की दुहाई देनी ही पर्याप्त नहीं, व्यक्ति में दुष्टता के विरुद्ध असहयोग, विरोध एवं संघर्ष कर सकने का साहस भी अपेक्षित है। इसके अभाव में तो वह पुरुषत्वहीन शरीरधारी भर है, जिसका अस्तित्व नहीं के समान है। ब्राह्मण का दायित्व है अपना ही नहीं, सारे समुदाय की रक्षा करना, इसके लिए जनमानस में मनोबल भरना एवं स्वयं अपने कर्तृत्वों द्वारा उदाहरण प्रस्तुत करना।

भ्रमंति नररूपेण पशवो बहवो भुवि।

मनुष्योचितकर्तव्यादर्शयुक्ता भवन्तु ते॥ ८९॥

इत्येव वर्तते मुख्यं लक्ष्यं वै देवसंस्कृतेः।

स्वस्थाश्रमव्यवस्थाऽथ परिष्कृतसुरालयाः॥ ९०॥

तीर्थान्यपि भवन्त्यत्र लक्ष्यस्यास्यैव पूर्तये।

माध्यमैरेभिरेवेयं विश्वं व्याप्नोच्च संस्कृतिः॥ ९१॥

इमान् परिष्कृतान् पूर्णजीवितान् कर्तुमत्र च।

संततमृषिवर्गस्य कार्यमस्ति महत्तरम्॥ ९२॥

इदं ज्ञातव्यमस्माभिः पूर्णरूपेण चांततः।

व्यवस्थित-समाजं च कर्तुमार्गोऽयमस्ति वै॥ ९३॥

टीका—मनुष्य रूप में पशु तो बहुत फिरा करते हैं। उन्हें मनुष्योचित कर्तव्यों, आदर्शों से युक्त रखना देवसंस्कृति का प्रधान उद्देश्य है। स्वस्थ वर्णाश्रम व्यवस्था, परिष्कृत देवालय एवं तीर्थ तंत्र इसी उद्देश्य पूर्ति के लिए होती हैं। इन्हीं माध्यमों से देवसंस्कृति विश्वव्यापी बनी थी। इन्हें जागृत और परिष्कृत रखने का कार्य ऋषि तंत्र का ही है और यह हमें भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि अंततः समाज को व्यवस्थित करने के लिए यही मार्ग है॥ ८९-९३॥

सत्र के समापन पर महर्षि आदर्शनिष्ठा एवं सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन की मानवी विकास हेतु अनिवार्यता बताते हुए ऋषितंत्र की भूमिका स्पष्ट करते हैं। यही सतयुग का मूलाधार है। देवसंस्कृति के पुनर्जीवन बिना उन मूल्यों की प्रतिष्ठापना किए बिना, यह उच्चस्तरीय लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता।

सत्रं सांस्कृतिकं चैतत् द्वितीयमेव पूर्ववत्।

सोल्लासं पूर्णतां यातं सानंदमाश्रमे शुभे॥ ९४॥

घोषणायां समाप्तेश्च श्रोतारः सर्व एव ते।

परस्परं नमंतश्च यथाकालं यथाऽऽगतम्॥ ९५॥

नित्यकृत्यानि कर्तुं तु गता उत्साह-संयुताः।

दृढसाहससंकल्पा विधि - कालानुयायिनः॥ ९६॥

टीका—दूसरे दिन का संस्कृति सत्र प्रथम दिन की भाँति बड़े आनंद-उल्लास के वातावरण में समाप्त हुआ। समापन की घोषणा होने पर सभी नमन-वंदन पूर्वक अपने नियत

कृत्यों को यथासमय यथावत् करने के लिए चले गए। उनका उत्साह बढ़ा हुआ था। साहस एवं संकल्प में दृढ़ता प्रतीत

होती थी। वे समय का मूल्य एवं उचित प्रतिक्रियाओं के महत्त्व को समझ चुके थे ॥ १४-१६ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते वर्णाश्रम धर्म इति प्रकरणो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

संस्कारपर्व-माहात्म्य प्रकरण

प्रतिपाद्यं तृतीयस्य श्रोतुमुक्ता दिनस्य ते।
सोत्सुकं नियते काले प्राप्ताः सर्वे यथाक्रमम् ॥ १ ॥
स्थानेषु नियतेष्वेव समासीनास्तथाऽभवन्।

वर्षयन्निव पीयूषमृषिः कात्यायनस्तदा ॥ २ ॥

टीका—तीसरे दिन के प्रवचन-प्रतिपादन सुनने के लिए सभी आतुर थे, सो नियत समय पर सभी जिज्ञासु उत्सुकतापूर्वक पहुँचे और अपने नियत स्थान पर यथाक्रम आसीन हो गए। ज्ञानामृत बरसाते हुए महर्षि कात्यायन बोले— ॥ १-२ ॥

कात्यायन उवाच

जिज्ञासवो नरस्त्वेष वर्तते पशुरप्यथ।

पिशाचोऽपि तथा देवो महामानव एव च ॥ ३ ॥

सीम्निप्रजननस्याथ चोदरस्यापि ये नराः।

मग्नाश्चिन्तातुराश्चापि नरास्ते पशवा मताः ॥ ४ ॥

तेषां सर्वस्वमस्त्येषा लघ्वी स्वार्थरतिः सदा।

लोभमोहातिरिक्तं न पश्यन्त्येते किमप्यतः ॥ ५ ॥

प्रदर्शने विलासे च सुखं तेऽनुभवन्ति हि।

नाभ्यां परं किमप्येषां लक्ष्यं भवति दूरगम् ॥ ६ ॥

टीका—कात्यायन बोले, जिज्ञासुओ मनुष्य पशु भी हैं, पिशाच भी, मान्य मानव भी और देवता भी। पेट और प्रजनन की छोटी परिधि में सोचने और करने में निमग्न रहने वाले नर-पशु हैं। उनके लिए संकीर्ण स्वार्थपरता ही सब कुछ है। लोभ और मोह के अतिरिक्त और कुछ उन्हें सूझता ही नहीं। विलास और प्रदर्शन में ही उन्हें सुख मिलता है। इसके आगे इनका कोई और दूरगामी लक्ष्य नहीं ॥ ३-६ ॥

दर्पो नरपिशाचेषु सदा छत्रायते ततः।

अनाचारेषु पश्यन्ति दुष्कृत्येषु तथैव च ॥ ७ ॥

आतंकेषु च ते पूर्तिमहंकारस्य स्वस्य तु।

अनुभवन्ति रसं दिव्यं परेषां पीडने शठाः ॥ ८ ॥

मर्यादोल्लंघने शौर्यं पश्यन्त्यपि पराक्रमम्।

पिशाचा एव ये भ्रष्टचिंतनाचारवर्जिताः ॥ ९ ॥

टीका—नर-पिशाचों पर दर्प छाया रहता है। वे आतंक,

अनाचार और दुष्कृत्यों में अपने अहंकार की पूर्ति देखते हैं। उत्पीड़न में उन्हें रस आता है। मर्यादा भंग करने में उन्हें शौर्य-पराक्रम प्रतीत होता है। भ्रष्ट चिंतन और दुष्ट आचार वालों को मनुष्य शरीर में पिशाच ही समझना चाहिए ॥ ७-९ ॥

देव संस्कृति के संस्कार-महत्ता प्रकरण का शुभारंभ करते हुए सत्राध्यक्ष मानव की गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर विवेचना करते हुए उसका वर्गीकरण भिन्न-भिन्न वर्गों में करते हैं। नर पामर का अर्थ है पशु प्रवृत्तियों में निरत पेट-प्रजनन की सीमा में आबद्ध व्यक्ति। नर-मानव का अर्थ है वह व्यक्ति, जिसमें पारिवारिकता और सामाजिकता के साथ जुड़े हुए अनुबंधों के प्रति विश्वास और परिपालन का साहस है। वस्तुतः व्यक्तित्व के स्तर की उत्कृष्टता ही मानवी वरिष्ठता की कसौटी है। मानवी काया का चोला तो हरेक का एक जैसा ही होता है।

नर-पशु हर समय अधिक कमाने, संचय करने और खाने-कुतरने की ललक में लगे दिखाई दे सकते हैं। अनौचित्य की सीमा लाँघकर प्रजनन यौन स्वेच्छाचार के क्षेत्र में वे पशुओं को भी पीछे छोड़ देते हैं। जो भी वैभव दूसरों को शोषण कर पिशाच की भूमिका निभाते हुए निर्दयतापूर्वक संचित करते बन पड़ा है, उसे वे स्वयं व परिवार जनों तक ही सीमाबद्ध मानकर उसके उपभोगवादी प्रदर्शन में निरत रहते हैं।

चरित्रनिष्ठा ही मनुष्यता है। जिसमें अवांछनीय लिप्साओं के नियमन एवं आदर्शों के कार्यान्वयन का साहस भरा पराक्रम है, वही नर मानव से देवमानव, नर-नारायण, भूसुर, ऋषि की भूमिका निभाता देखा जा सकता है।

मानव जन्म लेने के बाद संचित कषाय-कल्मषों के आवरण को हटाकर स्वयं को निर्मल बना, देव मानव बनाने की भूमिका में प्रवेश करने की प्रक्रिया संस्कारों के माध्यम से संपन्न होती है। इसके अभाव में तो सामान्य जनमानस पर कुसंस्कारों का कुहासा ही छाया देखा जा सकता है। नरपशु, नरपिशाच, नरपामर इसी श्रेणी के व्यक्ति कहलाते हैं।

४.२० प्रज्ञोपनिषद्

आलंकारिक रूप से असुरों का काला मुँह मुख से बाहर निकले हुए दाँत, पैने नाखून और सिर पर सींग चित्रित किए जाते हैं। इस प्रकार की शक्ल-सूरत के प्राणी कहीं नहीं पाए जाते। इस आलंकारिक चित्रण में यही बताया गया है कि असुर-प्रकृति के मनुष्यों का मुख दुष्कर्मों की कलंक-कालिमा से काला होता है। वे पेटू, स्वार्थी, लोभी, कृपण और संग्रही होते हैं, उनके बड़े दाँत उचित-अनुचित सबको उदरस्थ करने के लिए मुख की मर्यादा से बाहर निकले रहते हैं। हाथों में बड़े नाखूनों का होना हिंस्र पशुओं की नीति अपनाकर आक्रमणकारी, आतताई कुकृत्यों में संलग्न होने की दुष्प्रवृत्ति को प्रकट करता है। इस दुष्ट परंपरा को असुर संस्कृति को पशु-प्रवृत्ति को अपनाने वाले लोगों की कमी नहीं। रामायण में इन्हीं को असंत बताया गया है।

पालयन्ति नरा धर्मं कर्तव्यं स्वं च सर्वदा।

पोषयन्ति सदा शीलं नीतिमर्यादयोरपि ॥ १० ॥

अनुभवन्ति महत्त्वं ते सहकारं श्रयन्ति च।

सद्भावमधिकारे ते नोत्काः कर्तव्यबुद्धयः ॥ ११ ॥

व्यवहरन्ति तथाऽन्यैस्ते यथा स्वस्मै प्रियो भवति।

व्यवहार, स्तरं तं ते निर्वाहस्याश्रयन्ति तु ॥ १२ ॥

उपलब्धो यथाऽन्यैस्तु ते विदन्ति भविष्यति।

ईर्ष्या प्रदर्शनैरत्र विलासैः संग्रहैरपि ॥ १३ ॥

उत्पद्यन्ते विग्रहाश्च सुखशान्तिविनाशकाः।

गृध्रवो वैभवं प्राप्तुमर्पयन्ति हि जीवनम् ॥ १४ ॥

मानवस्य गरिम्णास्तु येषां बोधोऽस्ति ते नराः।

उत्कृष्ट चिंतने लग्नाः कर्तृत्वेऽप्युत्तमे सदा ॥ १५ ॥

टीका—मनुष्य अपने कर्तव्यधर्म का पालन करते हैं।

शील पालते और नीति-मर्यादा का महत्त्व समझते हैं। सद्भाव और सहकार का आचरण करते हैं। अधिकार पर कम और कर्तव्य पर अधिक ध्यान देते हैं। दूसरों के साथ वैसा व्यवहार करते हैं, जैसा अपने लिए प्रिय है। उसी स्तर का निर्वाह अपनाते हैं, जैसा कि अधिकांश लोगों को उपलब्ध है। वे जानते हैं कि संग्रह, विलास और प्रदर्शन से ईर्ष्या उत्पन्न होती है और विग्रह पनपते हैं। लालची, वैभव संपादन पर ही बहुमूल्य जीवन न्यौछावर कर देते हैं, पर जिन्हें मानवी गरिमा का बोध है, वे उत्कृष्ट चिंतन और आदर्श कर्तृत्व में निरत रहते हैं ॥ १०-१५ ॥

मानवी चेतना के तीन स्तरों के रूप में माताल लोक, भूलोक और स्वर्गलोक की आलंकारिक विवेचना की जाती है। रहते तो ये सब धरती पर हैं व काया भी सबकी मानवी होती है, किंतु इनकी प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। अहंकारी, आक्रामक, कालिका से पुते, लोभी, लालची, उद्धत आचरण वाले हेय स्तर का जीवन जीने वाले नर-पिशाच पाताल

लोकसेवी कहे जाते हैं। ये स्वयं जलते औरों को जलाते, स्वयं कुढ़ते औरों को कुढ़ाते हैं। भूलोक पर मानवी गरिमा में विश्वास रखने वाले नर मानवों का निवास होता है। मनुष्य अर्थात् सभ्य, शिष्ट, सज्जन, शालीनता एवं सहकारिता से प्रेम करने वाला। मर्यादा में रहने व जिम्मेदारियों को समझने-निबाहने वाला। वह दूसरों का सम्मान करता व हिल-मिलकर, मिल-बाँटकर रहने, खाने की नीति में विश्वास रखता है।

विशेषताभिरेताभिर्युक्ता एव तु मानवाः।

वक्तुं शक्या वसन्त्यत्र मर्त्यं देहे हि देवताः ॥ १६ ॥

भगवानत्र प्राकट्यं याति देहे सदैव सः।

मनुकार्येषु ये लग्ना अभिनंद्येषु संततम् ॥ १७ ॥

उपक्रमेषु पुण्योपकारयो रसबोधिनाः।

आत्मनो जगतश्चाऽपि कल्याणार्थं तपो रताः ॥ १८ ॥

कष्टानां सहने हर्षो येषां ते भूसुरा मताः।

उदारमानसा मर्त्याः करुणामूर्तयोऽनघा ॥ १९ ॥

ऋषिर्मनीषी देवात्माऽवतारो वा निगद्यते।

महामानव इत्येष समुदायो जनैरिह ॥ २० ॥

टीका—ऐसी विशेषता से युक्त लोगों को ही सच्चा मनुष्य कहना चाहिए। मनुष्य शरीर में ही देवता रहते हैं। इसी में भगवान् प्रकट होते हैं। जो अनुकरणीय-अभिनंदनीय बनाने वाले उपक्रमों में निरत रहते हैं, जिन्हें पुण्य-परोपकार में रस आता है और आत्म-कल्याण एवं विश्व-कल्याण के लिए तपश्चर्या रत रहने, कष्ट सहने में प्रसन्नता होती है। ऐसे दयालु, निष्पाप, उदारमना लोगों को भूसुर धरती का देवता कहते हैं। इसी समुदाय को महामानव ऋषि, मनीषी, देवात्मा एवं अवतार कहते हैं ॥ १६-२० ॥

स्वर्गलोक के निवासी देवता कहलाते हैं। उत्कृष्टता का नाम ही स्वर्गलोक, ऊर्ध्वलोक है। देवता और कोई नहीं, मनुष्य शरीर में निवास करने वाली सत्प्रवृत्तियाँ ही हैं। देवता की एक शब्द में परिभाषा करनी हो, तो उसे देने की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व कहा जा सकता है। देव-प्रकृति की उमंगें अंदर से उठने लगे अर्थात् अपनी आवश्यकताएँ हँसते-हँसते पूरी करने के साथ-साथ अन्य असंख्यों की सहायता कर सकने की आकांक्षा अंदर से जन्म लेने लगे। अंतःकरण का उदात्त होना अपने आप में इतना बड़ा सौभाग्य है कि उसके उपरांत विलास, वैभव का, सुविधा-साधनों की संपन्नता का, होना न होना कुछ अर्थ नहीं रखता। देवता बदले में न कुछ चाहते हैं, न स्वीकारते हैं, इसलिए वे पूजे जाते हैं। मनुष्य में सदैव अन्य स्तरों की तरह देवत्व भी विद्यमान रहा है। चेतना की यह वरिष्ठ स्थिति ही मानवी सत्ता की प्रगति का मूल कारण रही है।

भवन्ति मानवाः प्रायः समाना एव यद्यपि।

वातावृत्या च संगत्या गच्छन्त्युच्चैः पतन्त्यधः ॥ २१ ॥

टीका—मनुष्य प्रायः सभी एक जैसे होते हैं। वातावरण एवं संगति के प्रभाव से वे ऊँचे उठते या पतित होते हैं ॥ २१ ॥

विद्यैवैषा मनुष्यस्य संस्कारित्वं स गौरवम्।

विदधाति तदाधारात् समाजो व्यक्तिरेव च ॥ २२ ॥

श्रेयः सौभाग्ययोगं च प्राप्नुतो मानवेप्सितम्।

अतः श्रेष्ठं धनं विद्या सौभाग्यं चाऽपि कीर्तिता ॥ २३ ॥

टीका—विद्या ही मनुष्य की सुसंस्कारिता को गरिमा प्रदान करती है और उसी आधार पर व्यक्ति तथा समाज को श्रेय सौभाग्य का सुयोग प्राप्त होता है, जो मानव मात्र का लक्ष्य है। अतः निश्चित रूप से विद्या एक श्रेष्ठ धन है व मानव मात्र का सौभाग्य स्वरूप है ॥ २२-२३ ॥

आकृति-प्रकृति भिन्न होते हुए भी जन्मोपरांत सभी मनुष्य प्रतिभा, गुण-कर्म-स्वभाव की दृष्टि से एक ही स्तर के पाए जाते हैं। जैसा परिवेश होता है एवं जैसे व्यक्तियों का साथ मिलता है, वैसा ही उस व्यक्ति का विकास या अधःपतन होता है। अनेकों उदाहरण मिलते हैं, जिनमें जन्मजात प्रतिभा उच्चस्तरीय होते हुए भी वैसा पोषक वातावरण परिवार संस्था एवं समाज परिकर में न मिल पाने के कारण उनका विकास समुचित नहीं हो सका। उल्टे उसके स्थान पर गलत दिशा मिलने के कारण प्रवाह उलटी दिशा में चला गया। इसके विपरीत ऐसे भी उदाहरण हैं, जिनमें सही संस्कार मिलते रहने की सतत्-व्यवस्था, सत्संगति एवं वातावरण की श्रेष्ठता ने श्रेष्ठ व्यक्तियों के निर्माण में मदद की, जबकि प्रतिभा व सुख-सुविधा के साधनों की दृष्टि से वे पूर्व में गई-बीती परिस्थितियों में थे।

शिक्षण के दो वर्ग हैं। एक भौतिक उपार्जन उपभोग, दूसरा व्यक्तित्व का विकास-परिष्कार। समग्र शिक्षण के लिए दोनों ही वर्ग समुचित परिस्थितियाँ चाहते हैं। शिल्प-उद्योग भर सिखाने हों, भौतिक जानकारी देनी हों, तो जिसे जहाँ सुविधा हो, वहाँ शिक्षण की व्यवस्था की जा सकती है। व्यक्तित्व निर्माण हेतु वातावरण की अनुकूलता चाहिए। अन्यथा शिक्षण के नाम पर व्यक्ति को जानकारी भरा मिलती रहेगी, सुसंस्कारिता बढ़ाने वाली, मानव को उसकी गरिमा के अनुरूप श्रेय पद दिलाने वाली विद्या रूपी संपदा मिलने का सुयोग न बन पड़ेगा।

विज्ञा एनां विश्वस्याऽनिवार्यत्वं महत्तथा।

आधारां प्रगतेः सार्वभौमाया देवसंस्कृतेः ॥ २४ ॥

मन्वाना जगदुर्विद्यावृद्धयैः प्राणपणैरपि।

यतितव्यं महत्पुण्यमिदं वै पारमार्थिकम् ॥ २५ ॥

धर्मकार्ये पुनीतेऽस्मिन् रतांस्तांस्तु गुरुन्बुधाः।

वदन्ति गणयन्त्यत्र धरित्र्या देवरूपिणः ॥ २६ ॥

टीका—विज्ञान इसे संसार की महती आवश्यकता, देव परंपरा और सर्वतोमुखी प्रगति का आधार मानते हैं। जगत में विद्या संवर्द्धन के लिए प्राण-पण से लग जाना सबसे बड़ा पुण्य-परमार्थ है। इस पुनीत धर्म कार्य में निरत लोगों को गुरुजन कहा जाता है। और धरती के देवताओं में गिना जाता है ॥ २४-२६ ॥

विद्या का उपार्जन व्यक्तित्व के संवर्द्धन एवं विकास हेतु अभीष्ट आवश्यकता मात्र ही नहीं है, यह सारे समुदाय की सर्वांगीण प्रगति का मूल आधार है। जिस समाज में विद्या से विभूषित देव मानव जितने अधिक होते हैं, वह उतना ही धन्य बनता है। विद्या एक ऐसी अक्षय संपदा है, जिसका तीनों कालों में नाश नहीं होता। वह जन्म-जन्मांतरों तक मित्र की तरह मनुष्य के साथ बनी रहती है। विद्या का प्रतिफल देव संस्कृति की मान्यतानुसार आर्थिक सफलता के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। विद्या नर मानव को देव मानव बनाती है, उसे सुसंस्कारित बनाती है, उसकी यही सबसे बड़ी देन है, जिसे किसी भी स्थिति में कम करके नहीं आँका जाना चाहिए।

ऋषि श्रेष्ठ यहाँ विद्यार्जन को जीवन का एक उपादान नहीं, अपितु सर्वश्रेष्ठ पुण्य सारी मानव जाति के प्रति परमार्थ कार्य कहते हैं। जो नर श्रेष्ठ विद्यादान का पुण्य कार्य करते हैं, उन्हें गुरुजन कहकर उनकी अभिवंदना की गई है, उन्हें भूसुर की उपाधि दी गई है। सामान्य शिक्षक, जो लौकिक जानकारी देते हैं एवं गुरुजन, जो अंतः के परिष्कार में समर्थ विद्या देते हैं, में अत्यधिक अंतर है। दोनों को भूलकर भी एक नहीं मानना चाहिए।

परमेश्वर जिन पर भी प्रसन्न होते हैं, उन्हें वे अधिक विचारशील, सद्भावना संपन्न और ज्ञान-परायण बनाते हैं तथा ज्ञानयोग में संलग्न होने की प्रेरणा देते हैं। संसार में सद्ज्ञान का प्रसार उनका मुख्य काम बन जाता है। प्राचीनकाल से लेकर अब तक के समस्त सच्चे ईश्वर भक्त, ऋषि, मुनि आजीवन इसी कार्य में लगे रहते हैं। गुरुकुल चलाने में, सद्ग्रंथों का प्रणयन करने में, यज्ञ आयोजनों में, कथा-प्रवचन कहने में, संस्कार और पर्वों की व्यवस्था में संलग्न रहकर वे संसार को ज्ञानवान बनाने के लिए ही प्रयत्न करते रहे हैं। प्रत्येक ईश्वर भक्त को सदा से यही प्रयत्न करना पड़ा है। वह चुप बैठ ही नहीं सकता। संसार में अज्ञानग्रस्त प्राणियों को देखकर उसकी अंतरात्मा में करुणा की अजस्र धारा बहे बिना रह ही नहीं सकती। अतएव उसे अपनी परिस्थितियों के अनुसार मानव-जाति को अधिक ज्ञानवान बनाने के लिए अपनी सामर्थ्य भर प्रयत्न एवं पुरुषार्थ करना ही पड़ता है।

४.२२ प्रज्ञोपनिषद्

ऐसे ही महापुरुषों को गुरुजन कहा गया है और उन्हें धरती के देवता की उपाधि दी गई है। देव-संस्कृति में गुरु-तत्व को बहुत महत्व दिया गया है। उनके प्रति निष्ठा रखने के लिए अध्यात्म-प्रेमियों को प्रेरणा दी गई है—

वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।

तुलसीदास जी के मतानुसार गुरु व्यक्ति नहीं एक शाश्वत शक्ति है, जो पात्रतानुसार व्यक्तियों में प्रतिबिम्बित होती है। शरीर नित्य नहीं है, इसलिए गुरु के संबोधन के पीछे किसी शरीर विशेष का आग्रह नहीं है। शंकररूपिणम् उसे इसलिए कहा गया, क्योंकि वह ज्ञान का कल्याणकारी उपयोग करता है। अंतः में स्थित आत्मतत्त्व को अनुभव कराने एवं ईश्वर का साक्षात्कार कराने में गुरु की प्रमुख भूमिका होने से उन्हें शिव रूप उद्बोधन उचित ही दिया गया है।

विद्याधनः पुलस्त्यः स पप्रच्छ मुनिपुंगवः।

कात्यायनं महर्षिं तं लोकमंगलकाम्यया ॥ २७ ॥

पुलस्त्य उवाच

बोध्यतां स उपायो नो देव! विद्यालये तु यः।

अतिरिक्ततयाऽधीतेर्विद्यालाभाय युज्यते ॥ २८ ॥

उच्चां शिक्षां समासाद्य केवलं नैतिकोऽपि तु।

नरः श्रद्धास्पदं स्थानं श्रेयसामधिकारिताम् ॥ २९ ॥

उपायास्ते विबोध्या नो यैः स्युः सर्वा हि व्यक्तयः।

नृपशुत्वपिशाचत्वप्राप्तेर्वै रक्षिताः स्वयम् ॥ ३० ॥

नरनारायणत्वं वा नरत्वं प्रापितुं भवेत्।

संभवं येन सिद्ध्येच्च जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥ ३१ ॥

टीका—लोकमंगल की कामना से विद्या के धनी ऋषिवर पुलस्त्य ने महर्षि कात्यायन से पूछा, हे देव वह उपाय बताइए, जिन्हें पाठशाला में अध्यापन कृत्य के अतिरिक्त भी विद्या लाभ करने के लिए प्रयोग में लाना पड़ता है। मात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करने भर से ही किसी को श्रद्धास्पद श्रेयाधिकारी बनने का अवसर नहीं मिलता, अतः कृपया उन प्रयोगों को बताएँ, जिनके माध्यम से व्यक्ति को नर-पशु और नर-पिशाच बनने से रोका जा सके, नर-मानव और नर-नारायण के स्तर तक पहुँचाया जा सके, जिससे जीव ब्रह्म है, यह सिद्धांत व्यावहारिक रूप से सिद्ध हो जाए ॥ २७-३१ ॥

कात्यायन उवाच

दैवे तु समुदायेऽयं मनुष्योऽनेकशस्त्रिहः।

सुसंस्कारयुतो नूनं क्रियते वृद्धिकाम्यया ॥ ३२ ॥

ताप्यते मानवो मध्ये प्रयोगाणां स ईदृशाम्।

अत्र षोडशवारं तु नश्येयुर्येन सञ्चिताः ॥ ३३ ॥

संस्कारा दूषिता दैववैशिष्ट्यस्यांकुराश्च ते।

उत्पद्येरन् मनुष्योऽयं देवत्वं यातु येन च ॥ ३४ ॥

संस्काराणां तथा धर्मानुष्ठानानां च विद्यते।

उपचारविधिः सर्वमान्यो लोके महत्त्ववान् ॥ ३५ ॥

टीका—कात्यायन बोले हे विद्वत्श्रेष्ठ देव समुदाय में मनुष्य को बार-बार सुसंस्कारित किया जाता है। हर व्यक्ति को सोलह बार ऐसे प्रयोगों के मध्य तपाया जाता है, जिनसे उनके संचित कुसंस्कार नष्ट हो सकें और दैवी विशेषताओं के अंकुर उग सकें, जिससे मनुष्य देवता बन सके। इसके लिए संस्कार धर्मानुष्ठानों के उपचार की महत्वपूर्ण प्रक्रिया सर्वविदित है ॥ ३२-३५ ॥

देव-संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है, जन्म से लेकर मृत्यु तक मानव जीवन को सार्थक बनाने हेतु संस्कारों द्वारा सतत शोधन एवं आत्मसत्ता के अभिवर्द्धन की अभिनव व्यवस्था। यह उस विद्यारूपी विभूति की विद्या है, जो गुरुकुल शिक्षण प्रणाली का अंग रही है। संस्कृति के अंतर्गत जीवन क्रम में इन्हें इस प्रकार समाविष्ट कर दिया गया है कि यथा समय वांछित श्रेष्ठ संस्कार व्यक्ति को स्वयमेव मिलते रहें। वेदांत की एकोऽहं द्वितीयो नास्ति अयमात्मा ब्रह्म वाली मान्यता ऋषियों को इसी प्रतिपादन हेतु प्रेरित करती रही है कि व्यक्ति जो अनगढ़ पशु के रूप में जन्मता है, सुसंस्कारों द्वारा देवमानव के रूप में पदोन्नत किया जा सकता है।

आयुर्वेदिक रसायन बनाने की अवधि में उन पर कितने ही संस्कार डाले जाते हैं। कई बार कई प्रकार के रसों में उन्हें खरल किया जाता है और कई बार उन्हें गजपुट द्वारा अग्नि में जलाया, तपाया जाता है, तब कहीं वह रसायन ठीक तरह तैयार होता है और साधारण सी राँगा, जस्ता, ताँबा, लोहा, अभ्रक जैसी कम महत्व की धातु चमत्कारिक शक्ति-संपन्न बन जाती है। ठीक इसी तरह मनुष्य को भी समय-समय पर विभिन्न आध्यात्मिक उपचारों द्वारा सुसंस्कृत बनाने की महत्वपूर्ण पद्धति भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने विकसित की थी। उसका परिपूर्ण लाभ उस देशवासियों से हजारों-लाखों वर्षों से उठाया है। यों किसी व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाने के लिए शिक्षा, सत्संग, वातावरण, परिस्थिति, सूझ-बूझ आदि अनेक बातों की आवश्यकता होती है। सामान्यतः ऐसे ही माध्यमों से लोगों की मनोभूमि विकसित होती है। इसके अतिरिक्त भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने मनुष्य की अंतःभूमि को श्रेष्ठता की दिशा में विकसित करने के लिए कुछ ऐसे सूक्ष्म उपचारों का भी आविष्कार किया है, जिनका प्रभाव शरीर तथा मन पर ही नहीं सूक्ष्म अंतःकरण पर भी पड़ता है और उसके प्रभाव से मनुष्य को गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से समुन्नत स्तर की ओर उठने में सहायता मिलती है।

मानव जीवन को पवित्र एवं उत्कृष्ट बनाने वाले आध्यात्मिक उपचार का नाम संस्कार है। महर्षि पाणिनी के अनुसार इस शब्द के तीन अर्थ हैं—(१) उत्कर्ष करने वाला

(उत्कर्षसाधनं संस्कारः) (२) समवाय अथवा संघात और (३) आभूषण। प्रत्येक मनुष्य जन्म के साथ कुछ गुण-अवगुण लेकर पैदा होता है। उस पर पूर्वजन्मों के विविध संस्कार छाए रहते हैं। वृद्धि के साथ उस पर नए-नए संस्कार भी पड़ते रहते हैं। अतः पुराने संस्कारों को प्रभावित करके उनमें परिवर्तन, परिवर्द्धन अथवा उनका उन्मूलन करना प्रतिकूल संस्कारों को विनष्ट कर अनुकूल संस्कारों का निर्माण करने का विधान ही संस्कार पद्धति कहलाता है। देव संस्कृति के अनुसार संस्कार १६ प्रकार के हैं, जिन्हें षोडश संस्कार कहते हैं। माता के गर्भ में आने के दिन से लेकर मृत्यु तक की अवधि में समय-समय पर प्रत्येक देव संस्कृति के आराधक को १६ बार संस्कारित करके, उसे देव मानव स्तर तक जा पहुँचने की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभावी प्रेरणा दी जाती है। यह संस्कार पद्धति सूक्ष्म अध्यात्म विज्ञान की अतीव प्रेरणाप्रद प्रक्रिया पर अवलंबित है। ऋषियों ने अपनी आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक शोधों के आधार पर इस पुण्य-प्रक्रिया का निर्माण किया है।

तत्र पुंसवनं नामकरणमन्नप्राशनम् ।
मुण्डनं चाऽपि दीक्षा च विद्याऽभ्यासस्तथैव च ॥ ३६ ॥
यज्ञोपवीतसंस्कारः पाणिग्रहणमेव च ।
वानप्रस्थो विवाहस्य जन्मनश्च दिनोत्सवौ ॥ ३७ ॥
ससमारंभमेते चेत्संस्कारा विहितास्ततः ।
व्यक्तिभ्यः परिवाराय समाजायापि प्रेरणा ॥ ३८ ॥
सुसंस्कारसमृद्धयर्थं मिलत्येव शुभावहा ।
क्रमेणाऽनेन भाव्यं च यथावंशपरंपराम् ॥ ३९ ॥
व्यवस्था कर्मकांडस्य विधेर्मन्त्रविधेस्तथा ।
एवं स्याच्च यथा तत्र स्याद्धि वातावृतौ शुभः ॥ ४० ॥
संचारः प्रेरणायास्तु सर्वमेतच्च मन्यते ।
तां चोपचरितुं युक्तं भावनायाः प्रगल्भताम् ॥ ४१ ॥

टीका—पुंसवन, नामकरण, अन्नप्राशन, मुंडन, विद्यारंभ, दीक्षा, उपनयन, विवाह, वानप्रस्थ, जन्मदिवसोत्सव, विवाह दिवसोत्सव आदि संस्कारों को समारोहपूर्वक करने से व्यक्ति, परिवार तथा समाज को सुसंस्कारिता संवर्द्धन की शिक्षा प्रेरणा मिलती है यह क्रम वंश परंपरा के साथ सदा चलना चाहिए। इन कृत्यों के कर्मकांड की विधि-व्यवस्था एवं मंत्र-प्रक्रिया ऐसी हो, जो उपस्थित वातावरण में उपयोगी प्रेरणा का संचार करे। उन्हें भावना क्षेत्र की प्रगल्भता के लिए समर्थ उपचार माना गया है ॥ ३६-४१ ॥

हमारी प्राचीन महत्ता एवं गौरव गरिमा को गगनचुंबी बनाने में जिन अनेक सत्प्रवृत्तियों को श्रेय मिला था, उसमें एक बहुत बड़ा कारण यहाँ की संस्कार पद्धति को भी माना जाता है। यह पद्धति सूक्ष्म अध्यात्म विज्ञान की अतीव प्रेरणाप्रद

प्रक्रिया पर अवलंबित है। वेद मंत्रों के सस्वर उच्चारण से उत्पन्न होने वाली ध्वनि तरंगें, यज्ञीय ऊष्मा के साथ संबद्ध होकर एक अलौकिक वातावरण प्रस्तुत करती है। जो भी व्यक्ति इस वातावरण में होते हैं या जिनके लिए उस पुण्य प्रक्रिया का प्रयोग होता है, वे उससे प्रभावित होते हैं। यह प्रभाव ऐसे परिणाम उत्पन्न करता है, जिससे व्यक्तियों के गुण, कर्म, स्वभाव आदि की अनेकों विशेषताएँ प्रस्फुटित होती हैं। संस्कारों की प्रक्रिया एक ऐसी आध्यात्मिक उपचार-पद्धति है, जिसका परिणाम व्यर्थ नहीं जाने पाता। व्यक्तित्व के विकास में इन उपचारों से आश्चर्यजनक सहायता मिलती देखी जाती है।

संस्कारों में जो विधि-विज्ञान हैं, उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव मनुष्य को सन्मार्गगामी होने के उपयुक्त बनाता है। संस्कार के मंत्रों में अनेक ऐसी दिशाएँ भरी पड़ी हैं, जो उन परिस्थितियों के लिए प्रत्येक दृष्टि से उपयोगी हैं। पुंसवन संस्कार के समय उच्चारण किए जाने वाले मंत्रों में गर्भवती के रहन-सहन, आहार-विहार संबंधी महत्वपूर्ण प्रशिक्षण मौजूद हैं। इस प्रकार विवाह में दांपत्य जीवन की, अन्नप्राशन में भोजन-छाजन की, वानप्रस्थ में सेवापरायण जीवन की आवश्यक शिक्षाएँ भरी पड़ी हैं। उन्हें यदि कोई प्रभावशाली वक्त। ठीक ढंग से समझाकर संस्कार के समय उपस्थित लोगों को बता सकें, तो जिनका संस्कार से संबंध है, उन्हीं को नहीं, वरन् दूसरे सुनने वाले लोगों को भी इस संदेश से आवश्यक कर्तव्यों का ज्ञान हो सकता है और वे भी जीवन को उचित दिशा में ढालने के लिए तत्पर हो सकते हैं।

वस्तुतः हर्षोत्सव के वातावरण में देवशक्तियों की साक्षी, अग्नि देव के सान्निध्य, धर्मभावना से अनुप्राणित वातावरण स्वजनों की उपस्थिति एवं भक्ति सिक्त कर्मकांड ये सब मिल-जुलकर संस्कारों से संबद्ध व्यक्ति को एक विशेष मनोभूमि में पहुँचा देते हैं। उस समय ली गई प्रतिज्ञा मन पर गहरा प्रभाव छोड़ती व व्यक्ति का कायाकल्प कर देती है।

व्यक्तिं कर्तुं सुसंस्कारयुतां ते षोडशाऽपि च ।
दश वा विहिता विज्ञैरुपचारास्तथैव तु ॥ ४२ ॥
भावनां तु समाजस्था समूहाश्रयिणीमपि ।
शालीनताऽनुकूलां च कर्तुं पर्वादि मन्यताम् ॥ ४३ ॥
प्रशिक्षणस्य चैतेषु मिलनार्चनयोरपि ।
ईशस्य विधेरस्ति समावेशो यमाश्रयन् ॥ ४४ ॥
लोकमानससंस्थास्ताः शक्या कर्तुं परम्पराः ।

बहूनि संति पर्वाणि दशमुख्यानि तेषु तु ॥ ४५ ॥
टीका—जिस प्रकार व्यक्ति को सुसंस्कारी बनाने के लिए षोडश अथवा दश उपचारों का विधान है, उसी प्रकार समाजगत सामूहिकता को शालीनता का पक्षधर बनाने के

४.२४ प्रज्ञोपनिषद्

लिए पर्व-आयोजनों का महत्व है। इनमें मिलन, पूजन, प्रशिक्षण की ऐसी विधि-व्यवस्था का समावेश है, जिनके सहारे सत्परंपराओं को लोकमानस में प्रतिष्ठित कराया जा सके। पर्व बहुत हैं, परंतु उनमें दस प्रमुख हैं ॥ ४२-४५ ॥

व्यक्तिगत दृष्टिकोण का परिष्कार करने के लिए जिस प्रकार पूजा-उपासना-पारिवारिक रीति-नीति को उत्कृष्ट बनाए रखने के लिए जिस प्रकार संस्कार प्रक्रिया है, ठीक उसी प्रकार समाज की समुन्नत और सुविकसित बनाने के लिए सामूहिकता, ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा, नागरिकता, परमार्थ-परायणता, देशभक्ति, लोकमंगल जैसी सत्प्रवृत्तियाँ विकसित करनी पड़ती हैं। उन्हें सुस्थिर रखना होता है। यह भी बार-बार स्मरण दिलाते रहने वाला प्रसंग है। इसी प्रयोजन के लिए देव संस्कृति में पर्व-त्यौहार मनाए जाते हैं। इन्हें सामाजिक संस्कार प्रक्रिया ही समझना चाहिए। साधना से व्यक्तित्व, संस्कारों से परिवार और पर्वों से समाज का स्तर ऊँचा बनाने की पद्धति दूरदर्शिता पूर्ण है, इसे हजारों-लाखों वर्षों तक आजमाया जाता रहा है। प्राचीन भारत की महानता का श्रेय इन छोटी दीखने वाली, किंतु प्रवृत्तियों में प्रखरता उत्पन्न करने वाली धर्म के नाम पर प्रचलित विधि-व्यवस्थाओं को ही है।

पर्वों की रचना इसी दृष्टि से हुई, कि प्राचीनकाल की महान घटनाओं एवं महान प्रेरणाओं का प्रकाश जनमानस में भावनात्मक एवं सामूहिक वातावरण के साथ उत्पन्न किया जाए। इसके लिए कितने ही पर्व त्यौहार प्रचलित हैं। उनमें से देश, काल, पात्र के अनुसार जब जहाँ जिसको प्रधानता देने की आवश्यकता समझी जाती है, उन्हें प्रधान और शेष को गौण मान लिया जाता है, एक ही क्षेत्र में एक ही काल में प्रचलित सैकड़ों पर्वों का मनाया जाना संभव नहीं, उनमें से स्थिति के अनुरूप कुछ को ही चुनना पड़ता है। देव संस्कृति में वस्तुतः प्रत्येक तिथि और वार को पर्व माना गया है और उसे मनाने के लिए विशेष धार्मिक विधान भी बतलाया है। इनके सिवाए देवताओं, अवतारों, महापुरुषों की स्मृति अथवा जयंती के लिए भी त्यौहार नियत किए गए हैं। कुछ अन्य पर्व जैसे सक्रांति, ग्रहण कुंभ आदि आकाश स्थित ग्रहों के योग और उनसे पृथ्वी पर पड़ने वाले शुभाशुभ प्रभाव दृष्टिगोचर रखकर मनाए जाते हैं। मुख्य रूप से इनमें से दस पर्व प्रमुख रूप में मनाए जाने योग्य हैं, जिनका वर्णन सत्राध्यक्ष ने इसी प्रसंग में आगे किया है।

ऋषिगणों ने आदिकाल में त्यौहार की स्थापना मुख्यतः निम्नलिखित उद्देश्यों को लेकर की थी—(१) जनता में जागृति, सद्भावना, ऐक्य, संगठन की वृद्धि करना, लोगों को सुसंस्कृत, शिष्ट और सुयोग्य नागरिक बनाना, उनमें सच्ची

सामाजिकता की भावना उत्पन्न करना, (२) किसी विशेष अवसर पर बड़े यज्ञ के लिए। यद्यपि शास्त्रों के मतानुसार यज्ञ शब्द का अर्थ परोपकार के कार्यों के लिए होता है, तथापि वैदिककालीन पर्वों और उत्सवों में यज्ञ का अर्थ बड़े हवन से, सामूहिक धर्मानुष्ठान से ही लिया जाता है। (३) किसी विशेष ऋतु के परिवर्तन या फसल के तैयार होने पर सामाजिक समारोह के रूप में। (४) सर्वसाधारण के मनोरंजन और हृदयोल्लास प्रकाश के लिए। (५) किसी युग-प्रवर्तक महापुरुष, अद्वितीय कर्मवीर, शूरवीर, प्रणवीर, दानवीर, महान विद्वान, आदर्श प्रतापी का अथवा किसी महान राष्ट्रीय घटना की स्मृति मनाने के निमित्त।

हमारे तत्त्ववेत्ता, पूज्यपाद ऋषि-महर्षियों के, ऊपर बतलाए पाँचों उद्देश्यों के अनुकूल अनेक त्यौहार और पर्व के दिवस नियत कर दिए हैं और उन सब में लौकिक कार्यों के साथ धार्मिक तत्त्वों का ऐसा समावेश कर दिया है, ताकि उनसे हमें अपने जीवन-निर्माण में सहायता मिले और समाज भी सुमार्ग पर अग्रसर हो सके। मनुष्य स्वभाव से ही अनुकरणशील प्राणी है। दूसरों को कोई शुभ काम करता देखकर उसके मन में भी वैसा ही काम करने की इच्छा स्वतः उत्पन्न होती है। यही मूल कारण था कि सामूहिक आयोजनों के रूप में पर्वोत्सवों का प्रचलन किया गया।

यहाँ स्पष्ट शब्दों में पर्वों की उपयोगिता समझाते हुए महर्षि कात्यायन कहते हैं कि लोकमानस के परिष्कार हेतु, सत्प्रवृत्ति विस्तार हेतु, श्रेष्ठ परंपरा स्थापना हेतु ही पर्वों का विधान देवसंस्कृति में रखा गया है। इनसे देव शक्तियों का पूजन, जन-साधारण के पारस्परिक सम्मिलन एवं लोकशिक्षण का त्रिविध प्रयोजन पूरा होता है। यह व्यवस्था इतनी सुनियोजित एवं वैज्ञानिक है कि इसकी उपादेयता से इंकार नहीं किया जा सकता। समाज के ढाँचे को सुव्यवस्थित बनाए रखने में पर्वों ने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

वसंतपंचमी दिव्या शिवरात्रिश्च होलिका।

सा रामनवमी पुण्या गायत्रीजयघोषिणी ॥ ४६ ॥

गुरुपूर्वापौर्णमासी श्रावणी च तथैव सा।

कृष्णजन्माष्टमी मान्या विजयादशमी तथा ॥ ४७ ॥

दीपावलीति सर्वेषु दशानामेव मुख्यतः।

महत्त्वं वर्तते तेन सोत्साहं पर्व मन्यताम् ॥ ४८ ॥

भावनापूर्वकं यत्र मानितानि समान्यपि।

इमानि तत्र संस्कार भावनोदेति चान्ततः ॥ ४९ ॥

सत्प्रवृत्तुदयश्चापि जायते मानवेषु सः।

प्रति व्यक्ति समाजं च यस्यापेक्षा मता बुधैः ॥ ५० ॥

टीका—वसंतपंचमी, शिवरात्रि, होली, रामनवमी, गायत्री जयंती, गुरुपूर्णिमा, श्रावणी, जन्माष्टमी, विजयादशमी, दीपावली

इन दस का विशेष महत्व है, अतः पर्वों को सोत्साह मनाया चाहिए। इन्हें जहाँ भावनापूर्वक मनाया जाता रहता है, वहाँ सुसंस्कारिता की उमंगें उठती रहती हैं और सत्प्रवृत्तियाँ पनपती रहती हैं, जिसकी आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति व समाज के लिए अनिवार्यतः होती है ॥ ४६-५० ॥

धर्म-धारणा को हर किसी के गले मात्र उपदेशों से नहीं उतारा जा सकता। व्यक्ति को अध्यात्म का मर्म समझाने, सही शिक्षा देने और सन्मार्ग पर चलाने का ऋषि प्रणीत मार्ग है धार्मिक कथाओं के कथन-श्रवण द्वारा सत्संग एवं पर्व विशेषों पर सोद्देश्य मनोरंजन। त्यौहार-व्रतोत्सव यही प्रयोजन पूरा करते हैं। पर्व-त्यौहार जन-जन में नैतिकता व सच्चरित्रता के भावों को जन्म देकर सांस्कृतिक पुनरुत्थान में सहायक भूमिका निभाते हैं।

उच्चस्तरा लोकशिक्षा समारोहसुयोजनैः।

जायते च प्रभावेण ह्येतेषां बहवस्त्वह ॥ ५१ ॥

फुल्लंति कुसुमानीव येऽविकासस्थिता नराः।

कथानां च पुराणानां महत्त्वं घटते ततः ॥ ५२ ॥

टीका—समारोह आयोजनों के माध्यम से उच्चस्तरीय लोकशिक्षण होता रहता है, तो उस ऊर्जा के प्रभाव से प्रभावित अनेकों अविकसित कलियों को भी पुष्पवत् खिलने का अवसर मिलता रहता है। कथा-पुराणों का उस दृष्टि से बहुत महत्व है ॥ ५१-५२ ॥

कीर्तनायोजनान्यत्र संगीतप्रमुखानि हि।

भवन्ति तस्य लोकस्य रञ्जनेन सहैव तु ॥ ५३ ॥

लाभः समन्वितो लोकमंगलस्यैष प्राप्यते।

धर्मप्रचारकेष्वत्र देवेषु च महर्षिषु ॥ ५४ ॥

अधिकैः कीर्तनस्यैषा संगीतस्यापि चाश्रिता।

विधा प्रभाविनी लोकशिक्षणे सरला च या ॥ ५५ ॥

टीका—कीर्तन-आयोजन संगीत प्रधान होते हैं और उनमें लोकरंजन के साथ लोकमंगल का समन्वित लाभ मिलता है। देवताओं, ऋषियों और धर्म-प्रचारकों में से अधिकांश ने संगीत कीर्तन की विधा को अपनाया और कथा-पुराण शैली का आश्रय लिया। लोकशिक्षण की दृष्टि से यह सरल और प्रभावी माध्यम है ॥ ५३-५५ ॥

नीतिधर्मसदाचाराद्युपयोगित्वमत्र तत्।

कथाऽऽख्यानदिभिर्नूतं जायते तु गृहे गृहे ॥ ५६ ॥

उपायाः सर्व एवैते युज्यन्ते लोकशिक्षणे।

सार्वभौमे ततो ज्ञेयान्येतान्यत्र समान्यपि ॥ ५७ ॥

टीका—घरों में कथा-कहानियों के द्वारा नीति, धर्म, सदाचार की उपयोगिता हर घर-परिवार में प्रकट होती रहती है। अस्तु उपायों को भी सार्वजनीन लोकशिक्षण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है ॥ ५६-५७ ॥

दृश्य-श्रव्य साधन एवं सामूहिक मिलन-आयोजन जनमानस के परिष्कार की दिशा में एक बड़ी भूमिका निभाते हैं। व्यक्ति अपने वास्तविक रूप में उत्कृष्टता का पक्षधर है। स्रष्टा की सर्वश्रेष्ठ कृति होने के नाते आदर्शवादिता, श्रेष्ठता की दिशा में अग्रसर होना ही उसकी अभिलाषा रहती है, किंतु यह अधिकांश में प्रसुप्त स्थिति में होते हैं। स्वभावतः जनमानस अनुकरणप्रिय होता है। अनगढ़ व्यक्ति पतनोन्मुख मात्र अनुकरण के कारण होता है। यदि उसे सही दिशा दी गई होती श्रेष्ठता का, शालीनता का पक्षधर सुसंस्कृत वातावरण मिला होता, तो वह भी अपने कुसंस्कारों की मलीनता धोकर ऊर्ध्वगामी हो सकता था। कथाओं को सुनना-सुनाना, पर्वोत्सवों को मनाना इसी उद्देश्य से देवसंस्कृति की आचार संहिता में सम्मिलित है कि वह जन समुदाय को लोकमंगल की ओर प्रवृत्त करता है।

अन्यान्य शिक्षण की विधाओं के साथ-साथ लोकशिक्षण के निमित्त, सत्प्रवृत्ति विस्तार के निमित्त जैसा वातावरण बनाया जाना अपेक्षित है, वह शब्द शक्ति की विद्या संगीत-संकीर्तन एवं कथा आयोजनों से सरलता से संपन्न किया जा सकता है। धर्मतंत्र से लोकशिक्षण की महत्ता इसी कारण अत्यधिक बताई जाती रही है।

भौतिकानां तथा राजनैतिकानां पुरा युगे।

आर्थिकानामपि क्षेत्रे समस्यास्तास्तु या मताः ॥ ५८ ॥

समाधानाय तासां च ज्ञापितुं ताः समा अपि।

राजसूयादियज्ञानां व्यवस्था महतामभूत् ॥ ५९ ॥

टीका—पुरातनकाल में भौतिक, राजनैतिक, आर्थिक क्षेत्र की समस्याओं के समाधान खोजने-बताने के लिए विशालकाय राजसूय यज्ञों के आयोजन होते थे ॥ ५८-५९ ॥

विपन्नतास्तु धार्मिक्यः सामाजिक्योऽपि ताः समाः।

अभूत्कर्तुं निरस्ताश्च वाजपेयेष्टियोजना ॥ ६० ॥

अतिरिक्तं चाग्निहोत्राज्ञानयज्ञप्रधानता ।

अभूत्तासु नरा एकविचाराः संगता यदा ॥ ६१ ॥

एकप्रकृतयश्चैकलक्ष्यपूर्त्यै ततो ध्रुवम्।

तच्चिन्तनं परिप्रेक्षानिर्धृतिं मृगयन्ति तु ॥ ६२ ॥

विधिं मानवकल्याणकारिणं फलतो भवेत्।

प्रगतेः सार्वभौमाया द्वारं भव्यमनावृतम् ॥ ६३ ॥

निवृत्तेः संकटानां च प्रशस्तोऽध्वा च जायते।

विभिन्नेषु च तीर्थेषु तथा पर्वसु चेदृशाम् ॥ ६४ ॥

यज्ञानां करणस्येयमृषिभिस्तु परंपरा।

दूरदर्शिभिरेतस्माद्धेतोः संचालिता शुभा ॥ ६५ ॥

कुंभपर्वणि तीर्थेषु विभिन्नेषु सचेतनैः।

सम्मेलनैः क्रियन्ते स्म तत्र चायोजितानि तु ॥ ६६ ॥

टीका—धार्मिक एवं सामाजिक विपन्नताओं को निरस्त

४.२६ प्रज्ञोपनिषद्

करने के लिए वाजपेय यज्ञों का प्रचलन था। उनमें अग्निहोत्र के अतिरिक्त ज्ञानयज्ञ की प्रधानता रहती थी। एक विचार के एक स्वभाव के व्यक्ति जब एक लक्ष्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए एकत्रित होते हैं, तो उनका चिंतन, पर्यवेक्षण और निर्धारण कल्याणकारी उपाय खोजता है। फलतः सर्वतोमुखी प्रगति का द्वार खुलता है, संकट के निवारण का मार्ग प्रशस्त होता है। विभिन्न पर्वों पर विभिन्न तीर्थों में ऐसे ज्ञान यज्ञ करते रहने की परंपरा दूरदर्शी ऋषियों ने इसी हेतु चलायी। कुंभ पर्वों को ऐसे ही प्राणवान सम्मेलनों के रूप में आयोजित किया जाता था ॥ ६०-६६ ॥

देवसंस्कृति में धर्मानुष्ठानों के रूप में सामूहिक यज्ञायाजनों की महत्ता है। यज्ञ का अर्थ दान, देवपूजन के अतिरिक्त संगतिकरण भी है। संगतिकरण अर्थात् एक उद्देश्य के लिए, एक विचारधारा वाले व्यक्तियों का सोद्देश्य मिलन। यज्ञ में प्रक्रिया भले ही अग्निहोत्र-कर्मकांड के रूप में हो, पर उनके उद्देश्य के अनुरूप उनके स्वरूप में अंतर होता है। सामूहिक संयोजन, जन साधारण का संयुक्तीकरण हमेशा श्रेष्ठ परिणतियाँ अपने साथ लेकर आता है। विधाता की भी सदैव यही इच्छा रही है कि मनुष्य मात्र मिल-जुलकर श्रेष्ठ पथ पर अग्रसर हों।

मेलापकैः क्रियन्ते स्म धार्मिकैर्देवसंस्कृतेः।

उन्नेतेर्हंतवेऽनेके भव्यास्तत्र पुरोगमाः ॥ ६७ ॥

दिनेषु येषु चाभूवन् धार्मिकायोजनानि तु।

स्थाने स्थाने झटित्येषु दिवसेषु तदा तु सा ॥ ६८ ॥

धर्मधृतेः प्रौढताऽथ प्रखरत्वमितस्ततः।

सर्वत्र ददृशे येन सदाचारोऽभिवर्धते ॥ ६९ ॥

टीका—धार्मिक मेले देवसंस्कृति के उन्नयन की आवश्यकता विभिन्न मनोरंजक कार्यक्रमों द्वारा संपन्न करते थे। जिन दिनों ऐसे छोटे-बड़े धर्म आयोजन स्थान-स्थान पर जल्दी-जल्दी होते रहते थे, उन दिनों धर्म-धारणा की सर्वत्र प्रौढता प्रखरता दृष्टिगोचर होती थी, जिससे सदाचार में वृद्धि होती रही ॥ ६७-६९ ॥

अमुकेषु हि तीर्थेषु पर्वस्नानदिनेषु तु।

गमने महत्त्वसंख्यानां दृष्ट्या चैवैतया कृतम् ॥ ७० ॥

धर्मप्रेमाण एतस्मिन् समये स्युरुपस्थिताः।

संख्यायां विपुलायां ते विचाराणां परस्परम् ॥ ७१ ॥

विनिमयेन समर्थेन मार्गदर्शनकेन च।

उद्दिश्य प्रगतिं चाऽत्र कालिकीं किञ्चिदेव च ॥ ७२ ॥

उच्चस्तरं चिंतयेयुः कुर्युर्निर्धारणं तथा।

महत्त्वपूर्णं राष्ट्रं स्यादेकताबद्धमंततः ॥ ७३ ॥

टीका—पर्व-स्नान के लिए अमुक तीर्थों में पहुँचने का माहात्म्य इसी दृष्टि से कहा गया है कि धर्म प्रेमी इन अवसरों

पर बड़ी संख्या में पहुँचा करें और परस्पर विचार-विनिमय एवं समर्थ मार्गदर्शन में सामयिक प्रगति के लिए कुछ उच्चस्तरीय सोचा और महत्वपूर्ण निर्धारण किया करें, जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्र एकता के सूत्र में बँधा रहे ॥ ७०-७३ ॥

कार्यान्वितं विधातुं च तद्धि निर्द्धारणं ततः।

समूहसहयोगेन योजनाबद्धरूपतः ॥ ७४ ॥

व्यवस्था संभवेत्तत्र यतः प्राणा इव स्मृता।

समूहशक्तिर्देव्यास्तु संस्कृतेरुत्तमा नृणाम् ॥ ७५ ॥

आधारमिममाश्रित्य दुर्गा तामवतार्य च।

मुक्ता विपद्भ्यो देवास्ते गतं वर्चस्वमाप्नुवन् ॥ ७६ ॥

सत्प्रवृत्तिमिमां कर्तुं स्थिरामुद्बोद्धुमप्यथ।

धर्मोत्सवा महत्त्वेन पूर्णाः सामूहिका मताः ॥ ७७ ॥

टीका—साथ ही उस निर्धारण को कार्यान्वित करने के लिए सामूहिक सहयोग से योजनाबद्ध व्यवस्था भी बन जाया करे। सामूहिकता देव-संस्कृति का प्राण है इसी आधार पर दुर्गा का अवतरण करके देवताओं ने विपत्ति से छुटकारा पाया और अपना खोया हुआ वर्चस्व लौटाया था। इस सत्प्रवृत्ति को बनाए रहने और उभारने के लिए सामूहिक धर्मोत्सवों को अत्यधिक महत्वपूर्ण पाया गया ॥ ७४-७७ ॥

सामूहिक आयोजनों के रूप में यज्ञादि के अतिरिक्त कुंभ मेलों, विभिन्न संस्कारित सिद्धपीठों-तीर्थस्थलों पर स्नानादि के लिए एकत्र होने के पीछे सबसे महत्वपूर्ण सूत्र एक ही रहा है धर्म-धारणा का चहुँ ओर विस्तार। इसके अतिरिक्त ऋषिगणों का चिंतन सांस्कृतिक एकता पर केंद्रित रहा है। भिन्न-भिन्न रीति रिवाज, प्रचलन, परिवेश एवं स्थान विशेष की विशेषता के कारण पायी जाने वाली भिन्नता के बावजूद इस राष्ट्र की एक विशेषता रही है, विभिन्नताओं में भी एकता। जहाँ सुदूर स्थानों से पहुँचे, अगणित व्यक्ति उच्चस्तरीय आध्यात्मिक मार्गदर्शन एक ही जगह बैठ कर प्राप्त करें, वही स्थान आरण्यक-तीर्थ कहलाता था। मात्र कर्मकांड के रूप में चिह्न-पूजा, उस कष्टसाध्य यात्रा का लक्ष्य बनाकर आज की परिस्थितियों में तो विडंबना भर बनकर रह गई है। उस उद्देश्य को भुला दिया गया है, जो कि परमपावन एवं दूरदर्शितापूर्ण था।

धर्मोत्सवस्य शृंगलायां नात्रशैथिल्यमापतेत्।

उद्दिश्यैतद् व्यधुर्ज्ञानसत्रं ते सूतशौनकाः ॥ ७८ ॥

मुनयो मनीषिणस्तत्र सञ्ज्ञान - परिपुष्टये।

आययुर्दूरदेशेभ्यस्तथा निश्चित्य शोभनम् ॥ ७९ ॥

स्थानं विशेषमेते च विद्वांसोऽकार्षुरेव तु।

आयोजनानि दिव्यानि चातुर्मासस्य संततम् ॥ ८० ॥

वर्षतौ न्यूनताऽस्त्येव कार्याणां तेन संगता।

तत्रत्य - जनता लाभमध्यगच्छततः सदा ॥ ८१ ॥

टीका—धर्मोत्सवों की शृंखला में शिथिलता न आने पाए इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए सूत शौनक आदि मिल-जुलकर विशालकाय ज्ञान यत्र चलाते रहे हैं। उनमें हजारों मुनि-मनीषी सद्ज्ञान संवर्द्धन के उद्देश्य से दूर-दूर से आकर सम्मिलित होते थे। विद्वान लोग स्थान विशेष का चुनाव करके वहाँ चातुर्मास आयोजन करते थे। वर्षा में काम कम रहने के कारण उन क्षेत्रों की जनता एकत्रित होकर उनका लाभ भी उठाती थी ॥ ७८-८१ ॥

जन चेतना सतत् जाग्रत रहे, सभी देश-क्षेत्रों के प्रतिनिधिगण एक स्थान पर एकत्र होकर विचार विनिमय कर सकें, इस प्रयोजन से ही छोटे क्षेत्रीय धर्मोत्सवों के आयोजनों की आवश्यकता समझी गई थी। इस उद्देश्य के लिए नियत पर्व पर नियत तीर्थ में प्रति वर्ष आयोजन का क्रम बनाया गया, ताकि यह क्रम निरंतर जारी रहे, धर्मधारणा शिथिल न होने पाए। यहाँ पर साधना-अनुष्ठान एवं ज्ञान यज्ञ की द्विविधि प्रक्रिया साथ-साथ चलती थी। सामयिक समस्याओं पर मूर्द्धन्य मनीषी गंभीर विचार-विनिमय कर किन्हीं निर्णय-निष्कर्षों पर पहुँचा करते थे। विद्वत्जन जो निर्धारण करते थे, उसे अपने-अपने क्षेत्र में संपन्न करने का दायित्व सुदूर स्थानों से आए व्यक्ति अपने कंधे पर लेकर प्रयाण करते थे।

सूत शौनिक किन्हीं व्यक्ति विशेषों का नाम नहीं है, अपितु ज्ञानयज्ञ आयोजित करने वाले, प्रश्नोत्तरी के माध्यम से समस्त समस्याओं का हल अध्यात्म दर्शन के प्रतिपादनों की सहायता से समझाने वाली मनीषी गणों को ही यह नाम दिया गया है। शौनिक जी प्रश्न पूछते थे एवं सूत जी उत्तर देते थे। यह पदवी मनीषा संपन्न कोई भी व्यक्ति धारण कर सकता था अथवा ऋषिगणों द्वारा यह पद उन्हें दिया जाता था। नैमिषारण्य तीर्थ में ऐसे सम्मेलन, उज्जयिनी हरिद्वार, प्रयाग एवं नासिक में कुंभपर्व के अवसर पर ज्ञान सत्रों, विशाल प्रज्ञा आयोजनों का क्रम सतत् चलता रहता था।

आयोजन - क्रमस्यात्र देवसंस्कृति - विस्तरे।

योगदानमभूद् भूय एष विद्यालयेष्वथ ॥ ८२ ॥

गुरुकुलेषु समेष्वेव पाठ्यमानस्य मन्यताम्।

पाठ्यक्रमस्य तुल्योऽयमायोजनबृहत्क्रमः ॥ ८३ ॥

टीका—देव संस्कृति के विस्तार में आयोजन प्रक्रिया का अत्यधिक योगदान रहा है। इसे विद्यालयों और गुरुकुलों में पढ़ाए जाने वाले पाठ्यक्रम के समतुल्य ही समझा जाना चाहिए ॥ ८२-८३ ॥

सेवानिवृत्त - निश्चिंता व्यक्तयोऽर्हन्ति कर्मणः।

संपादयितुमिमं पाठ्यक्रमं नियमतोऽनिशम् ॥ ८४ ॥

आरण्यकेषु गत्वा च गुरुकुलेष्वपि सक्षमाः।

वातावृतौ शुभायां ते वास - लाभं समर्जितुम् ॥ ८५ ॥

व्यस्तैर्न पुरुषैरेतच्छक्यं कर्तुं सदैव च।

जन-जागृतिहेतोश्च जगमानामभूततः ॥ ८६ ॥

ज्ञानयज्ञस्य धर्मानुष्ठानानां च परंपरा।

परिणामः शुभश्चास्या दृष्टः सर्वैरपिस्वयम् ॥ ८७ ॥

टीका—निवृत्त-निश्चिंत व्यक्ति आरण्यकों एवं गुरुकुलों में प्रवेश पाकर नियमित रूप से अधिक समय तक पाठ्यक्रम संपन्न कर सकते हैं और श्रेष्ठ वातावरण में देर तक निवास करने का लाभ उठा सकते हैं, किंतु व्यस्त लोगों के लिए वह सदा संभव नहीं हो पाता। इसलिए जन-जागरण के लिए चलते-फिरते समय-समय पर होने वाले ज्ञान यज्ञों-धर्मानुष्ठानों की परंपरा चली। इसका सत्परिणाम भी देखने को मिला ॥ ८४-८७ ॥

सांस्कृतिक चेतना का आलोक दिग-दिगंत में फैले, इस उद्देश्य से देव संस्कृति के निर्धारण अद्वितीय हैं। बालकों के नव निर्माण हेतु गुरुकुलों के समकक्ष ही निवृत्त व्यक्तियों के लिए आरण्यकों का प्रावधान है, जिसमें ऐसे व्यक्ति जो स्थाई रूप से समय दे सकने की स्थिति में हैं, पठन-पाठन की धर्मतंत्र से लोकशिक्षण की व्यवस्था निभाते हैं। जो व्यक्ति अधिक समय नहीं दे सकते, उनके लिए आंशिक समयदान के रूप में प्रज्ञा आलोक विस्तार का प्रावधान है। ऐसे व्यक्ति जो कहीं आ जा नहीं सकते, उन बादलों की तरह संत-परिव्राजक स्वयं पहुँचकर अलख जगाते, प्रसुप्त चेतना को झंकृत करने का कार्य क्षेत्रीय आयोजनों धर्मानुष्ठानों के माध्यम से अपनी मुखर वाणी एवं संकीर्तन यज्ञायोजनों आदि के द्वारा संपन्न करते थे।

आज की परिस्थितियाँ भी ऐसी हैं, जिसमें ऐसे अग्रदूतों की आवश्यकता है, जो युग परिवर्तन प्रक्रिया के कार्यान्वयन हेतु अग्रदूत की भूमिका निभा सकें, युग की पुकार सुनते हुए स्वयं पार उतरने व अनेकों को नाव में बिठाकर पार करने का पुरुषार्थ संपन्न कर सकें।

विधिनोद्देश्यपूर्णं यावदेष क्रमोऽचलत्।

वातावृतौ तु देवत्वं तावच्छत्रायितं ह्यभूत् ॥ ८८ ॥

जनानां जीवने तस्यददृशेऽप्युदगतिः सदा।

प्रमादात्सर्वमेवैतन्निरुद्देश्यामथापि च ॥ ८९ ॥

स्थितिं प्रहसनानां तु याति, सेव च जायते।

परिणतिर्भारभूतानां मनोरंजनकर्मणाम् ॥ ९० ॥

पुरेव कर्तुमुद्देश्यपूर्णमेनं क्रमंबुधाः।

युज्यते, परिवर्त्यश्च कालेऽस्मिन् विद्यतेत्वयम् ॥ ९१ ॥

एतदर्थं च विज्ञास्तु गृहीत्वा दूरदर्शिताम्।

कुर्युर्यत्नं च संस्कर्तुं येनैषा देवसंस्कृतिः ॥ ९२ ॥

पुनः जीव्यादनेनैव जीवितुं युज्यतेऽपि च।

४.२८ प्रज्ञोपनिषद्

कल्याणं भविता तेन मर्त्यमात्रस्य निश्चितम् ॥ ९३ ॥

टीका—जब तक यह सत्र उद्देश्य पूर्ण ढंग से चलता रहा जब तक वातावरण में देवत्व छाया रहा और जन-जीवन में उसका उभार दृष्टिगोचर होता रहा। अब प्रमादवश वह सब निरुद्देश्य और प्रहसन मात्र बनता जा रहा है। फलतः उसकी परिणति भी भारभूत मनोरंजनों जैसी होती जा रही है। इसे बदलने और पुरातनकाल की तरह उद्देश्य पूर्ण बनाने की आवश्यकता है। विज्ञजनों को इसके लिए दूरदर्शिता अपनाकर सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। देवसंस्कृति का पुनर्जीवन इसी प्रकार बन पड़ेगा। तभी मानव मात्र का कल्याण हो सकेगा ॥ ८८-९३ ॥

पर्व, संस्कार, सामूहिक, धर्मानुष्ठान, धर्म धारणा का प्रसार-विस्तार परिब्रज्या पद-यात्रा, संस्कृति के इन सभी उपादानों के मूल में जो तत्त्वदर्शन था, उसका उद्देश्य था सत्प्रवृत्तियों से भरा उत्कृष्ट वातावरण-मानव में देवत्व एवं धरती पर स्वर्ग का अवतरण। इन दिनों जो परिस्थितियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे संस्कृति के शाश्वत मूल्यों के प्रति अनास्था की ही परिणतियाँ हैं। उद्देश्य को भूलकर मात्र चिह्न पूजा तक सीमित मानव समयक्षेप एवं अनावश्यक धन खर्च करता तो देखा जा सकता है, पर कलेवर में प्राण न होने के कारण उसके परिणाम हाथ लगते नहीं। फलतः

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते संस्कारपर्व-माहात्म्ये इति प्रकरणो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

निराशा हाथ लगती व नास्तिकता बढ़ती चली जाती है। समय की आवश्यकता है कि संस्कृति की अवधारणाओं को सोद्देश्य बनाकर जन-जन के गले उतारा जाए, ताकि मानव जाति आस्था संकट की विभीषिका से उबर सके।

तृतीयस्य दिनस्येदं मार्गदर्शनमुत्तमम्।

जातं रुचिकरं तेषां सर्वैस्तैर्निश्चितं ततः ॥ ९४ ॥

निवृत्त्यातो विधास्यामः कार्यक्षेत्रेषु स्वेषु तु।

धर्मायोजन कार्याणि सोद्देश्यानि तथैव च ॥ ९५ ॥

जनजागृतिजं पुण्यलाभं प्राप्याम उत्तमम्।

प्रसन्नश्चांतरात्मा स्याज्जनता सेविता भवेत् ॥ ९६ ॥

टीका—तीसरे दिन का यह मार्गदर्शन सभी को बहुत भाया और सभी ने निश्चय किया कि वे लौटने के उपरांत अपने-अपने कार्यक्षेत्रों में धर्मायोजनों का उद्देश्यपूर्ण प्रचलन निर्धारण करेंगे और जन-जागृति का पुण्य लाभ लेंगे, इससे अंतरात्मा तृप्त होगी व जनता-जनार्दन की सेवा भी होगी ॥ ९४-९६ ॥

सत्रे विसर्जिते सर्वे कुटीरास्तेऽगमस्ततः।

अभिवादनपूर्वं च सायं संध्यामुपासितुम् ॥ ९७ ॥

टीका—सत्र का विसर्जन हुआ। लोग अभिवादनपूर्वक सायंकाल की क्रिया-प्रक्रिया को संपन्न करने के लिए अपने-अपने निवास-कुटीरों में चले गए ॥ ९७ ॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

तीर्थ-देवालय प्रकरण

प्रारब्धं ज्ञानसत्रं तु चतुर्थस्य दिनस्य च।

पूर्ववत्सन्निधौ तत्र प्रकृते रम्यता भूतः ॥ १ ॥

ज्ञानगोष्ठ्यः शुभारंभकाले चाध्यापकस्तु सः।

शांडिल्यः करबद्धः सन्नुत्थितोऽध्यक्षमुक्तवान् ॥ २ ॥

टीका—चौथे दिन का ज्ञान-सत्र फिर पिछले दिन की भाँति ही प्रकृति के सान्निध्य में आरंभ हुआ। आज की ज्ञान-गोष्ठी के शुभारंभ अवसर पर प्राध्यापक शांडिल्य ने खड़े होकर सत्राध्यक्ष से करबद्ध होकर पूछा ॥ १-२ ॥

शांडिल्य उवाच

देवालयस्थापनाया महत्त्वं देवसंस्कृतौ।

दृश्यतेऽत्यधिकं संति मंदिराणि स्थले स्थले ॥ ३ ॥

बाहुल्यस्यास्य हेतुं तु ज्ञातुं सर्वे समुत्सुकाः।

अनेके किं च गृह्णन्ति कष्टसाध्यं जनाः समे ॥ ४ ॥

विधिं तं तीर्थयात्रायाः कालं वित्तं तथा श्रमम्।

अर्पयन्त्ये तदर्थं च को लाभोऽनेन कीदृशः ॥ ५ ॥

कथं च तीर्थयात्रायाः शास्त्रकारैर्निरूपितम्।

देवदर्शनसंभूतं महत्त्वं विपुलं तथा ॥ ६ ॥

तन्निमित्तं किमौत्सुक्यं धर्मप्रेमिषु दृश्यते।

जनेषु कृपयैतच्च रहोऽस्माकं विबोध्यताम् ॥ ७ ॥

टीका—शांडिल्य ने पूछा, हे महाभाग! देवसंस्कृति में देवालयों की स्थापना का महत्त्व देखा जाता है। स्थान-स्थान पर अनेकानेक मंदिर बने हैं। इस बहुलता का क्या कारण है, सो जानने के लिए हम सब बहुत उत्सुक हैं। साथ ही यह भी जानना चाहते हैं कि तीर्थयात्रा की कष्टसाध्य प्रक्रिया को क्यों अनेकानेक लोग अपनाते हैं? क्यों श्रम, समय और धन इस निमित्त लगाते हैं? इससे उन्हें किस प्रकार क्या लाभ होता है? शास्त्रकारों ने क्यों देव-दर्शन और तीर्थयात्रा का इतना

महत्त्व बताया है कि उनके निमित्त धर्मप्रेमियों में इतनी उत्सुकता पाई जाती है? कृपया इस रहस्य का विस्तारपूर्वक उद्घाटन करें ॥ ३-७ ॥

सामान्य रूप से मंदिरों और तीर्थों का महत्त्व सब जानते हैं, किंतु ऋषि उस मर्म को समझना चाहते हैं, जिस कारण शास्त्रों में और लौकिक प्रचलनों में इन्हें इतना महत्त्व दिया गया।

भारतीय संस्कृति में तो इनका महत्त्व है ही, अन्य संस्कृतियों में, जिनमें मूर्ति प्रतीक पूजा को मान्यता नहीं दी गई, उनमें भी देवस्थलों, मस्जिदों, गिरिजाघरों, स्तूपों, विहारों के रूप में देवस्थल बनाए गए हैं। इसी प्रकार कोई ऐसा संप्रदाय नहीं, कोई ऐसी संस्कृति नहीं, जिसमें तीर्थों की स्थापना तथा उनकी यात्रा को महत्त्व न दिया गया हो।

कात्यायन उवाच—

अस्ति श्रेयस्करी विद्वन् जिज्ञासा भवतस्त्वयम्।

ये श्रोष्यन्ति समाधानं त्वस्य प्रश्नस्य ते जनाः ॥ ८ ॥

लाभान्विता भविष्यन्ति लक्ष्यं प्राप्स्यन्ति जीवने।

भवद्भिः सावधानैश्च श्रूयतां सर्वमादितः ॥ ९ ॥

टीका—कात्यायन बोले, हे मनीषी आपकी जिज्ञासा सब प्रकार श्रेयस्करी है। जो इसका समाधान सुनें वे सभी इससे बहुत लाभान्वित होंगे व जीवन लक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे। आप लोग ध्यानपूर्वक सुनें ॥ ८-९ ॥

उद्घोषकाः प्रवक्तारो वोढारो देवसंस्कृतेः।

उच्यन्ते ब्राह्मणा येषां वर्गभेदो द्विधा मतः ॥ १० ॥

आश्रमस्थास्तु तत्रैकेऽपरे पर्यटकास्तथा।

मुनयो मनीषिणस्त्वाद्याः कथ्यन्ते चाऽपरे तु ते ॥ ११ ॥

संन्यासिनो वानप्रस्था उभयोर्मिलितस्तु सः।

समुदाय इह प्रोक्तः साधुरित्यविशेषतः ॥ १२ ॥

अस्य वर्गस्य दिव्या सा प्रखरता देवसंस्कृतिम्।

प्रखरां व्यापकां चक्रे तथैव च समुन्नताम् ॥ १३ ॥

टीका—देवसंस्कृति के भारवाहक, उद्घोषक, प्रवक्ता वर्ग को ब्राह्मण कहते हैं। उनके दो वर्ग हैं—आश्रमवासी और पर्यटक। आश्रमवासियों को मुनि-मनीषी कहते हैं और परिव्राजकों को वानप्रस्थ-संन्यासी। इन दोनों का सम्मिलित समुदाय साधु नाम से जाना जाता है। इस वर्ग की प्रखरता ने ही देवसंस्कृति को समुन्नत, प्रखर और व्यापक बनाया है ॥ १०-१३ ॥

महामानवसंज्ञाश्च मानवेभ्यः सदा त्विमे।

देवसंस्कृतिपक्षस्थ विकासाभ्यासयोः कृते ॥ १४ ॥

सुविधा प्रददत्यत्र गृहस्था गुरुकुलस्य च।

आरण्यकस्य मार्गेण विरक्तास्तीर्थयात्रया ॥ १५ ॥

टीका—ये महामानव मनुष्य मात्र को देव संस्कृति के

अनुरूप अभ्यास और विकास की सुविधाएँ प्रदान करते थे। इनमें से गृहस्थ गुरुकुलों एवं आरण्यकों के माध्यम से तथा विरक्त तीर्थ यात्राओं के द्वारा यह क्रम निभाते थे ॥ १४-१५ ॥

ऋषियों ने साधु-संतों ने किस आधार पर भारतभूमि के निवासियों को देवता स्तर का बनाया था। यह उनके जीवनयापन की रहन-सहन, आचार-व्यवहार की शोध करने पर प्रतीत होता है। उनमें से अधिकांश के विशालकाय आश्रमों में से कुछ में गुरुकुल चलते थे कुछ में आरण्यक। गुरुकुल ब्राह्मण वर्ग के ऋषि चलाते थे, और आरण्यक तपस्वी स्तर के। गुरुकुलों में विद्यार्थी पढ़ते थे और आरण्यकों में वानप्रस्थी। बच्चों को गुरुकुलों में इसलिए नहीं भेजा जाता था कि वहाँ कुछ अतिरिक्त पढ़ाई होती थी वरन् वातावरण की विशेषता को ध्यान में रखकर ही विचारवान व्यक्ति अपने बालकों को वहाँ पढ़ने भेजते थे। यद्यपि सुख सुविधा की दृष्टि से वहाँ कठिनाई ही रहती थी। कठिनाई की परिस्थिति में जीवन विकास का प्रशिक्षण होना, विज्ञानों की दृष्टि में एक सौभाग्य है। दरिद्रता में पिछड़ेपन में कष्ट सहना एक बात है और आदर्शों के परिपालन की साधना के निमित्त तितिक्षा भरा जीवनयापन करना दूसरी। दरिद्रता के साथ जुड़ी हुई हीनता व्यक्तित्व को दबोचती है। किंतु आदर्श पालन के साथ जुड़े हुए कष्ट सहन से प्रतिभा और प्रखरता निखारने का अवसर मिलता है। प्राचीनकाल में गृहस्थ ब्राह्मणों के संचालकत्व में गुरुकुल चलते थे। बौद्धिक शिक्षण ऋषि करते थे और दुलार भरा व्यवहार ऋषिकाएँ सिखाया करती थीं। ऋषि उनकी चेतना जगाते थे ऋषिकाएँ उपयुक्त व्यवस्था बनातीं। दोनों के सहयोग से ऐसे गुरुकुल चलते थे, जिनमें पढ़ने के उपरांत जो भी छात्र अपने घरों को लौटते थे, नर रत्न होते थे। उनमें महामानवों के सारे गुण भरे रहते थे। व्यवसाय की दृष्टि से वे जो भी करें, परिष्कृत व्यक्तित्व जुड़ा रहने के कारण वे सामान्य काम भी व्यक्ति और समाज की सुख-शांति का सर्वतोमुखी अभिवर्द्धन करते थे।

लक्ष्मण जी ने महर्षि विश्वामित्र से पूछा गुरुवर! आप ऋषिगण सबके कल्याण की कामना से तप करते हैं, किसी का अहित नहीं चाहते, फिर क्यों असुर आपको सताते हैं?

महर्षि बोले, हे तात्! असुर सबका कल्याण नहीं, अपनी मनमानी चलाना चाहते हैं। आश्रमों में जो श्रेष्ठ व्यक्तित्व तैयार होते हैं, उनके बीच असुरों को अपनी माया चलाने में कठिनाई होती है। इसीलिए वे देव संस्कृति के विकास स्रोतों इन आश्रमों पर प्रहार किया करते हैं।

गुरुकुल वासियों के अतिरिक्त संतों की कितनी मंडलियाँ प्रायः परिभ्रमण करती रहती हैं। आश्रम बनाकर एक ही स्थान पर जमे रहने वाले आचार्य तो केवल वे ही होते थे जो

४.३० प्रज्ञोपनिषद्

शोध कार्य चलाते थे, उन्हीं के लिए स्थान विशेष पर अपना अन्वेषण केंद्र, प्रयोग परीक्षण चलाने की सुविधा मिलती थी। शेष सभी संत, धर्म प्रचारक की भूमिका निभाते थे। परिव्राजक स्तर का ही उनका स्वरूप और कार्यक्रम रहता था। रामायण में लिखा है

सनमान निरादर आदर ही सम संत सुखी विचरंतमही।

निर्वहन्ति क्रमं चैनं तत्र देवालय इमे।

आश्रमेषु पुरेष्वेवाभूवन् ग्रामेषु तेषु च॥ १६॥

एतेषामुपयोगश्च श्रद्धाया वृद्धये तथा।

सदाचारस्य वृद्धयर्थं भवन्ति स्म निरंतरम्॥ १७॥

टीका—देवालय भी ऐसे ही उद्देश्यों के लिए आश्रमों में, नगरों और ग्रामों में भी होते थे। इनका उपयोग श्रद्धा एवं सदाचार संवर्द्धन के लिए सदैव होता था॥ १६-१७॥

धर्म केंद्र एक क्षेत्र में विनिर्मित होते और उनके द्वारा धर्म धारणा को जीवंत रखने का उत्तरदायित्व दूर-दूर के क्षेत्र में सधता है। जिलाधीश पूरे जिले को सँभालता है और तहसीलदार अपनी तहसील को। इसी प्रकार धर्म क्षेत्र की सुव्यवस्था, उपयोगिता एवं सर्वतोमुखी प्रगति साधना में छोटे-बड़े धर्म केंद्रों को निरत रहना पड़ता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए तत्त्वदर्शियों ने उनकी स्थापना की थी।

धर्म संस्थानों के दो रूप हैं, एक स्थानीय-क्षेत्रीय-सीमित। दूसरा व्यापक, समर्थ एवं बहुउद्देशीय। क्षेत्रीय देवालय कहलाते हैं। भगवान् सर्वव्यापी होने से निराकार हैं। पर उनकी साकार स्थापना इसलिए करनी पड़ती है कि सूक्ष्म दर्शन में असमर्थ सामान्य बुद्धि को प्रत्यक्ष दृश्य देखकर स्मरण हो उठे, आकर्षण बढ़े और प्रेरणा जगे। देवालयों की स्थापना इसलिए होती है, कि उन केंद्रों से संपर्क रखने वालों को संपर्क साधते रहकर आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता की त्रिवेणी का नियमित रूप से अवगाहन करने का अवसर मिलता रहे। प्रातः से लेकर सायंकाल तक देवालयों में चलने वाली गतिविधियों का उद्देश्य यही था कि उस क्षेत्र में समुदाय का लोकमानस श्रद्धा, प्रज्ञा और निष्ठा की दृष्टि से उच्चस्तरीय बना रहे। सर्वजनीन चिंतन एवं चरित्र का उत्कृष्टता के साथ सघन संबंध बना रहे।

प्रतीकपूजामाश्रित्य चलिता पद्धतिस्त्वियम्।

भारतीयस्य धर्मस्य शिक्षणस्य समुज्ज्वला॥ १८॥

धर्माध्यात्मरहस्त्वत्र प्रतीकप्रतिमाध्वना।

बोधितं, देवतानां तां आकृतीनां विभिन्नता॥ १९॥

आयुधानि तथा वाहा संति तेषां तु ये तथा।

अनेकमुखहस्ताश्च सर्वेषामेव निश्चये॥ २०॥

उद्देश्यत्वेन भावोऽयं विद्यते तत्र सुदृढः।

परंपराभिराबद्धैर्देवानां नियमैस्तथा।

तथ्यैः सर्वाञ्जनान् बोद्धुं साधारणमतीनपि।

उत्साहवर्धकं स्याच्च सदैवाकर्षणं महत्॥ २२॥

टीका—भारतीय धर्म की शिक्षण-पद्धति प्रतीक पूजा के रूप में प्रचलित हुई है। धर्म और अध्यात्म के रहस्यों को भारतीय धर्म में प्रतीक-प्रतिमाओं के माध्यम से समझाया गया है। देवताओं की विभिन्न आकृतियाँ, उनके आयुध, वाहन एवं अनेक मुख, हाथ निर्धारित करने के पीछे यह उद्देश्य है कि देव परंपराओं के साथ जुड़े हुए नियमों, तथ्यों रहस्यों से सर्वसाधारण को समझने-समझाने का उत्साहवर्द्धक आकर्षण बना रहे॥ १८-२२॥

बच्चों को अक्षरों की पहचान क कबूतर ख खरगोश आदि प्रतीकों के माध्यम से कराई जाती है। आजकल तकनीकी शिक्षण में भी यही पद्धति उपयोगी मानी जाती है। ऋषियों ने समष्टिगत चेतना और उसके अनुशासनों का बोध प्रतीक पूजा के माध्यम से कराया था। देव प्रतिमाओं में से कुछ के स्वरूप की विवेचना से यह तथ्य स्पष्ट होता है।

वस्तुतो भगवानेक एव स वर्ततेऽस्ति नो।

सहभागोऽपि वा कश्चित्तस्य नापि सहायकः॥ २३॥

एकाकी स समस्तं तज्जगत्स्थावरजंगमम्।

सृजत्यवत्यथांते च संहर्त्यात्मनैव च॥ २४॥

सत्ये तथ्येऽपि चैतस्मिन्नेकं सद बहुधा तु तत्।

विप्रा वदन्ति चैकं तु च्छुतावुक्तमनेकम्॥ २५॥

प्रत्यूर्मिसूर्यविंबस्य स्वतंत्रास्तित्वमुज्ज्वलम्।

इवास्तीदं विजानन्ति ये न ते भेदबोधिनाः॥ २६॥

परं विभिन्नताभिस्तु एताभिस्तत्त्वबोधजम्।

रहस्यं विविधं ज्ञातुं सुविधाः प्राप्नुवन्त्यलम्॥ २७॥

टीका—वस्तुतः भगवान् एक हैं। उसका न कोई साझेदार है, न सहायक। अकेला ही सृष्टि का सृजन, पालन और संचालन करता है तथा अंत में संहार भी करता है। इतने पर भी एक सद्भिप्रा बहुधा वदन्ति की श्रुति में एक को अनेक रूप में प्रस्तुत किया है। वह हर लहर पर स्वतंत्र सूर्य चमकाने की तरह है, जो इस तथ्य को जानते हैं, वे भगवान् की अनेक आकृतियों को देखकर भ्रम में नहीं पड़ते वरन्, इस विभिन्नताओं के माध्यम से तत्त्वज्ञान के अनेक रहस्यों को समझाने की सुविधा प्राप्त करते हैं॥ २३-२७॥

भगवान् को सर्व समर्थ एक मात्र सत्ता के रूप में व्यक्त करते हुए अनेक स्तुतियाँ की गई हैं। जैसे

व्यापक व्याप्त अखंड अनन्ता।

अखिल अमोघ शक्ति भगवंता॥

तथा

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतांतरात्मा।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

अर्थात् वह देव एक ही हैं, सर्वभूतों में व्याप्त हैं, गूढ़ हैं, सर्वव्यापी हैं, सभी जीवों का अंतरात्मा वही है, कर्मचेतना का संचालक वही है, सभी भूत उसी में निवास करते हैं, वही सबका साक्षी रूप है, एक मानव ही सब कुछ है, और सभी गुणों से परे है।

सर्वाऽपि प्रतिमा दृश्यं पाठ्यपुस्तकमस्ति हि ।
माध्यमेन च यस्यास्तु जीवनस्यात्र दर्शनम् ॥ २८ ॥
आत्मविज्ञानके संति रहांस्येतानि यानि तु ।
बोद्धुं शक्यानि तान्याशु बालबोध इवाञ्जसा ॥ २९ ॥
वयस्काः शिक्षिता एव पठितुं पुस्तकानि तु ।
समर्थाः परमेतासां प्रतिमानां स्वरूपतः ॥ ३० ॥
सामान्याः पुरुषाश्च स्युर्बहुज्ञातुं क्षमाः स्वयम् ।
एतादृशं स्वरूपं हि प्रतिमानां तु वर्तते ॥ ३१ ॥
अनेकत्वे चैकताया दर्शनस्येयमुत्तमा ।
पद्धतिर्विद्यतेऽपीह मनोरंजनकारिणी ॥ ३२ ॥
सारगर्भा दूरदर्शिभावगा व्यवहारगा ।
मनोविज्ञानबोधस्य ध्यानं संस्थापने कृतम् ॥ ३३ ॥

टीका—हर देव प्रतिमा एक दृश्यमान पाठ्यपुस्तक है। जिसके माध्यम से जीवन-दर्शन और आत्मविज्ञान के गूढ़ रहस्यों को बालबोध की तरह समझा और समझाया जा सकता है। पुस्तकें तो शिक्षित वयस्क ही पढ़-समझ सकते हैं, पर प्रतिमा-प्रतीकों के दृश्य स्वरूप के सहारे सामान्यजन भी बहुत कुछ जान और सीख सकते हैं, प्रतिमाओं का स्वरूप ही ऐसा है। अनेकता के बीच एकता देखने की यह पद्धति मनोरंजक भी है, और सारगर्भित भी, व्यावहारिक और दूरदर्शितापूर्ण भी। इस स्थापना में मानव-मनोविज्ञान का समुचित ध्यान रखा गया है ॥ २८-३३ ॥

लिपि की अपेक्षा प्रतीक चित्रों से शिक्षण अधिक अच्छा होता है। चित्रकथाएँ इसीलिए लोकप्रिय हैं। चुनावों में चुनाव चिह्नों का क्रम भी इसीलिए है, कि पढ़े-बेपढ़े सभी उसके माध्यम से प्रत्याशी को पहचान लें। मार्गों पर मोड़ पुल आदि के लिए भी प्रतीक चिह्न या चित्र अधिक उपयोगी माने गए हैं। इसी प्रकार भारतीय तत्वज्ञों ने गूढ़ मर्मों को देवमूर्तियों के माध्यम से समझाया है।

प्रत्येकस्य समीपस्थं सेवाक्षेत्रमपि त्विह ।
यदुच्यते मंडलं तज्जनजागृत्तिकारकः ॥ ३४ ॥
उत्तरदायित्वनिर्वाहकारणाद् धर्मधारणात् ।
मंडलाधीश एवाथ मंडलेश्वर एव वा ॥ ३५ ॥
कथ्यते, विस्तृतं यस्य क्षेत्रं स कथ्यते बुधैः ।
स महामंडलेशस्तु बहुमंडलशासकः ॥ ३६ ॥

टीका—हर देवालय का एक समीपवर्ती सेवाक्षेत्र भी निर्धारित होता है। इसे मंडल कहते हैं। मंडल क्षेत्र में जनजागृति

और धर्मधारणा का उत्तरदायित्व सँभालने वालों को मंडलाधीश या मंडलेश्वर कहते हैं। जिनका सेवाक्षेत्र बड़ा है, जो अनेक मंडलों की व्यवस्था सँभालते हैं, उन्हें महामंडलेश्वर कहते हैं ॥ ३४-३६ ॥

ऋषियों ने लोक चेतना जागरण के लिए एक व्यवस्थित तंत्र विकसित किया था। मंदिर और तीर्थ उसके संचालन केंद्र थे। जहाँ जैसे साधन तथा जिस प्रतिभा के लोकसेवी मिल जाते थे, वहाँ उसी स्तर का केंद्र विकसित कर दिया जाता था। निस्पृह लोकसेवियों द्वारा उस क्षेत्र का इतना हित साधन होता था कि ऐसे केंद्र स्थापित करने के लिए होड़ लग जाती थी।

दायित्वमनयोस्तत्र कर्तव्यं च द्विधैव तत् ।
विभक्तं तत्र तत्रत्य विधीनां निर्मितः सदा ॥ ३७ ॥
प्रशिक्षणपरा कार्या कथासत्संगयोरपि ।
विद्यालस्य धर्मानुष्ठानस्यापि विशेषतः ॥ ३८ ॥
व्यायामभवनस्याथ चिकित्सासद्मनोऽपि च ।
प्रखरत्वविनिर्माणं पुस्तकालयसंस्थिते ॥ ३९ ॥
द्वितीयं स्वस्यसंपर्कक्षेत्रे सद्वृत्तिवर्धकम् ।
पौरोहित्यस्य कर्मेतत्कर्तव्यं भवति प्रियम् ॥ ४० ॥
एतदर्थं जनैस्तत्र संपर्क साधितुं तथा ।
घनिष्ठतां विधातुं चानिवार्यत्वं मतं स्वतः ॥ ४१ ॥
यदर्थं यत्नशीलाश्च देवालयसुशासकाः ।
सदा संति ददत्येते महत्त्वमुभयोः स्थितम् ॥ ४२ ॥

टीका—इनका कर्तव्य उत्तरदायित्व दो भागों में बँटा रहता है। एक स्थानीय गतिविधियों को लोकशिक्षण परक बनाए रहना। वहाँ पाठशाला, व्यायामशाला, कथा-सत्संग, धर्मानुष्ठान, पुस्तकालय, चिकित्सालय आदि रचनात्मक गतिविधियों को प्रखर बनाए रहना। दूसरा संपर्क क्षेत्र में सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन का पौरोहित्य करना। इस निमित्त उस क्षेत्र की जनता के साथ संपर्क साधने और घनिष्ठता रखने की आवश्यकता पड़ती है, जिसके लिए देवालय के संचालक निरंतर प्रयत्नशील रहते हैं। वे स्थानीय और क्षेत्रीय व्यवस्था को समान महत्व देते हैं ॥ ३७-४२ ॥

मंदिर संचालकों को स्थानीय और क्षेत्रीय दोनों गतिविधियाँ चलानी होती हैं। उसके लिए अपनी योग्यता और भावना दोनों विकसित करनी होती हैं। योग्यता के बिना कार्य नहीं सधता तथा भावना के बिना अपने अंदर उत्साह और दूसरों पर प्रभाव नहीं उभरता। यह दोनों क्षमताएँ संत-समाज में होनी चाहिए। न होने से उनकी उपयोगिता घट जाती है।

पूजैषा मानवस्याथ प्रभोधर्मस्य संस्कृतेः ।
आश्रमस्थानतो विप्रान् वदंत्यपि च पूजकान् ॥ ४३ ॥

टीका—यह भगवान् मनुष्य और धर्म-संस्कृति की

४.३२ प्रज्ञोपनिषद्

वास्तविक पूजा है, इसलिए उन आश्रमवासी ब्राह्मणों को पुजारी भी कहते हैं ॥ ४३ ॥

मूर्तियों के सामने पूजा-उपचार प्रतीक पूजा भर होती है। परंतु जब विश्व विराट में फैले प्राणि समुदाय मानव समुदाय की सेवा सहायता की जाती है, पिछड़ों को आगे बढ़ाया, गिरों को ऊँचे उठाया, अशिक्षितों को शिक्षित किया जाता है तो वही ईश्वर की देवता की सार्थक पूजा कहलाती है। प्राचीनकाल के ब्राह्मण पुजारी इसी सेवा-साधना में संलग्न रहते थे और सच्चे संत की भक्त की गौरवांविता पदवी मान्यता पाते थे।

जनजागरणसंबद्धा येऽनिवार्या उपक्रमाः।
तेषां संचालनायात्र प्रशिक्षणं गृहा अपि ॥ ४४ ॥
उपासना स्थलैः सार्धमावाससहिता इमे।
कर्तुं परंपरा दिव्या वर्तते व्यावहारिकी ॥ ४५ ॥
प्रशिक्षणस्थलस्याथ पूजाकक्षस्य तस्य च।
संचालकनिवासस्य प्रक्रियाभिः समग्रतः ॥ ४६ ॥
देवालय स्थितिर्नूनं जायते केवलां तु ताम्।
प्रतिमास्थापनामाहुरेकांगानुपयोगिनीम् ॥ ४७ ॥
विना तावत्प्रबंधेन पूर्तिर्नोद्देश्यपूरका।
संभवेद् येभ्य आप्तैस्तु देवालयविनिर्मितैः ॥ ४८ ॥
योजनाऽऽप्ता महाशक्त्यैः कार्यान्वयाय च।
कृतो गाथाश्च गीतास्ता माहात्म्यानां सुविस्तराः ॥ ४९ ॥

टीका—जन-जागरण संबंधी आवश्यक गतिविधियों के संचालन के लिए देवालयों में उपासना स्थल के साथ ही प्रशिक्षण तथा आवास स्थल भी रखने की परंपरा है, जो व्यावहारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पूजाकक्ष, संचालक-निवास एवं प्रशिक्षण स्थल की त्रिविध प्रक्रियाओं का समावेश रहने से ही एक समग्र देवालय बनता है। प्रतिमा मात्र की स्थापना को एकांगी, अनुपयोगी एवं निषिद्ध ठहराया गया है। उतना प्रबंध न हो पाने पर उन उद्देश्यों की पूर्ति संभव नहीं, जिनके लिए आप्तजनों ने देवालयों को स्थापित करने की योजना बनाई और कार्यान्वित करने में असीम शक्ति लगाई। प्रेरणा देने वाले माहात्म्यों की गाथा गाई ॥ ४४-४९ ॥

जो निर्धारण बड़े उद्देश्यों के लिए हुए हैं, उनसे सामान्य उद्देश्य भरे पूरे हों तो वह एक प्रकार का घाटा है। देवालयों के उद्देश्य बहुत व्यापक और महत्वपूर्ण थे। पूजा उपचार क्षणिक संतोष देने वाले क्रमों से उनका उद्देश्य पूरा नहीं होता। उन्हें बनाने में लगे श्रम और निष्ठाओं का पूरा उपयोग किया जाना आवश्यक है।

कात्यायन उवाच—

भद्रा! देवालयस्येदं पारम्पर्यं वहंति ते।

ब्राह्मणा आश्रमस्थास्तु तथैव भ्रमणादपि ॥ ५० ॥

जनजागृतिर्कार्यस्य पुण्ये लग्ना विधौ च ये।
परिव्राजकविप्राणां पद्धतिस्त्वात्मनोऽस्ति सा ॥ ५१ ॥
वानप्रस्थाः प्रवृत्तास्ते संन्यासस्था इहैव तु।
यथा मेघा धरां शुष्कां सिञ्चितां कर्तुमुद्यताः ॥ ५२ ॥
धावंति च जगत्प्राणो गत्वा प्राणान् प्रयच्छति।
मनुष्येभ्यस्तथा चैष प्रभाया ऊष्मणोऽपि च ॥ ५३ ॥
दाता दिवानिशं धत्ते प्रव्रज्यामिव भास्करः।
तमिस्त्रायां प्रभां शैत्यं शीतांशुः स प्रयच्छति ॥ ५४ ॥
देवा इव मनुष्येषु देवानां स्तरगास्तु ये।
जनजागृतिहेतोस्ते भ्रमंति हृदये नृणाम् ॥ ५५ ॥
तत्र धर्मधृतिं भावयन्ति दिव्यां गृहे गृहे।
सद्वृत्तिवर्धनस्यापि प्रखरं कर्म कुर्वते ॥ ५६ ॥
प्रयोजनाय चैतस्मै यत्ना येऽनेकरूपिणः।
क्रियन्ते तीर्थयात्रास्ते कथ्यन्ते सर्व एव हि ॥ ५७ ॥

टीका—कात्यायन पुनः बोले, हे भद्रजनों! जिस प्रकार देवालय परंपरा को आश्रमवासी ब्राह्मण सँभालते हैं, उसी प्रकार परिभ्रमण द्वारा जन-जागरण की पुण्य प्रक्रिया में निरत रहने वाले परिव्राजक, संत समुदाय की अपनी कार्यपद्धति है। वानप्रस्थ और संन्यासी इसी में प्रवृत्त रहते हैं। बादल सूखी भूमि को सींचने के लिए दौड़ते हैं। पवन हर प्राणी को उनके पास जा-जाकर प्राण-अनुदान बाँटता है। सूर्य की अहर्निश प्रव्रज्या संसार को गरमी तथा रोशनी बाँटने के निमित्त चलती है। चंद्रमा सघन तमिस्रा में यथासंभव प्रकाश देता और शीतलता बिखेरता है। इन देवताओं की तरह मनुष्यों में जो देवस्तर के हैं, वे जन-जागरण के लिए सर्वत्र परिभ्रमण करते जन-जन के मन में धर्म-धारणा उगाते, घर-घर में सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन का अलख जगाते हैं। इस प्रयोजन के लिए विभिन्न रूप में किए जाने वाले प्रयत्न तीर्थयात्रा कहलाते हैं ॥ ५०-५७ ॥

तीर्थयात्रा का परमार्थ पक्ष वह है जिसमें विज्ञान मंडली बनाकर, धर्म प्रचार का उद्देश्य आगे रखकर चलते थे। मार्ग में मिलने वालों से ऊँचा उठाने वाली, आगे बढ़ाने वाली वार्ता करते थे। रात्रि को जहाँ ठहरते, वहाँ लोकशिक्षण के निमित्त कथा-कीर्तन का आयोजन रखते थे। साथ ही व्यक्तिगत अथवा स्थानीय उलझनों के संदर्भ में सुझाव-समाधान भी प्रस्तुत करते थे। लोग उनकी निष्पक्षता, विद्वता एवं प्रतिभा से प्रभावित होकर बातें मानते भी थे। इस प्रकार यह तीर्थयात्राएँ घर-घर अलख जगाने और जन-जन के मन-मन में धर्मधारणा उभारने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। उस प्रयास की उपयोगिता और संलग्न व्यक्तियों की महानता को देखते हुए श्रद्धालु लोगों ने उनके प्रवास को सरल बनाने में पूरा-पूरा सहयोग दिया था। धर्मशालाएँ सदावर्त, उद्यान बनाने में तीर्थयात्रा

के लिए सुविधा साधन जुटाना, धर्म-प्रचारकों को सहयोग देना ही एकमात्र प्रयोजन था।

साधुभ्यस्तीर्थयात्रायास्तपः कर्तुं सदैव तु।
शास्त्रीयं वर्तते दिव्यं विधानं पुण्यदायकम् ॥ ५८ ॥
अयमुच्चतरो नूनं योगाभ्यासोऽस्ति वा पुनः।
देवाराधनमेतस्माद् यत्नस्यास्य फलं नहि ॥ ५९ ॥
कस्मादपि विचारान्तु न्यूनमास्ते परार्थगात्।
मंडले यांति सर्वे ते परिव्राजकसाधवः ॥ ६० ॥
येन यत्रापि वासः स्यात्प्रचारस्तत्र संभवेत्।

सोत्साहं मंडले तत्र भवन्त्येव सदैव च ॥ ६१ ॥

टीका—साधु समुदाय को सर्वदा तीर्थयात्रा की तपश्चर्या करते रहने की पुण्यदाई शास्त्रीय विधान है। यह उच्चस्तरीय योगाभ्यास एवं देवाराधन है। इस प्रयास का पुण्यफल किसी भी परमार्थ उपक्रम से यह नहीं माना गया है। इसके लिए परिव्राजक, मंडली बनाकर निकलते हैं, ताकि जहाँ ठहरें वहाँ उत्साहवर्द्धक प्रचार-प्रक्रिया संपन्न कर सकें ॥ ५८-६१ ॥

परमार्थ हेतु चलते रहना देव संस्कृति का उद्घोष है। चरैवेति-चरैवेति चलते रहो, चलते रहो का मंत्र इसी निमित्त दिया गया है।

ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है, बैठे हुए व्यक्ति का भाग्य भी बैठा रहता है, बढ़ता नहीं। उठकर चलने वाले का भाग्य उन्नति की ओर बढ़ता है। भूमि पर सोते रहने वाले का भाग्य भी सोता है। जो देश देशांतर में अर्जन के लिए निकल पड़ता है उसका भाग्य दिन-दिन बढ़ता जाता है। सोने वाला कलि बनता है, नींद को त्याग करने वाला द्वापर, उठने वाला त्रेता चलने वाला सतयुग बनता है।

तीर्थयात्रास्वरूपं तु पदयात्रैव विद्यते।
लोकैश्च बहुभिर्भूयान् संपर्कस्त्वेवमेव हि ॥ ६२ ॥

टीका—तीर्थयात्रा का स्वरूप पदयात्रा है, क्योंकि अधिक लोगों से अधिक जनसंपर्क साधना, इसी प्रकार संभव हो सकता है ॥ ६२ ॥

प्राचीनकाल में धर्म-परायण व्यक्ति छोटी-बड़ी मंडलियाँ बनाकर तीर्थयात्रा के लिए पैदल ही निकलते थे। कहाँ से चलकर, किस मार्ग से, किन-किन स्थानों पर ठहरते हुए, कब तक वापस लौटेंगे, इसकी रूपरेखा प्रत्येक मंडली अपनी-अपनी प्रथक्-प्रथक् बनाती थीं। मार्ग में जो भी गाँव, झोंपड़े, नगले, पुरवे मिलते थे, उनमें रुकते, ठहरते किसी उपयुक्त स्थान पर रात्रि विश्राम करते थे। यही क्रम निरंतर चलता था। दिन में जहाँ रुकना हो, वहाँ धर्म चर्चा करना लोगों को कथा सुनाना और उन्हें उपर्युक्त मार्गदर्शन देना, यह क्रम प्रातः से सायंकाल तक चलता था। रात्रि में जहाँ रुकते, वहाँ कथा-

कीर्तन का शंका समाधान का सत्संग क्रम बनता था। यही कार्य पद्धति पूरी यात्रा अवधि में बनी रहती थी। काय-चिकित्सा, मानसिक-चिकित्सा, उपयोगी परामर्श, समर्थ शुभकामना जैसे अनेकों लाभ इस संत मंडली के संपर्क से जन-साधारण को मिलते थे। इन मंडलियों के स्तर एवं क्रियाकलाप से जन-जन के मन-मन में अपार श्रद्धा उमड़ती थी। अस्तु वे उनके प्रति न केवल भाव भरा सम्मान व्यक्त करते थे, वरन् उनके लिए आवश्यक सुविधा जुटाने में पूरा-पूरा सहयोग भी करते थे।

तीर्थयात्रिपरिव्राजः, स्वयात्राया उपक्रमम्।

क्षेत्रावश्यकतारूपं कुर्वते विश्रमस्य च ॥ ६३ ॥

तेषां व्यवस्थितिं तेभ्यः सुविधानां समर्जनम्।

स्थाने-स्थाने स्थितान्येव कुर्वते मंदिराणि तु ॥ ६४ ॥

टीका—तीर्थयात्री परिव्राजक अपनी यात्रा का उपक्रम क्षेत्रों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए बनाते हैं। उनके विराम के लिए सुविधा जुटाने और व्यवस्था बनाने का उत्तरदायित्व स्थान-स्थान पर विनिर्मित देवालय सँभालते हैं ॥ ६३-६४ ॥

तीर्थयात्रा का उद्देश्य लोकहित होता है, इसलिए समय की आवश्यकता देखकर संत यात्रा का उद्देश्य और स्वरूप निर्धारित करते रहे हैं।

उपहारान् दक्षिणां च स्थापयेद्देवसंमुखे।

दर्शकस्तत्र, भोगस्य प्रबंधोऽपि भवेत्सदा ॥ ६५ ॥

आश्रमार्थव्यवस्थां च कर्तुं संतुलितामिदम्।

निर्धारणं वर्ततेऽत्र निश्चितं देवसद्वचनाम् ॥ ६६ ॥

टीका—देवता के सम्मुख दर्शक भेंट-दक्षिणा रखें। उनके भोग आदि का प्रबंध रहे यह निर्धारण आश्रम की अर्थ-व्यवस्था सुसंतुलित रखने के लिए है ॥ ६५-६६ ॥

देवाल्यों तथा तीर्थों के सामान्य खर्च के लिए उद्देश्य की पवित्रता के अनुरूप ही साधनों की पवित्रता भी रखी जानी चाहिए। व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति हेतु दान लेने को देव संस्कृति ने निषिद्ध ठहराया है। श्रद्धालु गण भगवान के सामने अपने श्रद्धा सहयोग-अंशदान इसलिए अर्पित करते हैं कि उससे आश्रम व्यवस्था सुसंतुलित रूप से चलती रहे और जिनके कंधों पर धर्म-जागरण का, जन-जागृति का उत्तरदायित्व सौंपा गया है।

तीर्थवासी या तीर्थ सेवा को व्यक्तिगत दान न लेने का अनुशासन शास्त्रों में स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार ने कहा है

यो न क्लिष्टोऽपि भिक्षेत ब्राह्मणस्तीर्थसेवकः।

सत्यवादी समाधिस्थः स तीर्थस्योपकारकः ॥

जो तीर्थ सेवी ब्राह्मण अत्यंत क्लेश पाने पर भी किसी से दान नहीं लेता, सत्य बोलता और मन को वश में रखता है,

४.३४ प्रज्ञोपनिषद्

वह तीर्थ की महिमा बढ़ाने वाला है।

श्रद्धा भरा सहयोग देवस्थल पर दिया जाना और उसी से सत्पात्रों की आवश्यकता पूरी होने का क्रम ही सदा उचित ठहराया गया है। इन दिनों भी कितने ही धर्म संस्थानों के पास अच्छे आजीविका स्रोत हैं। तिरुपति बालाजी, साई बाबा, नाथद्वारा, चारों धाम के शंकराचार्य मठ आदि का उल्लेख अभी भी संपत्तिवान धर्म संस्थानों के रूप में किया जाता है। अन्यान्य छोटे बड़े मठ संस्थान भी ऐसे हैं, जिनके पास लोकमंगल के लिए प्रचुर संपदा है। जिसका उपयोग होना चाहिए। यह परंपरा इसलिए चली थी कि वर्तमान ईसाई मिशन की तरह उनकी शक्ति अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति के अनेकानेक रचनात्मक प्रयोजनों में लगी रह सके। प्राचीनकाल में बौद्ध संस्थान भी साधन संपन्न थे। यह राशि उन्हें लोकश्रद्धा की परमार्थ भावना के द्वारा उपलब्ध हो सकी थी।

संपर्कस्तीर्थयात्राया देवसदमन एव च।

मध्ये ह्येतादृशः सोऽस्ति यथा ते पूरका मताः ॥ ६७ ॥

साधवो ब्राह्मणाश्चैव परस्परमिमे समे।

पणस्यैकस्य पाश्वो द्वौ मतौ तु मिलितौ यथा ॥ ६८ ॥

टीका—तीर्थयात्रा और देवालय व्यवस्था के बीच उसी प्रकार का तालमेल है, जैसा कि साधु और ब्राह्मणों को परस्पर पूरक माना गया है और एक ही सिक्के के दो पहलू कहा गया है ॥ ६७-६८ ॥

गाँव-गाँव, मुहल्ले-मुहल्ले, छोटे-बड़े देवालयों की आवश्यकता इसलिए समझी गई कि वे अपने-अपने क्षेत्र में जन-जागरण के केंद्र बना कर रहें। यह स्थानीय देवालयों की बात हुई है। इससे बढ़कर दूसरा प्रयास है तीर्थों का। उन्हें भावना क्षेत्र के शोध संस्थान, निवारक अस्पताल, संवर्द्धन सेनेटोरियम, विभिन्न फैकल्टियों से सुसंपन्न महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों के समतुल्य समझा जा सकता है। बच्चों के गुरुकुल गृहस्थों के समाधान-सत्र एवं अर्धेड़ों के आरण्यक बनकर वे रहते थे। तत्त्वदर्शी ऋषि प्रकृति सान्निध्य में जलाशयों की सुविधा वाले ऐतिहासिक प्रेरणाओं से जुड़े हुए स्थान इस निमित्त चुनते थे, जिनमें दूर-दूर से लोग पहुँचते रहें। घर से दूर रहकर उपयुक्त मनःस्थिति एवं प्रेरणाप्रद परिस्थिति का लाभ उठाते हुए व्यक्तियों का समग्र परिष्कार कर सकें।

शांडिल्य उवाच—

धर्म - प्रचारका नैव जना ये संति ते कथम्।

तीर्थयात्रानिमित्तेन यांति तीर्थानि संततम् ॥ ६९ ॥

कारणं विद्यते किं तद् भगवन् बोध्यतामिदम्।

आकर्ण्यैतन्महर्षिः स प्राह कात्यायनस्तदा ॥ ७० ॥

विद्वांसस्तीर्थयात्रायाः फलं ते प्राप्नुवन्त्यलम्।

सामान्या अपि ते मर्त्याः प्रत्यक्षं नात्र संशयः ॥ ७१ ॥

पदयात्रा स्वास्थ्यवृद्धिं विधत्तेऽनुभवं तथा।

व्यावहारिकमेतच्च ज्ञानं वर्धयति ह्यलम् ॥ ७२ ॥

संपर्को वर्धते नूनं स च परिचयोऽपि तु।

लाभांस्तान् यांति नैकत्र - स्थितान्यानुपयान्ति ते ॥ ७३ ॥

टीका—कात्यायन बोले, हे विद्वज्जनो! सामान्य जनों को भी तीर्थयात्रा का पुण्यफल प्रत्यक्ष मिलता है, इसमें संदेह नहीं। पदयात्रा से स्वास्थ्य सुधरता है, अनुभव बढ़ता है, व्यावहारिक ज्ञान की वृद्धि होती है, परिचय और संपर्क बढ़ता है। इस प्रकार वे उन लाभों को प्राप्त करते हैं, जो एक जगह पर बैठे रहने से मिल ही नहीं सकते ॥ ७१-७३ ॥

प्राचीनकाल में धर्म प्रचार के उद्देश्य से मंडलियाँ निकलती थीं। कुछ उनमें सूत-वक्ता और कुछ शौनक साथी श्रोतागण होते थे। अनेक ऋषियों के गुरुकुल भी उसी पद्धति के आधार को अपनी व्यवस्था बनाते थे। गौ-समूह के साथ छात्रगण अपने गुरुजनों के साथ निकलते थे। मार्ग में स्काउटों के कैंप फायर की तरह पड़ाव डालते, गौएँ चराते हुए ठहरते और आगे बढ़ते थे। साथ-साथ अध्ययन-अध्यापन भी चलता रहता था। वास्तविक शिक्षा में गंधे की तरह छात्र पर पुस्तकों पर अनावश्यक भार लाद देने का भौंडापन नहीं, सर्वतोमुखी अनुभव संपादन का आधार जुड़ा रहता है, छात्रों को उस परिभ्रमणकारी शिक्षा से बहुमुखी लाभ मिलते थे। उपाध्यायगण स्थानीय लोगों को भी अपने धर्मोपदेशों से लाभान्वित करते रहते थे। नए छात्रों का प्रवेश भी उस मंडली में होता रहता था। जो लोग गुरुकुल शिक्षापद्धति का महत्व नहीं समझते थे, उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन से प्रेरणा मिलती थी और वे भी अपनी संतान को उसमें प्रवेश कराते थे। इसे तीर्थयात्रा स्तर का गुरुकुलीय प्रशिक्षण कहा जाता था। लगातार ऐसा परिभ्रमण न हो सके, तो भी प्रत्येक गुरुकुल को कुछ-कुछ समय के लिए शिक्षण सत्रों की छोटी-छोटी टोलियाँ विभिन्न दिशा में भेजनी होती थीं। इसमें छात्र, अध्यापकों को ही नहीं, संपर्क में आने वाले क्षेत्रों तथा जन-साधारण को भी बहुमूल्य ज्ञान संपादन का अवसर मिलता रहता था, तीर्थयात्रा का कितना महत्वपूर्ण और कितना सार्थक स्वरूप था वह।

सामाजिक्या च दृष्ट्यापि लाभा अस्या मता यथा।

विकेंद्रीकरणं श्रेष्ठं स्वतो वित्तस्य जायते ॥ ७४ ॥

लघुद्योगा महान्तश्च विकासं यांति ते क्रमात्।

विशालत्वं प्रयात्येषा भावना वर्द्धते तथा ॥ ७५ ॥

देशभक्तिस्तथोपैति विस्तरं क्षेत्रमात्मनः।

जना आत्मान एवातः प्रतीयंते समेऽपि च ॥ ७६ ॥

टीका—सामाजिक दृष्टि से भी इसके बड़े लाभ हैं। धन का वितरण-विकेंद्रीकरण होता है, लघु एवं विशाल उद्योग पनपते हैं, विशालता की भावना है, देशभक्ति में प्रखरता आती

हैं और आत्मीयता का क्षेत्र सुविस्तृत होता है। सभी मनुष्य अपने परिवार रूप में दीखते हैं ॥ ७४-७६ ॥

पर्यटन को एक अच्छा उद्योग माना गया है, कई राष्ट्रों की अर्थ नीति तो पर्यटन व्यवसाय पर ही टिकी है। विद्वान विद्वत्ता के प्रसार के लिए, कलाकार कला विस्तार के लिए तथा व्यापारी उद्योग विस्तार के लिए छोटी और लंबी यात्राएँ किया करते थे। आजकल भी विद्यार्थियों को उद्योगकेंद्रों, देश की विभिन्न संस्कृतियों का स्वरूप समझाने के लिए शिक्षण यात्राएँ की जाती हैं, अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव बढ़ाने के लिए भी शिष्ट मंडलों, युवकों, विद्यार्थियों के दल अन्य देशों की यात्रा करते हैं। इससे आत्मीय तथा सांस्कृतिक सद्भाव बढ़ता है। विशिष्ट सेमिनार, मेले आदि भी इसी उद्देश्य से किए जाते हैं।

स्थितास्तत्र च कुर्वन्ति त्वात्मशोधनसाधनाम्।

परिष्कुर्वन्ति चात्मानं त्रुटीस्ता दूरयन्त्यपि ॥ ७७ ॥

प्रायश्चित्तं चरन्त्यत्र योगाभ्यासं तथैव च।

रतास्तपसि सत्संगस्वाध्यायौ लभतेऽपि च ॥ ७८ ॥

प्राप्यते प्रतिभानां च सप्राणानां तु सन्निधेः।

लाभो महास्तु यो तं ते प्राप्नुवन्त्येव संततम् ॥ ७९ ॥

अन्विच्छन्ति समाधानं ग्रन्थिनां कुर्वन्ते तथा।

व्यवस्थितां योजनां ते भविष्यन्निर्धुतेः शुभम् ॥ ८० ॥

वातावृतौ प्रेरकायां वसन्तः प्राणभृत्यपि।

तीर्थसेवनमाहुश्च कल्पसाधनमप्यतः ॥ ८१ ॥

रूपे वास्तविके तच्चेत्संपन्नं क्रियते ततः।

स्वास्थ्यं शरीरसंबन्धिचिन्तनं मानसं तथा ॥ ८२ ॥

परिवर्तनमायाति सहजीवन कर्मणा।

भविष्यन्निर्मितेर्लाभः कायाकल्प इवेष्यते ॥ ८३ ॥

टीका—तीर्थ सेवन को मानसिक उपचार माना गया है। वहाँ रहकर लोग आत्मशोधन और आत्म-परिष्कार की साधना करते हैं। भूतकाल की गलतियों को सुधारते हैं। पापों का प्रायश्चित्त करते हैं। योगाभ्यास और तप-साधना में निरत रहते हैं। स्वाध्याय-सत्संग का लाभ उठाते हैं। प्राणवान प्रतिभाओं के सान्निध्य से जो असीम लाभ मिलता है, उसे उपलब्ध करते हैं। प्रस्तुत गुणधर्मों का समाधान खोजते हैं। तथा भविष्य निर्धारण की सुव्यवस्थित योजना वहाँ के प्राणवान प्रेरणाप्रद वातावरण में रहकर बनाते हैं। तीर्थ सेवन को कल्प साधन कहा गया है। उसे यदि सही रूप में संपन्न किया जा सके, तो शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक चिंतन, जीवनचर्या में परिवर्तन एवं भविष्य-निर्माण की दृष्टि से कायाकल्प जैसा लाभ ही मिलता है ॥ ७७-८३ ॥

तीर्थ सेवन में केवल बाह्य उपचार पर्याप्त नहीं। साधक को तीर्थ चेतना के साथ अपने चिंतन को मिलाना पड़ता है।

नारद पुराण का मत है

गंगादि तीर्थेषु वसन्ति मत्स्या देवालये पक्षिगणाश्च संति।

भावोज्झितास्ते न फलं लभन्ते तीर्थाच्चदेवायतनाच्चमुख्यात् ॥

भावं ततो हृत्कमले निधाय तीर्थानि सेवेत समाहितात्मा।

अर्थात्—गंगा आदि तीर्थों में मछलियाँ निवास करती हैं, देव मंदिरों में पक्षीगण रहते हैं, किंतु उनके चित्त भक्ति-भाव से रहित होने के कारण उन्हें तीर्थ सेवन और देव मंदिर में निवास करने का कोई फल नहीं मिलता। अतः हृदय कमल में भाव का संग्रह करके एकाग्रचित्त होकर तीर्थसेवन करना चाहिए।

नृणां पापकृतां तीर्थे पापस्य शमनं भवेत्।

यथोक्तफलदं तीर्थं भवेच्छुद्धात्मनां नृणाम् ॥

अर्थात्—पापी मनुष्यों के तीर्थ में जाने से उनके पाप की शांति होती है। जिनका अंतःकरण शुद्ध है, ऐसे मनुष्यों के लिए तीर्थ यथोक्त फल देने वाला है।

गत्वा तीर्थेषु बालानां संस्काराणां विधेस्तथा।

पाणिग्रहणकार्यस्य पितृश्राद्धविधेरपि ॥ ८४ ॥

वानप्रस्थाश्रमस्यापि विद्यते सा परंपरा।

सर्वेषां हि महत्त्वं तद्ध्येतदाश्रित्य वर्तते ॥ ८५ ॥

तस्या वातावृतेर्लाभं गंतुणामञ्जसा नृणाम्।

जीवनं सम्पदां मार्गं दैवीनां क्राम्यति स्वयम् ॥ ८६ ॥

टीका—तीर्थों में जाकर बालकों के संस्कार कराने, विवाह करने, वानप्रस्थ लेने, पितरों का श्राद्ध कर्म करने की जो प्रथा-परंपरा है, उसका महत्व भी इसी आधार पर है कि उस प्रेरणाप्रद वातावरण का इन प्रयोजनों के लिए जाने वाले लोग भी अनायास लाभ लेते हैं, जिससे जीव अनायास दैव-संपत्ति के मार्ग में चलने लगता है ॥ ८४-८६ ॥

तीर्थों में जाकर संस्कार कराने की परिपाटी सनातन है। आज भी उसको चिह्न-पूजा के रूप में निभाया जा रहा है। उस परंपरा को पुनः सुनियोजित करने की आवश्यकता है।

लोग मुंडन और श्राद्ध आदि ही तीर्थों में कराते देखे जाते हैं, किंतु गर्भिणी का पुंसवन, बालक का नामकरण, मुंडन, विद्यारंभ तथा दीक्षा-यज्ञोपवीत, सभी तीर्थों के संस्कारित वातावरण में कराए जाने चाहिए। विवाह और वानप्रस्थ संस्कार भी उपयुक्त वातावरण में ही फैलते हैं।

सशक्तां प्रखरां तीर्थप्रक्रियां कर्तुमेव यत्।

दानं प्रदीयते तत्तु सामान्येभ्यः समर्पितात् ॥ ८७ ॥

प्रयोजनेभ्यो वा नृभ्यो दानान्मानितमुत्तमैः।

अनेकगुणपुण्यानां लोके तु फलदायकम् ॥ ८८ ॥

तीर्थयात्रा तथेत्थं च यत्र सा वर्तते तपः।

परिव्राजां कृते साधुमनसामृषिरूपिणाम् ॥ ८९ ॥

महत्त्वं वर्तते न्यूनं तस्या नृभ्यो न चाण्वपि।

४.३६ प्रज्ञोपनिषद्

सर्वसाधारणेभ्योऽतो ग्राह्या सा सन्ततं जनैः ॥ ९० ॥

तेऽपि मर्त्या यथाशक्ति कुर्वन्तो जनजागृतिम् ।

पदयात्राऽनुबद्धानां पुण्यानां कर्मणां बहु ॥ ९१ ॥

लभन्ते लाभमन्ये च सुविधाः साधनानि ये ।

अस्यै समर्पयन्त्येते सद्गतिं यांति धर्मिणः ॥ ९२ ॥

टीका—तीर्थ प्रक्रिया को जीवन एवं प्रखर बनाने के लिए दिया गया दान, सामान्य व्यक्तियों या प्रयोजनों के लिए दिए गए दान की तुलना में अनेक गुना पुण्य फलदायक माना गया है। इस प्रकार तीर्थयात्रा जहाँ ऋषिकल्प साधुमना परिव्राजकों के लिए उच्चस्तर को तपश्चर्या मानी गई है, वहाँ सर्व साधारण के लिए उसका महत्व कम नहीं है, अतः उसे ग्रहण किया जाना चाहिए। वे भी यथासंभव जन-जागरण का कार्य करते हुए उस पदयात्रा के साथ जुड़े हुए पुण्य प्रयोजन का कम लाभ नहीं उठाते हैं। जो इस तीर्थ प्रक्रिया के लिए सुविधा-साधनों की व्यवस्था करते हैं, वे भी धर्मात्मा कहलाते और सद्गति पाते हैं ॥ ८७-९२ ॥

तीर्थों में दान, पुण्य की परंपरा आरंभ काल से ही प्रचलित है। यों यह प्रक्रिया सदा से ही धर्मधारणा का अविच्छिन्न अंग मानी और श्रद्धापूर्वक क्रियान्वित की जाती रही है। पर उसका तीर्थ स्नान में अधिक भावना पूर्वक चरितार्थ करने और सामान्य स्थानों की तुलना में अनेक गुना पुण्यफल माने जाने का जो शास्त्र वचन है, वह अकारण नहीं, उसके पीछे कुछ तथ्य भी हैं। तीर्थ के ऋषि आश्रम प्रकारांतर से धर्म-धारणा की ऊर्जा उभारने वाले बिजली घर जैसे थे। ये सुविस्तृत क्षेत्र में शक्ति धारा भेजते और जन-जन के अभावों की पूर्ति करते थे। उन्हें ऐसे विशालकाय जलबाँधों की भी उपमा दी जाती है, जहाँ से अनेक नहरें निकलती और व्यापक क्षेत्र को सींचती हैं।

जब छोटे से छोटे कार्य के लिए साधन चाहिए, तो इन तीर्थ संस्थाओं की भी तो आवश्यकताएँ रहेंगी ही। अध्यापन और व्यवस्था में लगे व्यक्तियों को निर्वाह चाहिए। आच्छादन, उद्यान, प्रकाश, स्वच्छता आदि के लिए खर्च चाहिए। निजी उद्योग-व्यवसाय न होने पर उसकी पूर्ति कैसे हो? उसका उत्तर एक ही केंद्र बिंदु पर आ टिकता है कि श्रद्धालु तीर्थ यात्री अपनी परमार्थ भावना का परिपोषण करने के लिए तीर्थ संस्थानों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखें और उनकी पूर्ति के लिए अपनी उदारता को भाव भरी उमंगों के साथ चरितार्थ होने दें।

महान्तो मानवाः स्वां तु क्षमता तीर्थनिर्मितौ ।

तद्व्यवस्था निमित्तं च व्यधुस्तत्र नियोजिताम् ॥ ९३ ॥

कर्म चक्रुः परार्थं च पुण्यभाजो यशस्विनः ।

अभूवन् मार्गद्रष्टार उच्यन्तेऽध्यात्मसंस्कृतेः ॥ ९४ ॥

टीका—अनेक महामानवों ने अपनी क्षमता को तीर्थ स्थापना एवं व्यवस्था के लिए नियोजित किया और सच्चे अर्थों में परमार्थ कमाया, पुण्य और यश के भागीदार बने, जिन्हें अध्यात्म संस्कृति का मार्ग द्रष्टा भी कहा जाता है ॥ ९३-९४ ॥

सही अर्थों में वास्तविक पुण्य के भागीदार वही बनते हैं, जो श्रेष्ठ कार्यों में अपनी संपदा-प्रतिभा और शक्ति नियोजित करते हैं। उनके योगदान से उनके क्रियाकलाप से तीर्थ भी धन्य बन जाते हैं।

तीर्थ स्थापना का तीर्थ परंपरा का प्रचलन किस आचार पर, किस आधार पर प्रादुर्भूत हुआ, इसका तात्त्विक विवेचन करने पर प्रकट होता है कि तीर्थ कहाँ बने हैं, जहाँ (१) कोई महामानव, ऋषि, तपस्वी आत्म कल्याण और लोक कल्याण के पुण्य प्रयोजन की तपश्चर्या में निरत रहे हों (२) किसी देवता ने किसी परमार्थ परायण साधक के प्रयत्नों में सहायता करने के लिए वरदान दिया हो (३) ऐसी कोई घटना घटित हुई हो, जिसमें आदर्शवादिता पनपने के लिए त्याग, बलिदान करने का इतिहास जुड़ा हो (४) कोई महत्वपूर्ण निर्धारण या शुभारंभ हुआ हो (५) किसी महामानव का जन्मस्थान या क्रियाकलापों का कार्य क्षेत्र रहा हो (६) उस स्थान की अपनी प्राकृतिक विशेषता रही हो, इस परिधि में प्रायः हर तीर्थ की स्थापना, परंपरा एवं गरिमा का मूल्यांकन किया जा सकता है।

सच्चे संत-महामानव ही तीर्थ की महिमा बढ़ाने वाले होते हैं।

नह्यमयानि तीर्थानि न देवाः मृच्छिलामया,

ते पुनन्ति उरूकालेन ।

दर्शनाद् एव साधवः ॥ तेषाम् एव,

निवासेन देशास्तीर्थी भवन्ति वै ॥

—भागवत

जल से तीर्थ नहीं बनते, न देवता मिट्टी और पत्थर से बनते हैं, उनकी उपासना करने से बहुत काल में मन की शुद्धि होती है, पर सच्चे साधुओं के दर्शन और सत्संग से ही चित्त सद्यः शुद्ध हो जाता है।

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो ।

तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तः स्थेन गदाभृता ॥

—भागवत

युधिष्ठिर विदुर से कहते हैं आप जैसे भक्त स्वयं ही तीर्थ रूप होते हैं। आप लोग अपने हृदय में विराजित भगवान के द्वारा, तीर्थों को महातीर्थ बनाते हुए विचरण करते हैं।

सत्रेणाऽद्यतनेनालं सन्तोषं सर्व एव ते ।

जग्मुरुत्साह एतेषां ववृधे कर्मपद्धतौ ॥ ९५ ॥

देवसंस्कृतिसंबद्धैर्विधिभिर्यानि संति तु।
संसक्तानि महोद्देश्यकर्माणीह च पूर्णतः ॥ १६ ॥
तानि विज्ञाय सर्वेऽपि श्रोतारस्त्रस्तत्र निर्मलाः।
प्रसन्नमानसा दृष्टाः पूर्णे स्वीये मनोरथे ॥ १७ ॥
सायं सध्याविधेः कालात्पूर्वमेव च शोभनम्।
सत्रमद्यतनं पूर्णं यथापूर्वं यथाविधि ॥ १८ ॥

टीका—आज के सत्र में सबको बहुत संतोष मिला व कर्म के प्रति उत्साह बढ़ा। देवसंस्कृति के क्रिया-कलापों के साथ जुड़े हुए महान उद्देश्यों से भली प्रकार अवगत होकर सभी श्रोता मनोरथ पूर्ण होने से प्रसन्न दिखाई पड़ते थे। सायंकाल होने से पूर्व अन्य दिनों की तरह आज का सत्र भी समाप्त हो गया ॥ १५-१८ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते तीर्थ-देवालय इति प्रकरणो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

मरणोत्तर-जीवन-प्रकरण

पंचमस्यदिनस्यास्मिञ्ज्ञानसत्रे स्थितेष्वलम्।
औत्सुक्यं द्रष्टुमायातं विधायाः साधकेष्वथ ॥ १ ॥
उत्सुकास्तेऽधिकं ज्ञातुं कथं सा देवसंस्कृतिः।
अवतारयितुं शक्ता जाता स्वर्गं क्षिताविह ॥ २ ॥
देवोपमान् मनुष्याश्च कृतवत्यपि कानि तु।
अभूवन् कारणान्येवमाधाराः के च ते मताः ॥ ३ ॥
यानाश्रित्य मनुष्याश्च तत्रासंख्याः स्वगौरवम्।
अवधार्य कृता पारं मनोरथतरिर्णाम् ॥ ४ ॥
जिज्ञासूनां परं श्रेष्ठं भृगुं मुनिवरं तथा।
कात्यायनो जगादैवं सर्वान्संज्ञानसाधकान् ॥ ५ ॥
टीका—पाँचवें दिन के ज्ञान सत्र में उपस्थित विद्या-साधकों में और भी उत्सुकता पाई गई। वे अधिक जानने के उत्सुक थे। देव संस्कृति ने किस आधार पर धरती पर स्वर्ग उतारा और मनुष्यों को देवोपम बनाया। उसके वे कारण और आधार क्या थे, जिन्हें अपनाकर असंख्यों ने अपनी गरिमा बढ़ाई और असंख्यों की नाव पार लगाई। कात्यायन ने जिज्ञासुओं में श्रेष्ठ मुनिवर भृगु सहित सभी सद्ज्ञान साधकों को संबोधित करते हुए कहा ॥ १-५ ॥

पाययन्त्यमरत्वं वै भृशं तद्देवसंस्कृतौ।
आस्थावतः समस्तांश्च बोधयन्त्यपि ते समे ॥ ६ ॥
अमरत्वसुविश्वासा स्युः सजा जीवितुं तथा।
अनन्तं ते विजानीयुर्मृत्युं नान्तः तु विश्रमम् ॥ ७ ॥
जीवितानां मृतानां च मन्यन्ते जन्मवासराः।
परम्परेयं मृत्योश्च दिनस्यावसरेऽपि तु ॥ ८ ॥
अस्तित्वं पूर्वजानां तद् विचार्यैव विधीयते।
श्रद्धाञ्जलिस्ततः श्राद्धकर्म चापि समैरिह ॥ ९ ॥
कस्यचिन्मृतकस्यापि नान्तमत्र तु मन्यते।

श्रद्धीयतेऽशरीरास्ते स शरीरा इव स्वकाम् ॥ १० ॥
सत्तां विधाय विद्यतेऽसंख्यास्ते जीवनस्य च।
उपक्रमं प्रकारेषु विशेषस्तरमाश्रिताः ॥ ११ ॥
जीवनस्य स्तरस्त्वेको मन्यतेऽत्राशरीरिणाम्।
शरीरिणां च वस्त्रस्यापरिधानस्य तस्य च ॥ १२ ॥
परिधानस्य मध्यस्थास्थितिरेषा तु विद्यते।
अमरत्वस्य चाभासो विश्वासश्चाप्यतोऽत्र तु ॥ १३ ॥
बोध्यते मृत्युमेवान्तं मते या समुदेति सा।
निराशाऽथापि नास्तिक्यं वृणयातां न कश्चन ॥ १४ ॥
टीका—कात्यायन बोले, देवसंस्कृति में अमरत्व का पान कराया जाता है। हर आस्थावान को समझाया जाता है कि वह अमरत्व पर विश्वास करे। अनंत जीवन जीने की तैयारी करे। मृत्यु को विराम विश्राम समझे, अंत नहीं। जीवित या मृतकों के जन्मदिन मनाए जाते हैं। यही परंपरा है। मृत्यु दिन के अवसर पर भी पूर्वजों का अस्तित्व बने रहने की बात सोचकर उन्हें श्रद्धांजलि चढ़ाई जाती है। श्राद्ध-तर्पण सभी के द्वारा किया जाता है। अंत किसी मृतक का भी नहीं माना जाता। समझा जाता है कि वे अशरीरी होते हुए भी शरीरधारियों की तरह सत्ता बनाए हुए हैं और जीवन के असंख्य प्रकारों में से एक विशेष स्तर का उपक्रम बनाए हुए हैं। शरीरधारी और अशरीरी जीवन का स्तर एक-सा ही माना गया है, जैसा वस्त्र पहनने और न पहनने के बीच होता है। अमरता का आभास-विश्वास इसलिए कराया जाता है कि मृत्यु के साथ अंत मानने पर पनपने वाली निराशा और नास्तिकता किसी के सिर न चढ़े ॥ ६-१४ ॥

देवसंस्कृति की ही यह एक अद्भुत विशेषता है कि यहाँ व्यक्ति को सतत् आत्मा के अविनाशी होने, जीवन के गतिशील रहने एवं मरणोत्तर जीवन के अस्तित्व का बोध कराया जाता है। यह आस्तिकतावादी दर्शन का केंद्र बिंदु है।

४.३८ प्रज्ञोपनिषद्

यदि वर्तमान जीवन व काया रूपी चोले को ही सब कुछ मान लिया गया, तो जीवन के प्रति दृष्टि भोग प्रधान होगी। व्यक्ति दूसरों को कष्ट देकर भी स्वयं सब कुछ पाने व जितना संभव हो सुखोपभोग हेतु बटोरने का प्रयास करेगा। इसीलिए व्यक्ति को हर दिन नया जन्म, हर रात नयी मौत के रूप में नित्य अपने जीवनोद्देश्य के प्रति सोचने को बाध्य किया जाता है। मृत्यु से जीवन का अंत नहीं होता, यह विश्वास व्यक्ति को इसलिए दिलाना जरूरी है कि आशावादी दृष्टिकोण बना रहे व व्यक्ति स्वयं को वर्तमान स्थिति से भी श्रेष्ठ स्थिति में पहुँचा सके, आत्मिक प्रगति के पुरुषार्थ हेतु सक्रिय रहे।

वासांसि जीर्णानि यथा विहानवानि।
गृह्णाति नरोऽपराणि ॥
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि।
संयाति नवानि देही ॥

—गीता २।२२

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र को त्याग करके नया वस्त्र धारण करता है, इससे वस्त्र बदलता है, मनुष्य नहीं बदलता, इसी प्रकार देहधारी आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण करता है।

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण आगे कहते हैं—“आत्मा अच्छेद्य है, अदाह्य है, अक्लेद्य और अशोष्य है तथा यह आत्मा निस्संदेह नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है।”

गर्भोपनिषद् में बताया गया है कि गर्भावस्था में जीव के अंतःकरण में पूर्वजन्मों की स्मृतियाँ जागृत होती हैं और वह कहता है।

हजारों बार मेरा जन्म हो चुका है, विविध प्रकार के आहार मैं खा चुका हूँ, हजारों माताओं का दूध पी चुका हूँ, बार-बार पैदा हुआ हूँ और बार-बार मरा हूँ। आत्मीयों के लिए शुभ और अशुभ कर्म किए हैं, पर वे तो आज साथ हैं नहीं। साथ हैं मेरे कर्म ही, उनका ही फल मुझे मिल रहा है।

विश्वासोऽयं स्थिरस्तिष्ठेज्जीविष्यामो वयं ध्रुवम्।

अनन्तं संगताः कर्मफलशृङ्खलया वयम्॥ १५॥

पराङ्मुखैर्न भाव्यं तु प्रगतेः पथि गन्तृभिः।

नाविश्वस्तो भवेत्कर्मफलसंभावनं प्रति॥ १६॥

मान्यते द्वे यदि स्यातां स्थिरेऽन्तःकरणे ततः।

प्रतिक्रियाऽनयोः श्रेयोदायिनी सुखदा भवेत्॥ १७॥

यत्तु कर्मफलं तत्र विद्यतेऽद्यतनं न तत्।

प्राप्यतेऽद्य ततो लोकाः सन्देहं कुर्वते भृशम्॥ १८॥

विधौ दुःखफलप्राप्तौ सर्वे वै पापकर्मणाम्।

अनंतजीवनस्यास्यां मान्यतायां तथा तु न॥ १९॥

प्रत्येकस्याशुभस्याथ शुभस्यापि च कर्मणः ।

भविष्यद्विषयेष्वेवं फलाप्तौ विश्वसन्त्यमी ॥ २० ॥

टीका—यह विश्वास बना रहे कि अनंतकाल तक जीवित रहना है और कर्मफल शृङ्खला के साथ अविच्छिन्न संबंध जुड़ा रहना है। इसलिए न तो प्रगति पथ पर चलते रहने से मुख मोड़ा जाए और न कर्मफल की संभावना के प्रति अविश्वास किया जाए। यह दो मान्यताएँ अंतःकरण में सुस्थिर रहें, तो फिर उसकी प्रतिक्रिया बहुत ही सुखद और श्रेयस्कर होती है। आज का कर्मफल आज न मिलने के कारण लोग पापकर्मों का दुःखदायी फल मिलने की विधि-व्यवस्था तक में संदेह करने लगते हैं। अनंत जीवन की मान्यता सुदृढ़ होने पर वैसा नहीं होता और हर बुरे-भले कर्म का प्रतिफल अगले दिनों मिलने की बात पर विश्वास करते हैं ॥ १५-२० ॥

कष्टदानस्य दंडश्चेत्तत्कालं नोपलभ्यते।

तत्र तेषां नृणामेव विश्वासो जायते श्लथः॥ २१॥

न विश्वसन्ति ये मर्त्या जीवने मरणोत्तरे।

स्रष्टुर्विधौ क्रियायास्तु विद्यते वै प्रतिक्रिया॥ २२॥

पापस्य निश्चितो दंडः प्राप्यतेऽनेकरूपतः।

रूपे विविधदुःखानामत्र नास्त्येव संशयः॥ २३॥

नो चेत्तत्कालमेव स्यान्मरणोत्तरजीवने।

नरकादिषु रूपेषु प्राप्तिस्तस्य तु निश्चिता॥ २४॥

कृतस्य फलमाप्तव्यं भवत्येवेति मान्यताम्।

स्वीकर्तुमनिवार्यं च मरणोत्तरजीवनम्॥ २५॥

यतन्ते भृशमेवैते त्वनुगा देवसंस्कृतेः।

आत्मप्रगतिमुद्दिश्य यावदामरणं सदा॥ २६॥

टीका—तत्काल दुःख दंड न मिलने भर से विश्वास उन्हीं का डगमगाता है, जो मरणोत्तर जीवन पर विश्वास नहीं करते। स्रष्टा की सुनिश्चित विधि-व्यवस्था में क्रिया की प्रतिक्रिया अनिवार्य है। पाप का दंड अनेकानेक दुःखों के रूप में मिलना निश्चित है। यह तत्काल न सही, मरणोत्तर जीवन में स्वर्ग-नरक के रूप में मिलता है। जो किया है, उसका फल मिलेगा ही। इस मान्यता के लिए मरण के उपरांत भी जीवन बना रहने की मान्यता आवश्यक है। देवसंस्कृति के अनुयायी मरणकाल तक आत्मिक प्रगति का प्रयास करते हैं ॥ २१-२६ ॥

कर्मफल व्यवस्था पर अनास्था ही नास्तिकता का प्रतीक है। आस्तिकवादी तत्त्वदर्शन में विश्वास रखने वाला व्यक्ति क्रिया की प्रतिक्रिया में, कर्म के प्रतिफल में भी विश्वास रखता है। इस नाते उसकी हर क्रिया स्रष्टा के विधान के अंतर्गत चलती व सुव्यवस्थित होती है। कर्मफल वस्तुतः एक ऐसी सचाई है, जिसे इच्छा या अनिच्छा से स्वीकार करना ही होगा। भूतकाल के आधार पर वर्तमान बनता है एवं वर्तमान

के अनुरूप भविष्य। किशोरावस्था में कमाई हुई विद्या एवं स्वास्थ्य संपदा, जवानी में संपन्नता एवं बलिष्ठता के रूप में सामने आती है। कर्म का परिपाक भी वस्तुतः इसी प्रकार देर-सवेर मिलता अवश्य है। जो जीवन को अनंत-अविरल प्रवाह मानते हैं, वे जानते हैं, कि जो शुभ-अशुभ कर्म किए गए या किए जा रहे हैं, उनके परिणाम कालांतर में अवश्य प्राप्त होंगे।

मरणोत्तर जीवन की मान्यता की दृढ़ता मन में बिठाए रखना इसीलिए अनिवार्य माना गया है कि इस जीवन के कर्म ही स्वर्ग-नरक जैसी परिस्थितियों के, तदनुरूप पुनः जन्म मिलने या मरणोत्तर योनि में सुख-दुःख के कारण बनते हैं।

भारतीय दर्शन में कर्मफल की सुनिश्चितता पर बहुत जोर दिया गया है। पर कई बार देखने में ऐसा भी आता है कि दुष्ट कर्म करने वाले दंड से बचे रहते हैं और पुण्यात्माओं को कष्ट सहने पड़ते हैं। इन उदाहरणों से नास्तिक भावना पनपती और मनुष्य उच्छृंखल बनता है। इस असमंजस का निवारण स्वर्ग-नरक की मान्यता एवं पुनर्जन्म के सिद्धांतों से ही होता है। अस्तु कर्मफल की अनिवार्यता का सिद्धांत मनुष्य के चारित्रिक नियंत्रण की दृष्टि से आवश्यक समझा गया है। उसकी पुष्टि मरणोत्तर जीवन में, स्वर्ग-नरक एवं पुनर्जन्म में सद्गति-दुर्गति की मान्यताएँ अपनाने से ही बात बनती है।

मृत्योः पश्चादुभौ स्वर्गनरकावत उत्तरम्।
पुनर्जन्मेति ते व्यक्ते पूरके मान्यते त्वुभे॥ २७॥
सुखं दुःखमुभे स्वर्गे विशेषेस्तः स्वतस्तु ते।
परलोके स्थितिः सूक्ष्मास्थूला लोकेऽत्र चैव सा॥ २८॥
उभयथैव फले पुण्यपापयोर्मनुजैरिह।
प्राप्येते चलतीयं च दीर्घकालं प्रतिक्रिया॥ २९॥
चतुरशीतिकलक्षोक्तयोनिष्वेव नरास्तु ते।
भ्रमंति संति ये त्वत्र कुमार्गाभिरताः सदा॥ ३०॥
त्रासांस्तदनुरूपांश्च सहंतेऽभावमप्यलम्।
विपरीततया चास्मात्पुण्यात्मानः परे सदा॥ ३१॥
लाके स्वर्गस्य मुक्तेश्च जायंते ह्यधिकारिणः।
पुनर्जन्मनि देवात्मावतारेषु महर्षिषु ॥ ३२॥
महामानवरूपेषु जायंते दिव्यतेजसः।
दर्शयंति शुभं मार्गं सर्वेषामेव ते ततः॥ ३३॥

टीका—मरण के उपरांत स्वर्ग-नरक में अपने ढंग के सुख-दुःख हैं और पुनर्जन्म में अपने ढंग के। परलोक में सूक्ष्म स्थिति है और इहलोक में स्थूल। पुण्य-पाप के प्रतिफल दोनों ही प्रकार के भुगतने पड़ते हैं। यह प्रतिक्रिया लंबी चलती है। कुमार्गागमियों को चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करना पड़ता है और तदनुरूप अभाव एवं त्रास सहने पड़ते हैं। इसके विपरीत पुण्यात्मा परलोक में स्वर्ग और मुक्ति के

अधिकारी बनते हैं। पुनर्जन्म होने पर दिव्यतेज संपन्न महामानव, ऋषि, देवात्मा, अवतार के रूप में प्रकट होते हैं और सभी को कल्याणप्रद मार्ग प्रदर्शित करते हैं॥ २७-३३॥

देवसंस्कृति की जीवन व मरण संबंधी मान्यताएँ शास्त्र सम्मत भी हैं एवं विज्ञान सम्मत भी। मरणोत्तर जीवन एवं पुनर्जन्म संबंधी अनेकों ऐसे प्रसंग हैं, जो दैनंदिन जीवन में घटते। व इस दर्शन का सत्यापन करते हैं। भले-बुरे कर्मों का प्रतिफल ही स्वर्ग और नरक के रूप में परिणत होता व सुख-दुःख की अनुभूति कराता है। चाहे वह इस लोक में हो, अथवा मरण के बाद परलोक में। मरण के बाद सूक्ष्म शरीर होने के कारण स्थूल शरीर जैसी पीड़ा-प्रताड़ना या कष्ट तो नहीं होता, किंतु मानसिक प्रसन्नता व खिन्नता की अनुभूतियाँ उससे भी अधिक मात्रा में अंतश्चेतना को प्रभावित करती हैं। स्वर्ग और नरक की भली-बुरी अनुभूतियाँ मानसिक एवं भावनात्मक होती हैं, क्योंकि सूक्ष्म शरीर रहने पर उसी स्तर की अनुभूति संभव है।

नए शरीर में आने के पश्चात अपने पूर्व अनुभवों का विवरण लिखते हुए एक जाग्रत आत्मा की अनुभूति का वर्णन वेद में इस प्रकार आता है।

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्युनः प्राणः पुनरात्मा।
म आगन् पुनरक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्।
वैश्वानरोऽदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातुः दुरितादवधात्॥

-यजुर्वेद ४ / १५

अर्थात्—“शरीर में जो प्राण शक्ति (आग्नेय परमाणुओं के रूप में) काम कर रही थी, मैंने जाना नहीं कि मेरे संस्कार उसमें किस प्रकार अंकित होते रहे। मृत्यु के समय मेरी पूर्व जन्म की इच्छाएँ, सोने के समय मन आदि सब इंद्रियों के विलीन हो जाने की तरह मेरे प्राण में विलीन हो गई थीं, वह मेरे प्राणों का (इस दूसरे शरीर में) पुनर्जागरण होने पर ऐसे जाग्रत हो गए हैं, जैसे सोने के बाद जागने पर। मनुष्य सोने के पहले के संकल्प-विकल्प के आधार पर काम प्रारंभ कर देता है। अब मैं पुनः आँख, कान आदि इंद्रियों को प्राप्त कर जाग्रत हुआ हूँ और अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भुगतने को बाध्य हुआ हूँ।”

विचार और कर्म के संयोग से जो स्वभाव-अभ्यास बनता है, वस्तुतः उसी को संस्कार कहते हैं। यह संस्कार देर से जगते हैं और देर से कटते हैं। मरने के उपरांत इंद्रिय समुच्चय और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, अंतःकरण तो स्थूल शरीर के साथ छूट जाते हैं, किंतु सूक्ष्म शरीर संस्कारों से जकड़ा रहता है। वे ही स्वर्ग-नरक की अनुभूति करते हैं और नए जन्म का आधार बनाते हैं। कुकर्मी गिरते और चौरासी लाख हेय योनियों में भ्रमण करते हैं। चेतना को नए

४.४० प्रज्ञोपनिषद्

सिरे से विकसित करने के लिए उन्हें वृक्ष जैसी जड़ समझी जाने वाली योनियों में जाना पड़ता है। नए सिरे से प्रगति क्रम आरंभ करने और उपहार-अनुदानों से वंचित करने वाली यह दंड व्यवस्था स्रष्टा ने कर्मफल की सुनिश्चितता को ध्यान में रखकर ही बनाई है। हर जन्म में कर्मों का तुरंत फल नहीं मिल पाता, वे अवसर की प्रतीक्षा में पड़े रहते हैं। परलोक में स्वर्ग-नरक तथा पुनर्जन्म की परिस्थितियों में इन कृत्यों की भरपाई होती रहती है। जिनके कुसंस्कार अधिक भारी और भयानक नहीं हैं, वे प्रायः फिर मनुष्य जन्म प्राप्त कर लेते हैं। उसमें भी कर्मफल भोगने का पर्याप्त अवसर रहता है। कितने ही मनुष्य जन्मजात भली-बुरी उपलब्धियाँ साथ लाते हैं। इसे संचित कृत्यों का प्रतिफल ही कहा जा सकता है।

मनुष्य के उपरांत देव योनियाँ हैं। उनमें न अभाव है, न असंतोष। कामना, वासना में ग्रसित व्यक्ति जिस प्रकार जलते-जलाते रहते हैं, वे उद्विग्नताएँ भी उन योनियों में नहीं हैं। आत्मगौरव को समझने और उपलब्ध संपदाओं का सदुपयोग करने की ऋतुभरा प्रज्ञा इन्हीं दिव्य योनियों में पहुँचने वालों को मिलती है। आदर्शवादी, महामानव, आत्मसंयमी ब्राह्मण परोपकारी, संत, मनस्वी, सुधारक, समर्पित शहीद, अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करने वाले अग्रदूत अवांछनीयता के प्रवाह को उलट देने में समर्थ अवतार अपने-अपने स्तर के देवात्मा माने गए हैं। वे काया से तो मनुष्य जैसे ही होते हैं, खाते-सोते भी उसी तरह हैं, किंतु उनकी दूरदर्शिता, उदारता एवं साहसिक सामान्य मनुष्यों की तुलना में उतनी ही ऊँची होती है, जितनी कि धरातल और स्वर्गलोक की।

देवता स्वावलंबी होते हैं। वे सामान्य लोगों से प्रभावित नहीं होते, वरन उनका मार्गदर्शन करते हैं। एकाकी चलते हैं, उन्हें उत्कृष्टता, आत्मप्रेरणा और ईश्वर की अनुकंपा के अतिरिक्त और किसी का सहयोग पाने की न तो इच्छा होती है, न आवश्यकता प्रतीत होती है। वे अंतरात्मा का अनुकरण करते हुए प्रचंड साहस के बल पर एकाकी चलते और पूर्ण चंद्र का उदाहरण बनते हैं। ऐसे लोगों का उदार दृष्टिकोण उन्हें हर घड़ी स्वर्गलोक की अनुभूतियाँ कराता है। उनके आदर्श चरित्र का चुंबकत्व चारों ओर एक देव मंडली समेटे रहता है और शालीनता का वातावरण उनके साथ-साथ चलता है। संकीर्ण स्वार्थपरता के दल-दल से निकलकर वसुधैव कुटुंबकम् की महानता अपनाने वाले भव-बंधनों से स्वयमेव विमुक्त हो जाते हैं।

आस्तिकत्वे चेश्वरस्तु न्यायकर्ता तथैव च।

समदृष्टियुतः सर्वव्यापकश्च मतः समैः ॥ ३४ ॥

क्रियाकृत्यानि प्रेमास्य रोषश्चाश्रयतस्ततः।

अस्याः पुष्टिर्मान्यताया विश्वासेन भवेदिह ॥ ३५ ॥

अनंतजीवनस्यैव सोऽन्यथा मानवो भवेत्।

उदंडो नास्तिकः कर्मफलाप्राप्तौ निरंतरम् ॥ ३६ ॥

सर्वनाशश्च स्वस्यैव दृष्टिकोणेन संततम्।

जायतेऽनेन चानीतिजन्यदुःखानि तान्यथ ॥ ३७ ॥

दारिद्र्यं च समस्तेऽपि संसारे यांति विस्तरम्।

अमराः संति देवास्ते देवसंस्कृतिगा अपि ॥ ३८ ॥

नरा आत्माऽमरत्वं च निश्चितं मन्यते सदा।

मरणस्य भयं दुःखं मन्यन्ते न ततश्च ते ॥ ३९ ॥

टीका—आस्तिकता में ईश्वर को न्यायकारी, समदर्शी, सर्वव्यापी माना जाता है। उसका दुलार और रोष क्रिया-कृत्यों पर ही निर्भर रहता है। इस मान्यता की पुष्टि, अनंतजीवन के विश्वास से ही होती है। अन्यथा कर्मफल में देर लगने पर मनुष्य निरंतर कृपण, उदंड एवं नास्तिक होने लगता है, इस दृष्टिकोण के अपनाने से अपना सर्वनाश होता है और समस्त संसार में अनीतिजन्य दुःख-दारिद्र्य का विस्तार होता है। देवता अमर होते हैं। देवसंस्कृति पर विश्वास करने वाले, मनुष्य की आत्मिक अमरता को सुनिश्चित मानते हैं। फलतः मरण का भय और दुःख भी नहीं मानते ॥ ३४-३९ ॥

वस्तुतः इस विश्व का निर्माणकर्ता बहुत ही दूरदर्शी और व्यवहार कुशल है। उसने इतना बड़ा सृजन किया है। जड़ में हलचल और चेतन में चिंतन की इतनी अद्भुत क्षमता का समावेश किया है कि किसी सूक्ष्मदर्शी को आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। निर्माण व्यवस्था और परिवर्तन की जो रीति-नीति विनिर्मित की है, उसके तारतम्य को देखते हुए मनीषियों ने कला की कल्पना की और विज्ञान की धारणा को मूर्त रूप दिया। ऐसे सर्वसंपन्न स्रष्टा से कर्म व्यवस्था के संबंध में चूक होना यह सोचना अपनी ही बाल बुद्धि का खोखलापन दर्शाना है। जिसकी दुनिया में दिन और रात की, ग्रह-नक्षत्रों के उदय, अस्त की, पदार्थ की प्रकृति और प्राणियों की परंपरा की विधि-व्यवस्था में कहीं राई-रत्ती अंतर नहीं पड़ता वह कर्मफल को संदेहास्पद बनाकर अराजकता का और आत्मघात का विग्रह खड़ा नहीं कर सकता।

आत्मिकी के सिद्धांत व्यक्तिगत जीवन को अधिकाधिक सुसंस्कृत एवं पवित्र बनाने की भूमिका संपादित करते हैं। यही सिद्धांत है, जिनके माध्यम से सामाजिक सुव्यवस्था की आधारशिला रखी है। (१) शरीर की नश्वरता, (२) आत्मा की अमरता, (३) कर्मफल का सुनिश्चित होना, तथा (४) परलोक पुनर्जन्म की संभावना यह चार सिद्धांत ऐसे हैं, जो किसी न किसी रूप में प्रायः अध्यात्म की सभी शाखाओं में प्रतिपादित किए गए हैं।

आत्मा की पुकार है, मृत्योर्माऽमृतंगमय हे परमेश्वर, मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले चल। मरण कितना अवांछनीय

और जीवन कितना अभीष्ट है, इसका आभास इस पुकार में मिलता है। अंतरात्मा की प्रबल कामना है, जिजीविषा। वह जीना चाहता है। शरीर नष्ट हो जाए, तो क्या? आत्म सतत जीवित बने रहने की आकांक्षा रखती है। जब यह भाव है, तो मृत्यु से डर किस बात का एवं फिर इस जन्म में दुष्कर्म बन भी कैसे पड़े?

जिसने जन्म लिया है, उसका मरण सुनिश्चित है। सृष्टि क्रम ही जन्म-मरण की धुरी पर घूम रहा है। जो जन्मा है, सो मरेगा ही। जीवनेच्छा कितनी प्रबल क्यों न हो, मरण से बचा नहीं जा सकता। मृत्यु की चलती चक्की में अन्न के दानों की तरह हमें आज नहीं, तो कल पिसकर ही रहना है। इस तथ्य को न तो झुठलाया जा सकता है और न उसका सामना करने से बचा जा सकता है। मरण तो एक ध्रुव सत्य ही मानकर चलना चाहिए। अनिच्छा, भय, भीरुता अथवा कृपणता, कातरता कुछ भी मन में क्यों न हो? प्रकृति का सुनिश्चित क्रम रुकेगा नहीं, हमारा परम प्रिय लगने वाला आज का सुनिश्चित अस्तित्व कल महान शून्य में विलीन होकर रहेगा। आज की यथार्थता कल विस्तृत के गर्त में गिरकर सदा के लिए अविज्ञता के अंतरिक्ष में बिखर जाएगी।

मरण से भयभीत होकर आतुर लोग ऐसा सोचते हैं कि इन्हीं क्षणों जितना अधिक आनंद उठा लिया जाए, उतना ही उत्तम है। वे इंद्रियलिप्सा एवं मनोविनोद के लिए अधिकाधिक साधन जुटाते हैं और उसके लिए जो भी उचित-अनुचित करना पड़े उसे करने में भी नहीं चूकते। यह उपभोग की आतुरता कई बार तो इतनी बढ़ी-चढ़ी और इतनी अदूरदर्शी होती है, कि उपभोग का आरंभ होते-होते विपत्ति का वज्र सिर पर टूट पड़ता है। अपराधियों और कुकर्मियों की दुर्गति आए दिन देखी जाती है। कइयों को तुरंत ही प्रतिरोध का, प्रतिशोध का सामना नहीं करना पड़ता। सामयिक सफलता भी मिल जाती है, पर ईश्वरीय कानून तो उलटे नहीं जा सकते।

पितृणां संततीनां च मध्ये संबंध एष तु ।
विद्यते स्वजनैरत्र संपर्कोऽपि भवत्यलम् ॥ ४० ॥
संबंधिनो दिवं यातान्प्रति द्वारमपावृतम् ।
विद्यते स्नेहसद्भावसहयोगं प्रदर्शितुम् ॥ ४१ ॥
कृतानामुपकाराणां प्रतिकर्तुमवाप्यते ।
समयो मान्यतामेतामाश्रित्यैव नैरिह ॥ ४२ ॥
दिवंगतान् समुद्दिश्य श्रद्धा सद्भावना च या ।
व्यज्यते तच्छुभं कर्म श्राद्धतर्पणमुच्यते ॥ ४३ ॥
मन्यते चैनमाश्रित्य त्वाधारं स्वर्गिणामपि ।
स्वजनानां साहाय्यं श्राद्धिकं कर्तुमिष्यते ॥ ४४ ॥
मान्यतेयं कृतज्ञत्वपोषिका वर्तते दृढम् ।

प्रतिकर्तुं ददात्येषा सर्वेभ्योऽवसरं सदा ॥ ४५ ॥

आधारमिममाश्रित्य सद्भावो जाग्रतस्तु यः ।

लोकमंगलकार्येषु चोपयुक्तुं स शक्यते ॥ ४६ ॥

श्राद्धे तत्राऽन्नपिण्डं तु तर्पणे चामृतं तथा ।

दीयतेऽन्नं साधनानां श्रमदानस्य चामृतम् ॥ ४७ ॥

प्रतीकत्वमिहायातं श्राद्धे यद्दीयते च तत् ।

तस्यापि माध्यमं नूनं तदेवात्र तु विद्यते ॥ ४८ ॥

दानकृत्येभ्य एवात्र निश्चितं यत्तु पूर्वतः ।

यज्ञार्थाय तथा तस्मै विपदवारणहेतवे ॥ ४९ ॥

टीका—पितरों और संतति के बीच संबंध बना रहता है। स्वजनों के प्रति संपर्क भी रहता है। अस्तु उन दिवंगत संबंधियों के प्रति स्नेह, सद्भाव, सहयोग प्रदर्शित करने का द्वार खुला रहता है। उनके किए हुए उपकारों का बदला चुकाने का भी इस मान्यता के आधार पर अवसर मिलता रहता है। दिवंगतो के प्रति श्रद्धा, सद्भावना व्यक्त करने का उपचार श्राद्ध-तर्पण है। माना गया है कि इस आधार पर स्वर्गीय स्वजनों की श्रद्धा युक्त सहायता की जा सकती है। यह मान्यता-कृतज्ञता की दृढ़ पोषक है। प्रत्युत्तर के लिए अवसर प्रदान करती है, साथ ही इस आधार पर जाग्रत हुई सद्भावना का उपयोग लोकमंगल के सत्प्रयोजनों में बन पड़ता है। श्राद्ध में जो दिया गया है, उसका माध्यम भी वही है, जो प्रत्येक दानकृत्यों के लिए निर्धारित है यज्ञार्थाय और विपदवारणाय ॥ ४०-४९ ॥

भारतीय संस्कृति ने यह तथ्य घोषित किया है कि मृत्यु के साथ जीवन समाप्त नहीं होता। अनंत जीवन शृंखला की एक कड़ी मृत्यु भी है। इसीलिए संस्कारों के क्रम में जीव की उस स्थिति को भी बाँधा गया है, जब वह एक जन्म पूरा करके अगले जीवन की ओर उन्मुख होता है। कामना की जाती है कि संबंधित जीवात्मा का अगला जीवन पिछले की अपेक्षा अधिक सुसंस्कारवान बने। इस निमित्त जो कर्मकांड किए जाते हैं, उनका लाभ जीवात्मा को क्रियाकर्म करने वालों की श्रद्धा के माध्यम से ही मिलते हैं। इसीलिए मरणोत्तर संस्कार को श्राद्धकर्म भी कहा जाता है।

इस दृश्य संसार में स्थूल शरीर वालों को जिस इंद्रिय भोग, वासना, तृष्णा एवं अहंकार की पूर्ति में सुख मिलता है, उसी प्रकार पितरों का सूक्ष्म शरीर शुभ कर्मों से उत्पन्न सुगंध का रसास्वादन करते हुए तृप्ति अनुभव करता है। उसकी प्रसन्नता तथा आकांक्षा का केंद्र बिंदु श्रद्धा है। श्रद्धा भरे वातावरण के सान्निध्य में पितर अपनी अशांति खोकर आनंद का अनुभव करते हैं। श्रद्धा ही उनकी भूख है, इसी से उन्हें तृप्ति होती है। इसलिए पितरों की प्रसन्नता के लिए श्राद्ध एवं तर्पण किए जाते हैं। पितर वे हैं, जो पिछला शरीर त्याग चुके

४.४२ प्रज्ञोपनिषद्

हैं, किंतु अगला शरीर अभी प्राप्त नहीं कर सके इस मध्यवर्ती स्थिति में रहते हुए वे अपना स्तर मनुष्यों जैसा ही अनुभव करते हैं।

मुक्त आत्माओं और पितरों के प्रति मनुष्यों को वैसा ही श्रद्धाभाव दृढ़ रखना चाहिए, जैसा देवों-प्रजापतियों तथा परमात्म सत्ता के प्रति। मुक्तों, देवों, प्रजापतियों एवं ब्रह्म को तो मनुष्यों की किसी सहायता की आवश्यकता नहीं होती। किंतु पितरों को ऐसी आवश्यकता होती है। उन्हें ऐसी सहायता दी जा सके, इसीलिए मनीषी पूर्वजों ने पितरपूजन, श्राद्ध कर्म की परंपराएँ प्रचलित की थी। उनकी सही विधि और उनमें सन्निहित प्रेरणा को जानकर पितरों को सच्ची भाव-श्रद्धांजलि अर्पित करने पर वे प्रसन्न पितर बदले में प्रकाश, प्रेरणा शक्ति और सहयोग देते हैं। पितरों को स्थूल सहायता की नहीं, सूक्ष्म भावनात्मक सहायता की ही आवश्यकता होती है। क्योंकि वे सूक्ष्म शरीर में ही अवस्थित होते हैं। इस दृष्टि से मृत्यु के पश्चात् पितृपक्ष में, मृत्यु की तिथि के दिन अथवा पर्व-समारोहों पर श्राद्ध कर्म करने का विधान देवसंस्कृति में है।

श्राद्ध किस तत्व पर टिका है? शरीर के नष्ट हो जाने पर भी जीव का अस्तित्व नहीं मिटता। वह सूक्ष्म रूप से हमारे चारों ओर वातावरण में घूमते रहते हैं। जीव का फिर भी अपने परिवार के प्रति कुछ-न-कुछ महत्व रह जाता है। सूक्ष्म आत्माएँ आसानी से सब लोकों में आकर हमारे चारों ओर चक्कर लगाया करती हैं। हमारे विचार और भावनाएँ इस सूक्ष्म वातावरण में फैलते हैं। इन्हें हम जिस तेजी से बाहर के वातावरण में फेंकते हैं, वे उसी गति से दूर-दूर फैल जाते हैं। अतः श्राद्ध में किए गए पूर्वजों के प्रति हमारे आत्मीयता, सद्भावना, कृतज्ञता के भाव उन आत्माओं के पास पहुँच जाते हैं। उसे उनसे सुख, शांति प्रसन्नता और स्वस्थता मिलती है।

श्राद्ध में हविष्यान पिंडों के द्वारा श्रद्धाभिव्यक्ति की जाती है। ये पिंड साधन-दान के प्रतीक होते हैं। स्वर्गस्थ आत्माओं की तृप्ति के लिए तर्पण किया जाता है। जल की एक अंजलि भरकर कृतज्ञता के भाव से भरकर हम स्वर्गीय पितृदेवों के चरणों में उसे अर्पित कर देते हैं। इस प्रकार श्रद्धा, प्रेम, कृतज्ञता, अभिनंदन सभी का मिश्रित रूप श्राद्ध है।

सदुद्देश्यसुपूर्त्यर्थं दानमेतत्तु दीयते ।
सार्थक्यं सत्प्रवृत्तेस्तु वर्द्धनं तस्य चामृतम् ॥ ५० ॥
याति संपन्नतां श्राद्धं नैव सामर्थ्यसंयुतान् ।
भोजयित्वा नरान् वंशवेष्यारेव निश्चितान् ॥ ५१ ॥
दत्त्वा तेभ्यो धनं वाऽपि संति ते त्वधिकारिणः ।

वस्तुतः सच्चरित्रा ये विशालहृदया अपि ॥ ५२ ॥
विपद्ग्रस्ताश्च ये संति तथाशक्ताः स्वतश्च ये ।
प्रतिग्रहस्य ग्रहीतुं नरा तेऽधिकृता उत ॥ ५३ ॥
समर्पिताः समाजस्य सेवार्थं ये सदैव च ।
संपदाऽऽजीविकाचापि येषां नैवात्मनः क्वचित् ॥ ५३ ॥
नरा एतादृशा एवं उच्यन्ते साधुब्राह्मणाः ।
प्राप्तुं दानमिमे मर्त्या अधिकारिण आमताः ॥ ५५ ॥
वस्तुतो दानमेतत्तु सत्प्रयोजनहेतवे ।
प्रामाणिकाय तन्त्राय दातुमेवात्र युज्यते ॥ ५६ ॥
अन्यथा हानिदं श्राद्धं वैपरीत्येन जायते ।
तन्निमित्तं कृतं यत्तु शुभकर्मतदेव चेत् ॥ ५७ ॥
कुपात्रकरयातं स्यादवाञ्छितविधौ गतम् ।
पितृणां दुःखदं तेषां भवेद् येषां कृते कृतम् ॥ ५८ ॥

टीका—दान सदुद्देश्यों की पूर्ति के लिए दिया जाता है। उसकी सार्थकता सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन में मानी गई है। अस्तु, श्राद्धप्रक्रिया किसी वंश या वेष के समर्थ मनुष्यों को व्यर्थ ही भोजन कराने, पैसा देने से संपन्न नहीं हो सकती। वे ही व्यक्ति दान के अधिकारी हैं, जो सच्चरित्र, विशाल हृदय हों, विपत्ति में फँसे हों और अपने पैरों खड़े हो सकने में असमर्थ हों। अथवा उनको निर्वाह लेने का अधिकार है, जो सर्वतोभावेन समाज सेवा के लिए समर्पित है। जिनके पास अपनी कोई संपदा या आजीविका नहीं है, ऐसे ही लोग साधु-ब्राह्मण कहलाते हैं। मात्र ऐसों के ही व्यक्तिगत रूप से दान लेने का अधिकार है। वस्तुतः दान तो सत्प्रयोजनों के लिए प्रामाणिक तंत्र के हाथों ही सौंपा जाना चाहिए। अन्यथा श्राद्ध पितरों के लिए उलटा हानिकारक होता है। उनके निमित्त किया हुआ शुभ कर्म यदि कुपात्र हाथों या अवांछनीय कृत्यों में नियोजित हो, तो उन पितरों को दुःख होना स्वाभाविक है, जिनके लिए वह किया गया ॥ ५०-५८ ॥

श्राद्ध व्यवस्था में पितर-मुक्ति हेतु दान का संकल्प लिया जाता है। इसको सही परिप्रेक्ष्य में समझा जाना चाहिए। जिस कार्य से असमर्थों, अशक्तों को सहायता मिले, समाज में सत्प्रवृत्तियाँ का विस्तार हो, वह सच्चे अर्थों में दान है। वंश-ब्राह्मण का हो, वंश साधु का हो, इन शब्दों को उनके भावार्थ में समझा जाना चाहिए। हट्टे-कट्टे मात्र भिक्षा पर जीवित रहने वाले परावलंबी भगवा वेशधारियों को भोजन कराकर दान देकर पितर मुक्ति का लक्ष्य तो पूरा होता नहीं, उल्टे दो अपयश हाथ लगते हैं। इस लोक में परावलंबन को बढ़ावा देकर पाप अपने ऊपर ओढ़ना, दूसरे परलोक में बैठी पितर आत्माओं का शाप अपने ऊपर लगाना। इस दुर्गति से बचने का श्रेष्ठ तरीका यही है कि लोकमंगल के कार्य में लगे सुपात्र व्यक्ति यों या संस्थाओं को श्रेष्ठता अभिवर्द्धन हेतु

साधन दान दिया जाए एवं संभव हो, तो समय के रूप में श्रम-सीकर बहाने का संकल्प लिया जाए। दूसरे स्थान पर वे व्यक्ति आते हैं, जो आपदाओं में फँसने या अशक्ति के कारण स्वयं अपना निर्वाह करने में असमर्थ हैं। इन्हें स्वावलंबी बनाने के प्रयास करने से भी पितर मुक्ति होती है।

पूर्वजोपार्जितं वित्तं समर्था संततिः स्वतः।

प्रतिदद्यादलं तेषां वर्द्धितुं पुण्यसंपदाम्॥५९॥

इयमेव च शालीना विद्यते च परंपरा।

शुभा प्रत्युपकारस्य येनात्मा संप्रसीदति॥६०॥

पूर्वजैरनुदानं यद्वत्तं यश्च कृतः स्वयम्।

सहयोगश्च देयं तत्पूर्वजैर्भ्यो द्वयं त्विह॥६१॥

वार्धक्ये च सुपात्रं या संततिः सा तु सेवया।

अभिभावकवृद्धानां सहयोगेन चेच्छति॥६२॥

आनृण्यमात्मनोऽतश्च स्वर्गस्थानां कृते नरः।

दानपुण्यादिकार्यैश्च प्रति यच्छति संततम्॥६३॥

आनृण्योऽवसरोऽनेन लभ्यते त्वन्यथा तु तत्।

भविष्यजन्मसु स्याच्च भारवाहितयाऽर्पितुम्॥६४॥

अनुदानं संततिश्च प्रदत्तमभिभावकैः।

गृहीयादसमर्थस्तु न सामर्थ्यं समागते॥६५॥

टीका—पूर्वजों का उपार्जित धन, समर्थ संतान उन्हीं की पुण्य-संपदा बढ़ाने के लिए लौटा दे। प्रत्युपकार की यही शालीन परंपरा है। इसी से आत्मा प्रसन्नता व तृप्ति प्राप्त करती है। जीवित पूर्वजों को उनके किए हुए सहयोग एवं दिए हुए अनुदान को वापिस किया जाना चाहिए। वृद्धावस्था में सुपात्र संतानों अपने अभिभावकों की सेवा-सहायता करके उन्नत होने का प्रयास करती हैं। स्वर्गवास होने पर उसे उनके निमित्त पुण्यकार्य करके वापिस लौटाती हैं। उससे भी उन्नत होने का अवसर मिलता है। न लौटाने पर वह ऋण अगले जन्मों में भार ढो-ढोकर चुकाना होता है। संतान को अभिभावकों के अनुदान तभी तक लेने चाहिए, जब तक समर्थ न हो॥ ५९-६५॥

दिवंगत आत्मा ने उत्तराधिकार में जो छोड़ा है, उसमें से उतना ही स्वीकार करना चाहिए, जो पीछे वाले बिना कमाऊ बालकों या स्त्रियों के निर्वाह के लिए अनिवार्य हो। कमाऊ संतान को उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए। दिवंगत आत्मा के अन्य एहसान ही इतने हैं कि उन्हें अनेक जन्मों तक चुकाना पड़ेगा। फिर यह नया ऋण भारी ब्याज समेत चुकाने के लिए क्यों और भी सिर पर लादा जाए। असमर्थ स्थिति में अभिभावकों की सेवा स्वीकार करना उचित था, पर जब व्यस्क और कमाऊ हो गए, तो फिर उसे लेकर हराम खाऊ मुफ्तखोरों में अपनी गणना क्यों कराई जाए।

पूर्वजों के छोड़े हुए धन में कुछ अपनी ओर से श्रद्धांजलि

मिलाकर उनकी आत्मा के कल्याण के लिए दान कर देना चाहिए। यही सच्चा श्राद्ध है। पानी का तर्पण और आटे की गोली का पिंडदान पर्याप्त नहीं, वह किया कृत्य तो मात्र प्रतीक है। श्रद्धा की वास्तविक परीक्षा उस श्राद्ध में है, जो पूर्वजों की कमाई को उन्हीं की सद्गति के लिए सत्कर्मों के लिए दान रूप में समाज को वापिस कर दिया जाए। अपनी कमाई का जो सदुपयोग मोह या लोभवश स्वर्गीय आत्मा नहीं कर सकी थी, उस कमी की पूर्ति उसके उत्तराधिकारियों को कर देनी चाहिए।

जीवित स्थिति में भी युवा संतानों का यह दायित्व है कि उनके ऊपर उनको जन्म देकर बड़ा करने, स्वावलंबी समर्थ बनाने वाले अभिभावक वृद्ध माता-पिता की परिपूर्ण सेवा की जाए। सेवा इस उद्देश्य से न की जाए कि उनकी छोड़ी संपत्ति हमें उत्तराधिकार में मिलेगी, अपितु पुत्र धर्म के नाते की जाए। आयुष्य की उत्तरावस्था में दिया गया अभिभावकों को कष्ट उनकी आह के रूप में जब सिर पर लदता है तो इस जन्म में व परलोक में त्रास-ही-त्रास देता है।

इयमेव तु श्राद्धस्य विद्यते तु परंपरा।

व्यक्तानि साधनान्यत्र प्रतिदीयंत एव तु॥६६॥

यत्प्राप्तं दीयते तच्च श्रद्धासद्भावकारणात्।

अतोऽतिरिक्तमप्यत्र संभवं यद् भवेदपि॥६७॥

लोकमंगलकृत्यं तत्कर्तव्यमिच्छमेव च।

श्रमदानं साधनानां दानैः सहनियुज्यताम्॥६८॥

तर्पणं श्रमदानं च स्वेदबिन्दुप्रतीकताम्।

धत्तः शिक्षाभिवृद्धौ सुव्यवस्थायां तथैव च॥६९॥

वृक्षारोपणकार्यं च स्वच्छतायामपीदृशम्।

विविधेषु हि कृत्येषु श्रमो योक्तव्य एव च॥७०॥

तर्पणं चेदमेवास्ति लोकचित्तपरिष्कृतौ।

धनार्पणं भवेच्छ्राद्धमिदमेव च संततेः॥७१॥

पितृनुदिद्ध्य कर्तव्यं यदस्ति तत्स्मृतिः शुभा।

श्राद्धतर्पणकार्येण कार्यते लोक उच्यते॥७२॥

टीका—यही श्राद्ध परंपरा है। इसमें छोड़े हुए साधन लौटाए जाते हैं। जो लिया था, वह वापस किया जाता है। इसके अतिरिक्त भी अपनी श्रद्धा-सद्भावना की पहल करने के निमित्त जो बन पड़े, लोकमंगल के शुभ कृत्य करते रहना चाहिए। इस हेतु न केवल साधनों का दान हो, वरन श्रमदान भी नियोजित रखा जाए। तर्पण-श्रमदान-स्वेदबिंदुओं का प्रतीक है। वृक्षारोपण, शिक्षा-संवर्द्धन, स्वच्छता, सुव्यवस्था जैसे कृत्यों में श्रम किया जाए यह तर्पण हुआ। लोकमानस के परिष्कार में धन लगाया जाए यह श्राद्ध कहलाया। संतान का पितरों के प्रति जो कर्तव्य है, उसका स्मरण श्राद्धतर्पण की प्रतीक, परिचर्या द्वारा कराया जाता है॥ ६६-७२॥

४.४४ प्रज्ञोपनिषद्

पितरों के प्रति सच्चा श्राद्ध वही है, जिसमें उनके छोड़े हुए उत्तरदायित्वों को पूरा किया जाए। श्राद्ध का अर्थ है, श्रद्धा युक्त आचरण धन को जब सदुद्देश्यों के निमित्त नियोजित किया जाता है, तो वह श्राद्ध कहलाता है। जो भी कुछ व्यक्ति समाज से लेता है, उसके बदले उपार्जन कर संपत्ति जुटाता है, उसे समाज हित के कार्यों में जीवन काल में ही लगा दे, यह मर्यादा है। यदि योगवश वह ऐसा न कर पाए, तो उसके उत्तराधिकारी, कुटुंबी, मरणोपरांत उस कार्य को श्रद्धा के साथ पूरा करें, यह देवसंस्कृति की व्यवस्था है। श्राद्ध द्वारा मृतात्मा की शांति, सद्गति मिलने की मान्यता के पीछे यही तथ्य है। तर्पण मात्र जल को अंजुलि में भरकर छोड़ना भर नहीं है। शरीर का पसीना भी लोकहित हेतु बहे। शुभ कार्य पारिश्रमिक देकर नौकरों से नहीं कराए जा सकते। समाज में सत्प्रवृत्ति फैलाने वाले मंगलकारी कृत्यों हेतु स्वयं के श्रम, सीकर बहने चाहिए तो ही यह कर्मकांड पूरा होता है, नहीं तो बस निमित्त मात्र चिह्न पूजा बनकर रह जाता है।

श्रद्धाभिव्यक्तितृप्तास्ते पितरोऽपि परोक्षतः।

उच्यते कुर्वते नृणां कुलस्थानां सहायताम्॥ ७३ ॥

निराशा ये समुद्विग्नाः खिन्ना रुष्टास्तथैव च।

असंतुष्टाः कुलस्यैवाऽहितं तेन भवत्यलम्॥ ७४ ॥

दृष्ट्याऽनिवार्यैषा श्राद्धस्यात्रोपयोगिता।

सत्कर्मनिरता या च संततिस्तस्य कर्मणाम्॥ ७५ ॥

एकोऽंशः प्राप्यते तस्य पूर्वजैरपि निश्चितम्।

संतुष्टाः सुखिनस्ते च निवसन्ति ददत्यपि॥ ७६ ॥

अंशदानं पिंडदानं प्राप्य चाशिषमुत्तमम्।

कुर्मणा च पापेन जायते पितृ - दुर्गतिः ॥ ७७ ॥

पुण्यानामिव पापानां भागिनस्ते भवन्त्यपि।

दायित्वं सृजनस्यात्र प्रत्येकं भजते नरः॥ ७८ ॥

टीका—कहा जाता है कि श्रद्धाभिव्यक्ति से तृप्त हुए पितर अपने वंशधरों की परोक्ष सहायताएँ करते रहते हैं और जो निराश-उद्विग्न हैं, वे खिन्न, रुष्ट एवं असंतुष्ट रहते हैं। उनका वह असंतोष परिवार का अहित करता है। इस दृष्टि से भी श्राद्ध की उपयोगिता-आवश्यकता मानी गई है। सत्कर्मरत संतति के शुभकर्मों का एक भाग पूर्वजों को मिलता है। इसीलिए वे संतुष्ट-सुखी रहते हैं और पिंडदान-अंशदान पाकर मनभावन आशीर्वाद देते हैं। इसी प्रकार कुकर्मों संतान के पाप कर्मों से उनके उत्पादनकर्ता पूर्वजों की दुर्गति भी होती है। वे पुण्य की तरह पाप के भी भागीदार बनते हैं। सृजन कृत्यों का उत्तरदायित्व हर किसी को ओढ़ना पड़ता है ॥ ७३-७८ ॥

यहाँ ऋषिवर कहते हैं कि पितरों को सच्ची श्रद्धा दी जाएगी, उन्हें तृप्त रखा जाएगा, तो वे निश्चय ही शक्ति, प्रकाश, मार्गदर्शन, प्रेरणा, सहयोग एवं भावात्मक अनुदान

देगे।

मरण समय में विशुद्ध मनःस्थिति लेकर मरने वाले अक्सर भूत-प्रेत की योनि भुगतते हैं। स्वार्थी अपनी अतृप्त कामनाओं की पूर्ति के लिए उस प्रकार के घटनाक्रमों के इर्द-गिर्द मँडराते रहते हैं और शरीर न होने पर भी वे इच्छित स्वभाव के अनुरूप जहाँ वातावरण दीखता है, वहाँ पहुँचते हैं। जिनसे अपनी मित्रता या शत्रुता रही है, उन्हें लाभ-हानि पहुँचाने का भी जो कुछ प्रयास बन पड़ता है, उसे करते रहते हैं। इन्हें प्रेत स्तर का कहा जाता है। परमार्थ परायण आत्माएँ कष्ट पीड़ितों की सहायता करने जा पहुँचती हैं और अदृश्य सहायकों की भूमिका निभाती हैं। किन्हीं को प्रेरणा देकर उनके शरीरों से वह काम करा लेती हैं, जिसे करने के लिए उनकी परमार्थ भावना उमड़ती है। इन अशरीरी द्रव्य योनियों के चार वर्ग हैं। (१) पितर (२) मुक्त (३) देव और (४) प्रजापति। वे सद्भाव संपन्न दिव्य आत्माएँ अपनी सीमा-मर्यादा के अनुरूप अपनी सामर्थ्य का उपयुक्त अवसर पर प्रयोग भी करते हैं और सृष्टि संतुलन बनाए रखने में भूमिका का निर्वाह भी करते हैं। ये आत्माएँ शांति और सुरक्षा के सदुद्देश्य से लेकर जीवन भर संबंधित व्यक्तियों की सहायता देती, परिस्थितियों को सँभालती तथा प्रिय वस्तुओं की सुरक्षा के लिए अस्तित्व का परिचय देती रहती हैं। पितृवत्, स्नेह, दुलार और सहयोग देना भर उनका कार्य होता है।

पितर ऐसी उच्च आत्माएँ होती हैं, जो मरण और जन्म के बीच की अवधि को प्रेत बनकर गुजारती हैं और अपने उच्च स्वभाव के संस्कार के कारण दूसरों की यथासंभव सहायता करती रहती हैं। इनमें मनुष्यों की अपेक्षा शक्ति अधिक होती है। सूक्ष्म जगत से संबंध होने के कारण उनकी जानकारीयाँ भी अधिक होती हैं। उनका जिनसे संबंध हो जाता है, उन्हें कई प्रकार की सहायताएँ पहुँचाती हैं। भविष्य ज्ञान होने से वे संबद्ध लोगों को सतर्क भी करती हैं तथा कई प्रकार की कठिनाईयों को दूर करने एवं सफलताओं के लिए सहायता करने का भी प्रयत्न करती हैं। ऐसी दिव्य प्रेतात्माएँ अर्थात् पितर सदाशायी-सद्भाव संपन्न और सहानुभूति पूर्ण होती हैं। वे कुमार्गगामिता से असंतुष्ट होती तथा सन्मार्ग पर चलने वालों पर प्रसन्न रहती हैं। पितरों के भी अनेक स्तर हैं और उसी के अनुरूप वे सहायता करते हैं।

शास्त्र मत योग वाशिष्ठ में बताया गया है कि मृत्यु के उपरांत प्रेत योनि मरे हुए जीव अपने बंधु-बांधवों के पिंडदान योगवाशिष्ठ के अनुसार करने के समय प्रत्येक जीव मूर्च्छा का अनुभव करता है। वह मूर्च्छा महाप्रलय की रात्रि के समान होती है। उसके उपरांत प्रत्येक व्यक्ति ही अपने स्वप्न और संकल्प के अनुसार अपने परलोक की सृष्टि करता है,

यही बात इन श्लोकों में कही गई है।

मरणादिमयी मूर्च्छा प्रत्येके नानुभूयते।
यैका तां विद्धि समते महाप्रलययामिनीम्॥
तदन्ते तनुते सर्गं सर्व एव पृथक्-पृथक्।
सहज स्वप्नसंकल्पान्संभ्रमाचल नृत्यवत्॥

—योगवाशिष्ठ ३।४०।३१ व ३२

अर्थात्—प्रेत अपनी स्थिति को इस प्रकार अनुभव करते हैं कि हम मर गए हैं और अब बंधुओं के पिंडदान से हमारा नया शरीर बना है।

स्पष्ट है कि यह अनुभूति भावात्मक ही होती है। अतः पिंडदान का वास्तविक महत्व उससे जुड़ी भावनाओं के ही कारण होता है। जिसके प्रति आत्मीयता होती है, उसके भावात्मक अनुदान से प्रेत प्रभावित होता है। क्योंकि मरणोत्तर जीवन की अनुभूतियाँ वासना और संस्कारों के प्रभाव की ही प्रतिच्छाया होती हैं। इसलिए जिससे आत्मीयता का संस्कार अंकित हो, उसकी भावनाएँ परलोकस्थ जीव को प्रभावित करती हैं।

गीता के ८ वें अध्याय में कहा गया है, हे अर्जुन! जो अंत समय में जिन भावों का स्मरण करता हुआ देह छोड़ता है, उन्हीं भावों से अनुप्राणित होकर वैसा ही नया शरीर, नया व्यक्तित्व प्राप्त करता है।

संन्यासी से इसीलिए संन्यास लेते समय उसके श्राद्ध संस्कार भी उसी के द्वारा करा दिए जाते हैं, कि उसकी कोई भी आकांक्षा-आसक्ति सूक्ष्म रूप में भी शेष न रहे।

पूर्णतश्च समानौ स्तः पुत्रः पुत्री च निश्चितम्।
कर्त्तव्यान्यधिकाराश्च समत्वेन मता इह॥७९॥
श्राद्धतर्पणकर्तव्यविधौ तत्र द्वयोरपि।
उत्साहेन समानेन भवितव्यं सदैव च॥८०॥
पित्रोः पितामहस्याथ तत्र मातामहस्य च।
केवलानां न तच्छ्राद्धं भवत्यपि तु स्वर्गिणाम्॥८१॥
सर्वेषां स्वजनानां तद् भवितुं युज्यते ध्रुवम्।
संबन्धे केऽपि ते वास्युर्नात्रकश्चिद् व्यतिक्रमः॥८२॥
कनिष्ठाः कुर्वन्ते तत्र ज्येष्ठानां च यथैव तु।
श्राद्धं तथा कनिष्ठानां कर्तुं ज्येष्ठा अपि क्षमाः॥८३॥
क्षेत्रे त्वात्मन आहुर्न बुधास्त्वन्तर यत्र ते।
तत्र ज्येष्ठकनिष्ठत्वे शरीरस्थमिदं यतः॥८४॥
ऋषीणां देवतानां च गुरुणामुपकारिणाम्।
महामानवनान्मां च प्राप्तुमानुण्यमुत्तमम्॥८५॥
श्राद्धकर्मविधातव्यं कनिष्ठानामपि स्वयम्।
स्नेहसद्भाववात्सल्यं तत्र बोधयितुं महत्॥८६॥
यथा जन्मोत्सवस्तत्र विवाहोत्सव एव वा।
तथा वार्षिकश्राद्धं तत्कर्तुमत्रं च युज्यते॥८७॥

आत्मनोऽमरतायाश्च सिद्धांतोऽनेन पुष्यते।
परलोकस्य लोकस्य मध्ये च सघनस्तु सः॥८८॥
संबन्धः सततं तिष्ठन् परिवारविशालताम्।
कुरुतेऽक्षुण्णरूपां तां ब्रह्माण्डपरिशायिनीम्॥८९॥

टीका—कन्या और पुत्र समान हैं। दोनों के ही समान कर्त्तव्य और समान अधिकार हैं। इसलिए श्राद्धतर्पण करने में दोनों का ही समान उत्साह होना चाहिए। श्राद्ध मात्र अपने माता-पिता, बाबा-नाना आदि का ही नहीं होता, उन सभी स्वजनों का हो सकता है, जो दिवंगत हो गए, रिश्ते में वे कुछ भी क्यों न हों, इससे कुछ अंतर नहीं आता। छोटे-बड़ों का श्राद्ध जिस प्रकार करते हैं, उसी प्रकार बड़े छोटे का भी कर सकते हैं। आत्मा के क्षेत्र में छोटे-बड़े का अंतर नहीं रहता। वह तो शरीर के साथ जुड़ा हुआ है। गुरुजनों, महामानवों, ऋषि, देवताओं अथवा अन्य उपकारी जनों से ऋणमुक्त होने के लिए उनका श्राद्ध करना चाहिए। छोटे का उनके प्रति स्नेह, सद्भाव, वात्सल्य प्रकट करने के लिए जन्मोत्सवों, विवाहोत्सवों की तरह वार्षिक श्राद्ध भी हो सकता है। इससे आत्मा की अमरता को बल मिलता है और लोक-परलोक के बीच सघन संबंध बना रहने से परिवार की विशालता अक्षुण्ण बनी रहती है तथा समस्त ब्रह्मांड एक परिवार बन जाता है॥ ७९-८९॥

जहाँ तक पूर्वजों, पितरों, महामानवों के प्रति श्रद्धा श्राद्ध-तर्पण के रूप में अभिव्यक्त करने का प्रश्न है, पुत्र-पुत्री, नर-नारी में किसी प्रकार का भेद नहीं है। आत्मसत्ता द्वारा परलोक में बैठी सूक्ष्म आत्माओं को दी जा रही श्रद्धांजलि लिंग से बाधित नहीं है। आत्मा न नर है, न नारी, यह चिरंतन सत्य है। इसलिए यह मानना कि पुत्र होगा वही पिंडदान करेगा, नितान्त भ्रांतिपूर्ण मान्यता है। यही बात आयु की दृष्टि से छोटे-बड़े व्यक्तियों पर भी लागू होती है। छोटे बच्चों के असामयिक निधन पर भी उनकी आत्मा की शांति के लिए बड़ों द्वारा श्राद्ध किया जाना चाहिए।

श्राद्ध क्रिया मात्र पूर्वजों, आत्मीयजनों तक ही सीमित नहीं है। इस परिधि में सारा विश्व परिवार आ जाता है। जिन देवपुरुषों, महामानवों ने इस जगती के कल्याण हेतु विश्वसुधा के निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया, उन सभी के प्रति श्रद्धांजलि व्यक्त करना मानव मात्र का धर्म है।

आत्मनोऽमरतां तत्र मरणोत्तरजीवने ।
विद्यमानं विधिं चापि स्वजनोत्तरदायिताम्॥९०॥
विस्तृतं तत्समाकर्ण्य सत्रे संस्कृतिवाहिनि।
संगता मुदिताः सर्वे भृशं जिज्ञासवस्ततः॥९१॥
प्रतिपादनमेतच्च श्रोतृभिः संगतैः समैः।
तत्र चाद्यतनं दिव्यं महत्त्वान्वितमामतम्॥९२॥

४.४६ प्रज्ञोपनिषद्

उपलब्धौ च सन्तोषं हर्षमुत्तममेव ते।
उद्गिरन्तोऽगमन् सर्वे श्रुत्वा घोषं समाप्तिकम् ॥ १३ ॥

टीका—आत्मा की अमरता और मरणोत्तर जीवन की विधि-व्यवस्था तथा स्वजन-संबंधियों की जिम्मेदारी के संबंध में सुविस्तृत विवेचन सुनकर संस्कृति सत्र में सम्मिलित हुए

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते मरणोत्तरजीवने इति प्रकरणो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

सभी जिज्ञासुजन बहुत प्रसन्न हुए। आज के प्रतिपादन को भी श्रवणकर्त्ताओं ने गत दिवसों जैसा ही महत्वपूर्ण माना और इस उपलब्धि पर हर्ष, संतोष प्रकट करते हुए समापन घोष होने पर शांतिपूर्वक विदा हो गए ॥ १०-१३ ॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

आस्था-संकट-प्रकरण

अभूत् सत्रस्य षष्ठं च दिनमद्य श्रुतं जनैः।
जिज्ञासुभिः कथं देवसंस्कृतिर्भारतोदिता ॥ १ ॥
समस्तेऽपि तु संसारे ज्ञानालोकं व्यधात् तथा।
प्रकाशयति संपूर्णं विश्वं दिनकरो यथा ॥ २ ॥
मर्त्ये देवत्वभाविन्या धरित्र्यां स्वर्गसंस्थितेः।
कारिण्या गौरवं लोकैर्विभूतेर्ज्ञातमुत्तमम् ॥ ३ ॥
तथ्यमेतच्च विज्ञातुं संदेहो नैव कस्यचित्।
अवशिष्टो यदन्येषां प्राणिनां तुलनाविधौ ॥ ४ ॥
अनेकदृष्टिभिर्हीनो मनुष्यः कथमेष तु।
सृष्टेर्मुकुटरत्नत्वं सहसैव गतो महान् ॥ ५ ॥

टीका—आज सत्र का छठा दिन था। देवसंस्कृति ने भारत भूमि में उदित होकर समस्त संसार में किस प्रकार दिनकर जैसा प्रकाश फैलाया यह विवरण सभी जिज्ञासुओं ने ध्यानपूर्वक सुना। मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग का अवतरण करने वाली इस विभूति की गरिमा को उन्होंने गंभीरतापूर्वक समझा। किसी को इस तथ्य को समझने में संदेह न रहा कि अन्य प्राणियों की तुलना में अनेक दृष्टियों से गए-गुजरे मनुष्य को किस कारण सृष्टि का मुकुटमणि बनने का अवसर मिला ॥ १-५ ॥

मनुष्य अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं के कारण ही श्रेष्ठ बना है, अन्यथा इंद्रिय क्षमता, उदारता, वफादारी तथा संवेदना में वह पशुओं से मात खा सकता है।

बुद्धिवैशिष्ट्यहेतोर्वा शरीररचनाविधे।
कारणानैव स त्वत्र सर्वायाः प्रगतेरयम् ॥ ६ ॥
सुयोगस्त्वस्य चायात आदर्शचरितग्रहात्।
उत्कृष्टचिंतनाच्चैव मेधावित्वविधेरलम् ॥ ७ ॥
मनुष्याणां गरिम्मास्ता अनुरूपाश्च भावनाः।
मान्यता निःसृता देवसंस्कृतेरेव शोभनाः ॥ ८ ॥
अतः सा हि मनुष्याणां कृते भगवतो ध्रुवम्।

मन्यतामनुदानं तदिदं मानवमंगलम् ॥ ९ ॥
विभिन्नेषु हि देशेषु जातिष्वपि च दृश्यते।
यदौत्कृष्ट्यं स्वरूपाच्च भिन्नस्यास्ति हिमालयः ॥ १० ॥
उद्गमस्थलमेषोऽत्र धर्मो यत्र स उद्गतः।
भारतीयस्तथा नद्यो निर्गता वारिपूरिताः ॥ ११ ॥

टीका—मात्र मस्तिष्क संबंधी विशेषता एवं शरीर संरचना के कारण नहीं, मनुष्य को समग्र प्रगति का सुयोग उत्कृष्ट चिंतन, मेधाविता और आदर्श चरित्र अपनाने के कारण मिला है। मानवी गरिमा के अनुरूप मान्यताएँ और भावनाएँ देवसंस्कृति से ही निःसृत हुई हैं। इसलिए उसे समस्त मनुष्य जाति के लिए भगवान का कल्याणकारी दिव्य अनुदान ही माना जा सकता है। विभिन्न देशों और जातियों में जो उत्कृष्टता दृष्टिगोचर होती है, उसका स्वरूप भिन्न दीखते हुए भी उनका मूल उद्गम भारतीय धर्म का हिमालय ही है। न सूखने वाली सरिताएँ उसी से निकलीं और विभिन्न दिशाओं में गतिमान हुई हैं ॥ ६-११ ॥

मानव का विकास सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर हुआ है। देवसंस्कृति इस विद्या में सर्वोपरि रही है और उसके अनुदान विश्व की अनेक संस्कृतियों को मिले हैं। उनके प्रमाण आज भी मिलते हैं।

तथ्यमेतद् विदित्वाऽस्य चित्ते शंकोदिता नवा।
कणादस्य महर्षेः सा जिज्ञासोर्मगलोन्मुखा ॥ १२ ॥
यद्येवं तर्हि जायंते विग्रहा धर्मकारणात्।
कथं संस्कृतयो भिन्ना युद्धयंते च परस्परम् ॥ १३ ॥
धर्ममाश्रित्य जायंते पाखंडेन सहैव च।
अनाचाराः कथं भूमौ तीव्रा लज्जाकरा नृणाम् ॥ १४ ॥
मनसः स्वस्य संदेहो बद्धहस्तेन तेन च।
उक्तो महर्षिणा तत्र सोऽग्रे कात्यायनस्य तु ॥ १५ ॥
शंकां समाहितां कर्तुमनुरोधं व्यधादपि।
सत्रसञ्चालकस्यास्य मुनेः कात्यायनस्य सः ॥ १६ ॥
टीका—इस तथ्य को समझने के उपरांत जिज्ञासु ऋषिवर

कणाद के मन में मंगलोन्मुख एक शंका उत्पन्न हुई कि यदि ऐसा ही है, तो फिर इन दिनों धर्म के नाम पर इतने विग्रह क्यों दृष्टिगोचर होते हैं? संस्कृतियाँ आपस में टकराती क्यों हैं? धर्म के नाम पर मानव मात्र के लिए लज्जास्पद पाखंड और अनाचार क्यों होते हैं? अपने मन का संदेह उन्होंने करबद्ध होकर महामुनि कात्यायन के सम्मुख व्यक्त किया और शंका के समाधान का अनुरोध सत्र-संचालक ऋषि कात्यायन से किया। ॥ १२-१६ ॥

मनीषियों ने सांस्कृतिक चेतना की महत्ता समझी। देवसंस्कृति के आधारों में वर्णाश्रम व्यवस्था, संस्कारों, पर्वों तथा देवालय तीर्थों के माध्यम से महामानव बनाने का ऋषि तंत्र कर्मफल और मरणोत्तर जीवन के आधार पर आदर्श निष्ठा के सूत्र समझे। इतने श्रेष्ठ सूत्र तथा इतनी सटीक व्यवस्था के होते हुए भी विग्रह क्यों? संस्कृति सहयोग और विकास के लिए है, उसमें टकराव और विग्रह, पतन क्यों? संस्कृति सहयोग और विकास के लिए है, उसमें टकराव और विग्रह-पतन क्यों? यह स्वाभाविक जिज्ञासा जो जन-मन में उभरी, उसको ऋषि कणाद ने व्यक्त किया। यह एक कटु सत्य का सर्वेक्षण है।

कात्यायन उवाच

सौम्य कालांतरे नूनमुत्तमान्यपि चान्ततः।

वस्तूनि विकृतेर्हेतोर्जराजीर्णतया पुनः ॥ १७ ॥

गच्छन्त्यनुपयोगित्वं प्राणिवृक्षगुहा इव।

अखाद्यतां यथा यांति द्वितीयेऽह्नि तु भोजनम् ॥ १८ ॥

क्रमस्य नियतेरेष उपचारस्तु विद्यते।

अस्य संततमेव स्याज्जीर्णोद्धारस्तु कालिकः ॥ १९ ॥

शरीरस्याथ वस्त्राणां नित्यं प्रक्षालनं मतम्।

कक्षाणां शोधनं चात्र पात्रसंमार्जनं तथा ॥ २० ॥

शस्त्रेषु धारा निर्मेया भवत्येव निरंतरम्।

एवं रीतिषु जायंते क्रमाद् विकृतयश्च ताः ॥ २१ ॥

टीका—महर्षि कात्यायन ने कहा सौम्य! कालांतर में उत्तम वस्तुएँ भी विकृतियों के कारण जराजीर्ण होकर अनुपयोगी बन जाती हैं। प्राणी, भवन, वृक्ष सभी पर वृद्धता आती है। भोजन अगले दिन अखाद्य बन जाता है। इस नियति क्रम का उपचार, समय-समय पर जीर्णोद्धार करते रहना है। शरीर, वस्त्र आदि को नित्य धोना पड़ता है। कमरे को बुहारना और बरतन को माँजना पड़ता है। शस्त्रों पर धार रखनी पड़ती है। इसी प्रकार प्रथा-प्रचलनों में भी विकृतियाँ घुस पड़ती हैं ॥ १७-२१ ॥

कालानुरूपं सर्वत्र व्यवस्था शोध्यते तथा।

परिवर्तयितुं चापि बाध्यता भवति स्वतः ॥ २२ ॥

कारणं चेदमेवास्ति परिवर्तनतामिह।

संविधानानि गच्छन्ति कालिकानि सदैव तु ॥ २३ ॥

ऋषयोऽपि स्थितीर्दृष्ट्वा स्मृतीः स्वा व्यधुरुत्तमाः।

अतएव तु भेदोऽपि स्मृतिष्वत्र विलोक्यते ॥ २४ ॥

पूर्वेषां ग्रंथकर्तृणां नापमानमिदं स्मृतम्।

भूषणानां च वस्त्राणां जीर्णानां नवतात्विदम् ॥ २५ ॥

टीका—समय के साथ व्यवस्था भी बदलनी और सुधारनी पड़ती है। यही कारण है कि समय के अनुरूप विधान बदलते रहते हैं। ऋषियों ने बदली हुई परिस्थितियों के अनुरूप स्मृतियाँ बदली हैं, इसी से स्मृतियों में कहीं-कहीं अंतर दृष्टिगोचर होता है। यह पूर्व निर्धारण कर्त्ताओं को अपमान नहीं, वरन पुराने वस्त्र, आभूषण के स्थान पर नया शृंगार करने जैसा उपयोगी है ॥ २२-२५ ॥

परिवर्तनमायाते समये जीर्णतोदिता।

यदि विकृतयस्तीव्रा वर्द्धितास्तर्हि तद्ग्रहः ॥ २६ ॥

सर्वथाऽनुचितो मर्त्याः संति ये तु दुराग्रहाः।

पुराणं साधु नव्यं च दूषितं सर्वमित्यहो ॥ २७ ॥

दुराग्रहिण एते च पारंपर्यानुधाविनः।

तद्गृह्णांति मृतान् पुत्रान् यथा वानर्य आतुराः ॥ २८ ॥

टीका—समय बदल जाने पर जीर्णता जन्य विकृतियाँ बढ़ जाने पर भी उन्हें अपनाए रहने का आग्रह अनुचित है। दुराग्रही लोग जो पुराना सो अच्छा, जो नया सो बुरा की दुराग्रही दृष्टि अपना लेते हैं और जो कुछ चल रहा है, उसे परंपरा कहकर अनुपयोगी को भी, मरे बच्चे को छाती से लगाए फिरने वाली बंदरी का उदाहरण बनते हैं ॥ २६-२८ ॥

दुग्धेऽत्र मक्षिकापातो भवेच्चेत्तदपेयताम्।

गच्छति प्राय एवं हि विकृतेर्विकृता इमे ॥ २९ ॥

धार्मिकाः संप्रदायास्तु युध्यन्तेऽत्र परस्परम्।

विकृतीरपि चेदत्र वदन्त्येव परंपराः ॥ ३० ॥

दुराग्रहा गृहीतास्ता यान्यत्राधमतां प्रथाः।

उत्थापयति मर्त्यं तन्मूलं धर्मस्य संस्कृतेः ॥ ३१ ॥

अग्रगं तं करोत्येवं सार्वभौमदृशा तथा।

उन्नतं सुखिनं कर्तुं सहयोगं करोत्यलम् ॥ ३२ ॥

टीका—दूध में मक्खी पड़ जाने पर वह अखाद्य बन जाता है। इसी प्रकार इन दिनों प्रचलित धर्म-संप्रदाय भी परस्पर लड़ते-टकराते देखे जाते हैं। उनमें घुसी हुई विकृतियाँ जब परंपरा कही और दुराग्रहपूर्वक अपनायी जाती हैं, तो उत्तम भी अधम बन जाता है। अन्यथा धर्म और संस्कृति का मूल स्वरूप मनुष्य का ऊँचा ही उठाता है तथा उसे आगे बढ़ाता और हर दृष्टि से सुखी-समुन्नत बनाने में सहायता करता है ॥ २९-३२ ॥

देव-संस्कृति के सूत्र दूध की तरह निर्मल हैं, परंतु मानवीय दुश्चिंतन उन्हें दूषित बना देता है। अनेक श्रेष्ठ

४.४८ प्रज्ञोपनिषद्

परंपराएँ आज भी उपयोगी हैं, आवश्यक हैं, परंतु विकारों की मिलावट के कारण उन्हें अपनाया जाना हारिकारक लगता है। विकारों की मिलावट रोकी जा सके, तो वे सौभाग्यकारी हो जाएँ।

संस्कृतेनैव दोषोऽस्ति, पाखंडस्य तथैव च।
अनौचित्यस्य दोषोऽयं यस्तां दूषयति स्वतः ॥ ३३ ॥
परिमार्जनमेतस्य भवेदेव निरंतरम्।
परिशोधनमप्यस्यावाञ्छनीयस्य कर्मणः ॥ ३४ ॥
कालावश्यकतां वीक्ष्य निर्धारणविधिश्चलेत्।
अन्यथा धर्मतामेति पाखंडस्य परंपरा ॥ ३५ ॥
दुराचारिण एतेऽत्र तदाश्रित्य च कुर्वते।
भ्रातान्साधारणान्मर्त्यान् स्वार्थसंसाधयन्त्यपि ॥ ३६ ॥

टीका—यह दोष संस्कृति का नहीं उसमें किसी कारण घुस पड़ने वाले पाखंड अनौचित्य का है, जो उसे दूषित कर देते हैं। इसका परिमार्जन निरंतर होते रहना चाहिए। प्रचलित अवाञ्छनीयता का परिशोधन और सामयिक आवश्यकताओं के अनुरूप निर्धारण की प्रक्रिया निरंतर चलती रहनी चाहिए। अन्यथा पाखंड ही धर्म कहलाने लगेगा और उसकी आड़ में दुराचारियों को भ्रम फैलाने, अनुचित स्वार्थ साधने का अवसर मिलता रहेगा ॥ ३३-३६ ॥

पिछले उदाहरणों से स्पष्ट है कि श्रेष्ठ प्रवाह में भी विकार पैदा हो जाते हैं। उन विकारों की हानियों का दोष मूल आदर्शों पर नहीं लगाना चाहिए। किंतु उसके लिए आवश्यक है कि आदर्शों और विकारों को अलग-अलग करके देखा जाए। जिन कारणों से विकार पैदा हुए, उनका निवारण किया जाए, शुद्ध आदर्शों की गतिशील संदर्भों में प्रयुक्त किया जाए। यदि वह श्रम न किया गया, तो दोषों के साथ आदर्शों की आड़ में दोषों और दुराचारियों को प्रश्रय मिलता रहेगा।

इमा विकृतयो नैव केवलं धर्मसंस्कृतौ।
प्रविशंति परं सर्वा नैतिके बौद्धिकेऽथ च ॥ ३७ ॥
क्षेत्रे सामाजिकेऽप्यत्र प्रविशंति पुनः पुनः।
आहारेऽथ विहारे च व्यवहारे तथैव च ॥ ३८ ॥
धनस्योपाजने भोगे व्यवसाये जना इह।
अवाञ्छनीयतां यांति विलासाकर्षणोदिताम् ॥ ३९ ॥
मदसेवनजादीनि व्यसनान्युद्भवन्त्यपि।
अस्मादेव हि हेतोश्च स्वस्मिन् देशेऽपि सन्त्यहो ॥ ४० ॥
भिक्षाया व्यवसायोऽयं जात्याहंकारजोच्यता।
अवगुंठनता सेयं विवाहेऽप्यव्ययो महान् ॥ ४१ ॥
पशूनां बलिदानं च मृतभोजो बृहत्तरः।
बहुविधा रीतयो लोके चलिता एवमेव तु ॥ ४२ ॥
बहुप्रजननस्यात्र पश्यंतः फलमत्यगम्।
मिथ्या प्रदर्शनेष्वेते व्ययं च कुर्वते भृशम् ॥ ४३ ॥

टीका—यह विकृतियाँ न केवल धर्म-संस्कृति में घुसती रहती हैं, वरन नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक क्षेत्रों में भी उनका प्रवेश होता रहता है। लोग आहार-विहार, व्यवहार-व्यवसाय, उपार्जन-उपयोग जैसे दैनिक प्रयोजनों में भी विलास-आकर्षण के नाम पर अवाञ्छनीयता की आदत डाल लेते हैं। नशेबाजी जैसे अनेक दुर्व्यसन इसी कारण पनपे हैं। अपने देश में भिक्षा-व्यवसाय, उपार्जन-उपयोग जैसे दैनिक प्रयोजनों में भी विलास-आकर्षण के नाम पर अवाञ्छनीयता की आदत डाल लेते हैं। नशेबाजी जैसे अनेक दुर्व्यसन इसी कारण पनपे हैं। अपने देश में भिक्षा-व्यवसाय, जातिगत ऊँच-नीच, पर्दा-प्रथा, विवाहों में अपव्यय, पशुबलि, बड़े-बड़े मृतक भोज जैसे अनेक अनाचारों का प्रचलन चल पड़ा है। बहु प्रजनन के दुष्परिणामों की ओर से आँखें बंद किए रहते हैं। फैशन और टाट-बाट के निमित्त ढेरों पैसा खर्च करते हैं ॥ ३७-४३ ॥

धर्म-संस्कृति ही मनुष्य को सदाचार, सद्भाव की मर्यादा में रख सकती है। उसमें विकार आ जाने से धार्मिक क्रियाकलापों में दोष पैदा होते ही हैं, जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी उलटा चक्र चल पड़ता है। चिंतन और आचरण की मर्यादाहीनता अगणित दोष पैदा करती है और मनुष्य न चाहते हुए भी उनके शिकंजे में कसता चला जाता है। ऊपर जीवन के जिन-जिन क्षेत्रों का उल्लेख किया गया है, उन सब में न चाहते हुए भी मनुष्य पिस रहा है, यह हर जगह देखा जा सकता है।

एतेषु दिवसेष्वत्र समायात्यनिशं भृशम्।
व्यक्तौ तथा समाजेऽपि दारिद्र्यस्य तथैव च ॥ ४४ ॥
अस्वास्थ्यस्यासुरक्षाया विपत्तिर्येन वर्द्धते।
मनोमालिन्यपूर्णः स कलहस्तु गृहे गृहे ॥ ४५ ॥
जने जने च वर्द्धते इहासंतोष आशु सः।
अविश्वासस्तथा चैषोऽसहयोगविधिः स्वतः ॥ ४६ ॥

टीका—इन दिनों व्यक्ति और समाज पर अस्वस्थता, असुरक्षा, दरिद्रता की विपत्ति लदती जा रही है। घर-परिवारों में कलह, मनोमालिन्य बढ़ रहा है। जन समुदाय के मध्य असहयोग, असंतोष, अविश्वास असाधारण रूप से बढ़ रहा है ॥ ४४-४६ ॥

चाहे व्यक्तिगत अस्वस्थता, असुरक्षा हो चाहे पारिवारिक मनोमालिन्य और चाहे सामाजिक असहयोग अविश्वास। इन सबका जनक मनुष्य स्वयं ही है।

संकीर्णस्वार्थबुद्ध्या च विलासस्याथवा पुनः।
प्रमादस्य प्रवृत्त्या वा मदसेवनतोऽथवा ॥ ४७ ॥
सारहीनमभूत्सर्वं जनजीवनमुत्तमम्।
कारणं केवलं चैता दुष्प्रवृत्तय एव तु ॥ ४८ ॥

अपराधिप्रवृत्तीनां प्रवृद्धानां तु कारणात्।
प्रत्येकं पुरुषो नूनमातंकित इह स्वयम् ॥ ४९ ॥
विनाशसंकटश्चात्र समाजे समुपस्थितः।
निर्मियते स्वतोऽज्ञातं वातावरणमीदृशम् ॥ ५० ॥
केवलं सभ्यताया न संचितायाः परं महान्।
संकटो मानवास्तित्वे दृश्यते समुपस्थितः ॥ ५१ ॥

टीका—संकीर्ण स्वार्थपरता, विलासिता, नशा, प्रमाद की दुष्प्रवृत्तियों के कारण जनजीवन खोखला हुआ जा रहा है। बढ़ती हुई अपराधी प्रवृत्ति के कारण हर व्यक्ति आतंकित जैसा दीखता है। समूचे स्थान पर विनाश के संकट छाए हुए हैं। वातावरण ऐसा बन रहा है, मानो संचित सभ्यता का ही नहीं, मानवों अस्तित्व के लिए भी संकट खड़ा हो गया है ॥ ४९-५१ ॥

उत्तमोदेदृश्यहेतोर्थाः कदाचिद्रीतयः शुभाः।
प्रारब्धा भ्रांतिभिर्जाता अयोग्या विकृतिं गताः ॥ ५२ ॥
दुराग्रहोऽथ मोहश्च नोचितोऽत्र मनागपि।
हिमाद्रिनिर्गता गंगा क्षारतां याति सिंधुगा ॥ ५३ ॥
ततः सूर्येण वाष्पत्वं प्रापिता जलदायिता।
हिमतामधिगत्यैव शुद्धत्वं भजते स्थिरम् ॥ ५४ ॥
संस्कृतेरपि संबंधे वातैषैव तु विद्यते।
सूक्ष्मद्रष्टार एतेऽत्र मुनयश्च मनीषिणः ॥ ५५ ॥
जागरूकास्तु तिष्ठन्ति त्यक्तुं सर्वदुराग्रहम्।
विवेकं जाग्रतं नृणां कुर्वतो मान्यतासु च ॥ ५६ ॥
परिवर्तनकं वातावरणं कुर्वते तथा।

अभियानं बृहन्मूलं दृढं सञ्चालयन्त्यपि ॥ ५७ ॥

टीका—जो प्रथाएँ कभी उत्तम उद्देश्यों को लेकर विनिर्मित हुई थीं, वे ही भ्रांतियों और विकृतियों के मिलते चलने पर समयानुसार अनुपयुक्त बन जाती हैं। तब उनके प्रति दुराग्रही मोह अपनाता अनुचित है। हिमालय से निकलने वाली गंगा की धारा भी समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते खारी हो जाती है। तब उसे सूर्य भाप बनाकर बादल बनाता है। हिमालय में पहुँचकर वही बादल बरफ बन जाते हैं और उस परिवर्तन के कारण ही गंगा का शुद्ध स्वरूप स्थिर रहता है। संस्कृति के संबंध में भी यही बात है। सूक्ष्मदर्शी मुनि-मनीषी इस पर्यवेक्षण के प्रति जागरूक रहते हैं। वे दुराग्रह के स्थान पर विवेक जगाते और जो उचित है, उसे अपनाने के लिए मान्यताओं में हेरफेर करने वाला दृढ़ एवं गहरी पकड़ वाले अभियान चलाते, वातावरण बनाते हैं ॥ ५२-५७ ॥

अनौचित्यमिदानीं यद् व्याजाद् धर्मस्य संस्कृतेः।

जृम्भते कारणं तस्य केवलं यन्मनीषिभिः ॥ ५८ ॥
संशोधनानि नैवात्र कालजानि कृतानि तु।
परिवर्तनजो रुद्धः प्रवाहो यदि जायते ॥ ५९ ॥

वार्षिकं सलिलं गर्तमध्यस्थमिव विकृतिम्।

धर्मक्षेत्रे प्रयान्त्यन्धविश्वासैश्च दुराग्रहैः ॥ ६० ॥

टीका—इन दिनों जो धर्म संस्कृति के नाम पर अनौचित्य का बोलवाला है उसका कारण एक ही है कि मनीषियों ने सामयिक संशोधन का ध्यान नहीं रखा। सुधार-परिवर्तन का प्रवाह रुक जाने से, वर्षा का शुद्ध जल किसी गड्ढे में अवरुद्ध पड़ा रहने पर सड़ने लगता है। ऐसी दुर्गति धर्मक्षेत्र में अंधविश्वास एवं दुराग्रह घुस पड़ने से भी होती है ॥ ५८-६० ॥

उपयुक्त संशोधन जब न किए जा सके, तभी देवसंस्कृति के नाम को बट्टा लगा, जब उन्हें समय पर कर लिया गया, तब बिगड़ती परिस्थितियाँ तुरंत सुधर गईं।

वैशिष्ट्यमिदमेवाभूत् सर्वदा देवसंस्कृतेः।

विवेकबुद्धये श्रद्धाभावनायै परिष्कृतम् ॥ ६१ ॥

सुदृढं च ददौ दिव्यमाधारमुभयोः कृते।

मानवी यत्र श्रद्धेयं विवेकेन सहैव च ॥ ६२ ॥

तिष्ठेदाधारमाहुस्तमास्थाबिदुमथापि च।

महामानवतां याति देवत्वं चास्थया नरः ॥ ६३ ॥

आस्थाया विरहे तस्मिन् पशुता समुदेति हि।

अकाट्यं सत्यमेवैतद् वर्तते च महत्तमम् ॥ ६४ ॥

टीका—देवसंस्कृति की सदा यह विशेषता रही है कि उसने विवेक बुद्धि तथा श्रद्धा भावना दोनों पक्षों के लिए परिष्कृत और सुदृढ़ आधार दिए हैं। जिन पर मानवी श्रद्धा एवं विवेक दोनों टिक सकें, उन्हें आस्था के बिंदु या आधार कहते हैं। आस्था के सहारे ही मनुष्य मानव महामानव और देवमानव बनता है। आस्था के अभाव में उसमें पाशविकता उभरने लगती है, यह एक अकाट्य महान सत्य है ॥ ६१-६४ ॥

भारतीय संस्कृति विवेक और भावना दोनों के संयोग की अपनी विशेषता से ही विश्वमान्य बनी। सारे विश्व में विभिन्न समयों में हुए विचारक जिज्ञासु मनीषियों ने इसे इसी आधार पर सराहा है।

दाराशिकोह (औरंगजेब के बड़े भाई) उपनिषदों का अध्ययन करते थे। एक दिन वे मस्ती में झूम रहे थे। उनकी भतीजी ने पूछा चचा जान, आप नशा तो करते नहीं, फिर ऐसे मस्त कैसे हो रहे हैं? दारा बोले, बेटी यह मस्ती नशे की नहीं दिव्य ज्ञान की है। उपनिषदों को पढ़ने के बाद मुझे लगा कि ज्ञान की मस्ती कितनी गहरी होती है।

मैक्समूलर ने वेदों का सांगोपांग अध्ययन किया। वे कहते थे, भारत की सांस्कृतिक विरासत इतनी महान है कि इसके लिए एक क्या दस जन्म भी लगा सकूँ, तो सार्थक समझूँगा।

४.५० प्रज्ञोपनिषद्

पादरी लैडविटर (थियोसाफिकल सोसाइटी के मान्य संत) कहते थे, भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने से पूर्व आंतरिक संतोष नहीं मिला था। ईसाई और इस्लाम मत में श्रद्धा तो दिखी, विवेक की तुष्टि नहीं हुई। पाश्चात्य दर्शन में विवेक मिला, पर संवेदनाओं की प्यास न बुझी। भारतीय दर्शन में दोनों का योग है, यह वास्तव में योगी है।

विज्ञानेन सहैवात्र बुद्धिवादोऽभिवर्द्धते ।

जर्जरा विकृता यास्तु संति लोके परंपरा ॥ ६५ ॥

अस्वीकृता विवेकेन ता न चान्याः समुत्थिताः ।

श्रद्धा तिष्ठन्ति नान्येषु सांस्कृत्यं चेतनां विना ॥ ६६ ॥

आस्थायाञ्च नवान् बिन्दूनप्राप्याऽयमभून्नरः ।

आस्थाहीनस्ततो वृद्धिं तदसंतुलनं गतम् ॥ ६७ ॥

टीका—विज्ञान के साथ बुद्धिवाद बढ़ा है। जर्जर-विकृत परंपराओं को विवेक ने अस्वीकार कर दिया है। नए आधार बने नहीं, कुछ बने, तो उनमें सांस्कृतिक चेतना की झलक न मिलने से श्रद्धा उन पर टिकती नहीं। आस्था के नए आयाम न मिल सकने से मनुष्य आस्थाहीन हो गया। उसी के कारण सारा असंतुलन बढ़ रहा है ॥ ६५-६७ ॥

बढ़ती बौद्धिकता ने उन सब आधारों को मानने से इंकार कर दिया, जिनमें विकार पैदा हो गए थे। यह ठीक भी था। परंतु विकार तो सभी में पैदा हो गए थे, सब कुछ हटा देने पर मान्यता कहाँ टिके, ये समस्या आ गई।

ईश्वर मनुष्य को पूजा चढ़ाने के बदले मनचाही वस्तु देने वाला कोई भला आदमी भी नहीं हो सकता, ऐसे व्यक्ति को ईश्वर कैसे मान लें?

धर्म-धर्म ने वर्ग भेद बढ़ाया, पक्षपात की आदत डाल दी, द्वेष भड़काया, ऐसे धर्म को अस्वीकार कर देने में किसी को संकोच क्यों हो?

परलोक पुनर्जन्म किसी ने नहीं देखा है। कर्मफल तत्काल मिलते दीखते नहीं। प्रयोगशाला में तुरंत परिणाम देखने की अभ्यस्त बुद्धि ने इन सबको भी झुठला दिया।

इसी प्रकार पुरानी मान्यताएँ टूटती गईं। नई मान्यताओं के आधार बने नहीं। मानवी बुद्धि चकरा गई, किस आधार पर अपने लिए मर्यादाएँ बनाएँ? इस भ्रम ने सभी तरफ असंतुलन बढ़ा दिया है। सभी इससे चिंतित हैं। जब भी कभी ऐसी स्थिति आती है, मनुष्य को हानि उठानी पड़ती है।

आस्थाहीनसमाजस्य सद्गतिर्नैव संभवा ।

ईश्वरे परलोके च धर्मे कर्मफलेऽपि वा ॥ ६८ ॥

आत्मन्यपि न चैवास्था नैतिके कर्मणीह चेत् ।

अस्यां स्थितावकर्तव्यं कर्तव्यं नैव विद्यते ॥ ६९ ॥

स्वार्थे पशुत्व एवाऽपि नियंता नास्ति कश्चन ।

आत्मीयत्वं सदाचारं नीतिं प्रोत्साहयेच्च कः ॥ ७० ॥

अनास्था वर्द्धते यस्मात्क्रमांतस्माद्धि निश्चितम् ।

आदर्शवादिता पूर्ण भ्रष्टतां याति सर्वतः ॥ ७१ ॥

टीका—आस्थाहीन समाज की सद्गति संभव नहीं। ईश्वर, धर्म, कर्मफल, परलोक आत्मा, नैतिकता किसी पर आस्था नहीं, ऐसे में न कुछ कर्तव्य है और न अकर्तव्य। स्वार्थ-पशुता पर अंकुश लगाने वाला कोई नहीं। आत्मीयता, नीति-सदाचार को प्रोत्साहन कहाँ से मिले? जैसे-जैसे अनास्था बढ़ती है, आदर्शवादिता तहस-नहस होती जाती है ॥ ६८-७१ ॥

मनुष्य का स्वभाव है कि वह ऐसे कार्य में ही रुचि लेता है, जिसकी हानि से उसकी रक्षा हो सके अथवा निश्चित लाभ का विश्वास हो सके। ईश्वर, धर्म, कर्मफल, आत्मा, परमात्मा के प्रति आस्था होने पर मनुष्य को नैतिक आदर्शनिष्ठ जीवन में लाभ और उच्छृंखल जीवन में हानि दीखने लगती है। वे सारे आधार छूट जाने से उसे नैतिक मर्यादा में हानि तथा उच्छृंखलता में लाभ दीखने लगता है। यह भारी भ्रम है। किंतु इस भ्रम का निवारण आस्था के सुदृढ़ आधार बनाए बिना हो भी तो नहीं सकता। इतिहास साक्षी है कि आदर्शवादिता के बिना समाज की गति नहीं तथा आस्था के बिना आदर्शवादिता का निर्वाह संभव नहीं।

आदर्शहीनं सिद्धांतहीनं यद्यच्च जीवनम् ।

प्रवृत्तयः सापराधाः सविलासाः क्षणादिव ॥ ७२ ॥

झञ्झावात इव प्रायो दृश्यन्ते वृद्धिमागताः ।

अनास्था विद्यते नूनं लोके भीमतरोऽसुरः ॥ ७३ ॥

रूपं किमपि नैवास्य स्थानं नैवाऽपि निश्चितम् ।

प्रत्येकस्य जनस्यायं प्रविष्टश्चिन्तनेऽभितः ॥ ७४ ॥

टीका—आदर्शहीन सिद्धांतहीन जीवन, विलासी और अपराधी प्रवृत्तियों को प्रायः आँधी तूफान की तरह बढ़ते देखा जा सकता है। अनास्था भीषणतम असुर है। इसका कोई रूप नहीं, कोई निश्चित स्थान नहीं। वह जन-जन के चिंतन में घुसा बैठा है ॥ ७२-७४ ॥

अपराध पहले भी होते थे। उनके कारण होते थे, आवश्यकताएँ अथवा प्रतिष्ठा के प्रश्न। पर इन दिनों अपराधों की बाढ़ आ गई है। अपराधों में अधिकांश विलासिता के लिए अथवा किन्हीं निकृष्ट उद्देश्यों के लिए मनमानी करने के लिए होते पाए गए हैं। मोटे सर्वेक्षण इस प्रकार हैं।

आतंक फैलाने के लिए बिलकुल बेगुनाहों को मार डालने के प्रकरण भारत में ही नहीं विश्व स्तर पर चिंता के विषय बन गए हैं। हृदयहीनता की यह सीमा कल्पना के बाहर है। विगत कुछ वर्षों में बलात्कारों के आँकड़े दहलाने वाले हैं। सामूहिक बलात्कार तो अपराधों के इतिहास में नई सनसनी है। निर्लज्जता इस सीमा तक भी जा सकती है, किसी

ने सोचा भी न होगा।

चिकित्सा विभाग तथा सुरक्षा विभाग के व्यक्तियों का अपराधियों में शामिल होना ऐसी घटना है, जिसके आधार पर असुरक्षा का भय चरम सीमा को छूने लगा है।

खाद्य वस्तुओं में मिलावट पहले निरर्थक, हानिहीन पदार्थों की ही होती थी। अब आकर्षक रूप देने के लिए हानिकारक और जहरीले पदार्थ मिलाने में भी झिझक नहीं रह गई है। ओषधियों में भी जानलेवा पदार्थों की मिलावट के प्रकरण देखकर लगता है, मनुष्य पर कौन सा पिशाच हावी है?

यह सब अपराध अनास्थाजनित ही है। यही इस युग का असुर है, जो ढेरों असुरों के समान विप्लवकारी सिद्ध हो रहा है।

विद्यमानेऽसुरे चास्मिन् नहि संतुलनस्य तु।

प्रयासाः सफलाः क्वापि संभवन्ति कदाचन ॥ ७५ ॥

प्रयासास्ते च जायन्ते सिकताभीतिदुर्बलाः।

स्थूलैर्यत्नैर्न नष्टः स्याज्जनचैतन्यगोऽसुरः ॥ ७६ ॥

प्रखरादर्शनिष्ठश्च प्रवाहो जनचिंतने।

तदर्थं कार्यं आधारो देयो नव्यः क्षमश्च यः ॥ ७७ ॥

एतदर्थं च विज्ञानं भौतिकं नोपचारताम्।

याति केवलमध्यात्मप्रयोगस्तु परिष्कृतः ॥ ७८ ॥

महती चेददृशानां तु विद्यते देवसंस्कृतौ।

उपचारप्रयोगानां क्षमता अतुला इह ॥ ७९ ॥

टीका—इसके रहते संतुलन लाने के प्रयास सफल नहीं हो सकते। वे बालू की दीवाल की तरह नाकाम होते रहते हैं। जनचेतना में घुस बैठे इस महा असुर को स्थूल प्रयासों से नष्ट नहीं किया जा सकता। उसके लिए जन चिंतन में प्रखर आदर्शनिष्ठ प्रवाह पैदा करना होगा। आस्था के नए सशक्त आधार देने होंगे। इस उद्देश्य के लिए भौतिक विज्ञान नहीं, अध्यात्म विज्ञान का परिमार्जित प्रयोग ही एकमात्र उपचार है। देवसंस्कृति में ऐसे महान उपचार प्रयोग करने की अद्वितीय क्षमता रही है ॥ ७५-७९ ॥

आजकल समस्याओं के समाधान के लिए पारिवारिक एवं सामाजिक स्तर पर, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास भी भारी मात्रा में हो रहे हैं। परंतु वे सब प्रयास फलित नहीं हो रहे हैं। एक तरफ बात सँभलती है, तो चार जगह बिगड़ने लगती है। जाति, भाषा, प्रांत और राष्ट्रीय सद्भावना बढ़ाने के प्रयास न जाने किस गर्त में विलीन हो जाते हैं? अणु-आयुधों की दौड़ के समझौते केवल मखौल बनकर रह जाते हैं। नशा, दहेज, भिक्षा-व्यवसाय आदि रोकने के प्रयास शेखचिल्ली के सपने देखकर रह जाते हैं। कारण एक ही है, समस्या के मूल स्तोत्र तक प्रहार नहीं होने पा रहा है।

मुनयो नूनमद्यैतत्स्वरूपं देवसंस्कृतेः।

अस्तव्यस्तमिव प्रायो जातं तत्तुपुरातनम् ॥ ८० ॥

तत्राधुना जनैः सर्वेर्दृश्यते नैकरूपता।

यथाऽन्धा हस्तिनः किञ्चिदंगं प्राप्य तथैव तम् ॥ ८१ ॥

निश्चिन्वन्ति तथा धर्मो जीर्णतायाश्च विकृतेः।

विभाजितत्वहेतोश्चानास्थया स उपेक्षितः ॥ ८२ ॥

विवेकिनो नरास्तेनासंतोषाक्रोशपूरिताः।

दृश्यन्तेऽत्र तथाप्यत्र किञ्चिच्चिन्त्यं मन्यताम् ॥ ८३ ॥

दुर्गतिं वर्तमानां तु वारयिष्यति चान्ततः।

महाकालः समग्रं च परिशोधितुमेव सः ॥ ८४ ॥

प्रज्ञाभियानमत्युग्रं चालयिष्यति ताः स्थितीः।

विधास्यति स्वतो नूनं विपरीता बुधा ऋजूः ॥ ८५ ॥

टीका—महर्षि कात्यायन पुनः बोले, हे मननशील मुनिजनो इन दिनों देवसंस्कृति का पुरातन स्वरूप अस्त-व्यस्त हो गया है। उसकी एकरूपता नहीं रही। अंधे जिस प्रकार हाथी का जो अंग हाथ की पकड़ में आता है, उसी आकार का उसे मान बैठते हैं। इन दिनों विभाजित, विकृत एवं जराजीर्ण स्थिति बन जाने के कारण ही धर्म के प्रति उपेक्षा, अनास्था बढ़ रही है और विचारशीलों में असंतोष आक्रोश उभर रहा है। इतने पर भी चिंता जैसी कोई बात नहीं है। महाकाल वर्तमान दुर्गति का निवारण करेंगे। इस समग्र, परिशोधन के लिए प्रज्ञा अभियान का तूफानी दौर आरंभ करेंगे। ऐसे प्रचंड परिवर्तन उलटी परिस्थितियों को उलटकर सीधी करते रहे हैं ॥ ८०-८५ ॥

देवसंस्कृति हाथी जैसी ही विशाल है। दृष्टिहीन व्यक्ति टटोलकर उसका सही स्वरूप नहीं समझ पाते हैं। कोई उसे केवल भक्ति से, कोई केवल कर्म से, कोई केवल ज्ञान से सिद्ध करना चाहता है। कोई केवल उपासना से, कोई केवल शास्त्र चर्चा से, कोई केवल प्रार्थना से उसकी शक्ति जागृत करने की सोचते हैं। यह सब भ्रम हटाने होंगे। प्रज्ञा दृष्टि का जागरण करके संस्कृति का समग्र रूप समझना-समझाना होगा, तभी बात बनेगी।

सत्रे स्थितैः समैरेव ज्ञाता जिज्ञासुभिः स्वतः।

धर्मव्याजेन जातास्ते परिणामा अधर्मजाः ॥ ८६ ॥

सहैवात्र नियंतुश्च व्यवस्था शोधनोन्मुखी।

ज्ञाता सोपक्रमा नैषा चिरं स्थास्यति दुर्गतिः ॥ ८७ ॥

विश्वस्तं तैरिदं भूयः परिवर्तनमन्ततः।

भविष्यति तथा भूयो वातावरणमुत्तमम् ॥ ८८ ॥

आगंता निकटे काले तथा सत्ययुगे पुरा।

विभीषिकास्तदा नैव द्रक्ष्यन्ते भुवि कुत्रचित् ॥ ८९ ॥

टीका—सत्र में उपस्थित जिज्ञासुओं ने धर्म के नाम पर प्रचलित अधर्म आच्छादन के दुष्परिणामों को समझा। साथ

४.५२ प्रज्ञोपनिषद्

ही नियंता की सुधार व्यवस्था का उपक्रम भी समझा। उन्हें विश्वास हो गया कि वर्तमान दुर्गति अधिक समय न रहेगी। परिवर्तन होगा और पुरातन काल जैसा सतयुगी वातावरण निकट भविष्य में फिर वापस लौटेगा। तब पृथ्वी में कहीं भी ये विभीषिकाएँ नहीं दीखेंगी ॥ ८६-८९ ॥

भविष्यत्युज्ज्वलं नृणामनया च शुभाशया ।
मुखपद्मानि सर्वेषां विकासमगमंस्ततः ॥ ९० ॥
निराशा खिन्नता चैव गते दूरं क्षणात्ततः ।
आश्वासनेन पूज्यस्य सत्राध्यक्षस्य सर्वतः ॥ ९१ ॥
सत्रं चाद्यतनं यातं समाप्तिं पूर्ववत्ततः ।

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृति खंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते आस्था संकट इति प्रकरणो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

प्रज्ञावतार प्रकरण

सत्रस्यान्त्यमभूदद्य दिनं जिज्ञासवः समे ।
संतुष्टा मुनयो लब्धैर्विचारैस्ते मनीषिणः ॥ १ ॥
लब्धुं ततोऽधिकं चाद्य महत्त्वमहिता भृशम् ।
विचारसंपदाकाले नियते ते समागताः ॥ २ ॥
प्रश्नकर्त्ता मुनिश्रेष्ठोऽगस्त्यः पप्रच्छ सादरम् ।
लोककल्याणभावेन करुणः स महामनाः ॥ ३ ॥
टीका—आज सत्र का अंतिम दिन था। जिज्ञासु मुनि-
मनीषियों को अब तक की उपलब्धियों पर बड़ा संतोष था।
वे आज और भी अधिक महत्वपूर्ण विचार-संपदा उपलब्ध
करने की आशा लेकर नियत समय पर उपस्थित हुए। प्रश्नकर्त्ता
दयालु उदारात्मा ऋषि श्रेष्ठ अगस्त्य ने लोककल्याण भावना
से पूछा ॥ १-३ ॥

अगस्त्य उवाच—

देव! विकृतयो यास्तु सामान्याच्च विपन्नताः ।
भवत्येव समाधानं तासां साधुजनोद्भवम् ॥ ४ ॥
परं विभीषिका अत्र विषमास्ता अनेकशः ।
समायांति तथा यासां समाधानं न दृश्यते ॥ ५ ॥
जायंते निष्फलाः सर्वे यत्नाः साधुजनैः कृताः ।
विनाशो दृश्यते चाग्रे सर्वग्रासकरो महान् ॥ ६ ॥
परिस्थितीर्विलोक्याद्य तेन देव प्रतीयते ।
खंडप्रलयकालः किं समायातो भयंकरः ॥ ७ ॥
टीका—अगस्त्य ने कहा, देव! सामान्य विकृतियों और
विपन्नताओं का निराकरण तो सुधारक महामानवों के प्रयत्नों
से होते रहते हैं, परंतु कई बार ऐसी विषम विभीषिकाएँ आ

वातावृतौ शुभायां च शांतिपाठेन तत्र तत् ॥ ९२ ॥

कृत्वा परस्परं सर्वे श्रोतारश्चाभिवंदनम् ।

कुटीरान् स्वान् गता दिव्यसंदेशानंदिता अथ ॥ ९३ ॥

टीका—उज्ज्वल भविष्य की आशा से सभी के चेहरे
कमल पुष्प जैसे खिलने लगे। खिन्नता और निराशा को
सत्राध्यक्ष के आश्वासन ने दूर कर दिया। आज का सत्र गत
दिवस की भाँति प्रसन्नता के वातावरण में समाप्त हुआ। शांति
पाठ, अभिवंदन के उपरांत सभी अपने-अपने निवास कुटीरों
में चले गए। दिव्य संदेश से सभी आनंद अनुभव कर रहे थे ॥
९०-९३ ॥

उपस्थित होती हैं, जिनमें कोई समाधान नहीं दीखता। सुधारकों
के प्रयत्न विफल होने लगते हैं, और सर्वनाशी विनाश सामने
खड़ा दीखता है। देव! इन दिनों की परिस्थितियाँ देखकर
लगता है, खंडप्रलय का भयंकर समय आ गया है ॥ ४-७ ॥

अनाचारैश्च मर्त्यानां रुष्टायाः प्रकृतेरिह ।

कोपो वर्षति भिन्नेषु रूपेष्वेव निरंतरम् ॥ ८ ॥

प्रातिकूलस्य चाऽस्यायं क्षुद्रस्तु पुरुषः कथम् ।

प्रतिकर्तुं समर्थः स्यादल्पज्ञश्चाल्पशक्तिकः ॥ ९ ॥

विज्ञानवरदानं स्वदुष्प्रवृत्तेस्तु कारणात् ।

अभिशापं व्यधादेव सृष्टिनाशकरं परम् ॥ १० ॥

व्यक्तीनां च समाजस्य स्थितिष्वेतासु निश्चितम् ।

विश्वस्याभूद् भविष्यत्तदन्धकारमयं ध्रुवम् ॥ ११ ॥

देव संकट एषोऽत्र निर्मरिष्यति वा न वा ।

महाप्रलयकालो वा समायातोऽस्त्यकालिकः ॥ १२ ॥

सत्राध्यक्षस्त्रिकालज्ञश्चिंता - परतयाऽथ सः ।

कात्यायन उवाचैवं हितं वाक्यं महामुनिः ॥ १३ ॥

टीका—मानवी अनाचार से रुष्ट प्रकृति के अनेकानेक
प्रकोप बरसने लगे हैं। इस प्रतिकूलता का सामना अल्पज्ञ
और अल्पशक्ति वाला क्षुद्र मनुष्य किस प्रकार कर सकेगा।
उसने तो विज्ञान के वरदान तक को अपनी दुष्प्रवृत्तियों के
कारण सृष्टि विनाशक अभिशाप जैसा बनाकर रख दिया है।
इन परिस्थितियों में व्यक्तियों का समाज का विश्व का भविष्य
अंधकारमय ही दीख पड़ता है। हे देव! बताएँ कि यह संकट
टलेगा भी या नहीं? कहीं महाप्रलय का समय समीप तो नहीं
आ गया। त्रिकालदर्शी सत्राध्यक्ष महामुनि कात्यायन भविष्य

की चिंता से बोले ॥ ८-१३ ॥

चित्रितात्वधुनैवात्र पूर्वतो या परिस्थितिः।

महाभाग! न संदेहस्तस्यगंभीरता - विधौ ॥ १४ ॥

तथाप्यस्माभिरेषोऽत्र कार्यो विश्वास उत्तमः।

स्रष्टेमां तु धरित्रीं स्वां व्यधात्सर्वोत्तमां कृतिः ॥ १५ ॥

मनुष्यरचना सेयं विहिता ब्रह्मणेदृशी।

दृश्यमानं स्वरूपं स स्रष्टुरित्येव मन्यताम् ॥ १६ ॥

नियंता सहते नैव विनाशं कुत्रचित्प्रभुः।

ईदृश्याः शोभनायाः स सृष्टेः सृष्टिकरः स्वयम् ॥ १७ ॥

टीका—कात्यायन ने कहा, हे महाभाग अभी परिस्थितियों का जो चित्रण किया गया है, उनकी गंभीरता में तनिक भी संदेह नहीं है, फिर भी हम सबको यह विश्वास करना चाहिए कि स्रष्टा ने इस धरती को अपनी सर्वोत्तम कलाकृति के रूप में रचा है। मनुष्य की संरचना ही इस प्रकार की गई है, मानो वह स्रष्टा का दृश्यमान स्वरूप ही हो। ऐसे सृजन को सृष्टि का कर्ता व नियंता प्रभु नष्ट नहीं होने दे सकते ॥ १४-१७ ॥

ऋषि इस तथ्य से सहमत हैं कि स्थिति बहुत खराब है। मनुष्य उन्हें नियंत्रित कर सकेगा ऐसा नहीं लगता। यह दृष्टि निराशा पैदा करती है। परंतु एक दूसरी दृष्टि भी है। वह यह कि यदि यही परिस्थितियाँ रहीं तो मानवी सभ्यता नष्ट हो जाएगी। उसे भगवान नष्ट नहीं होने देंगे, ऐसा उनका आश्वासन है। अस्तु किसी दिव्य प्रवाह के प्रभाव से यह विषम परिस्थितियाँ ही समाप्त हो जाएँगी, यह सुनिश्चित है। एक शासन हटता दूसरा आता है तो उस मध्यकाल में कई प्रकार की उलट-पुलट होती देखी गई है। गर्भस्थ बालक जब छोटी उदरदरी से बाहर निकलकर सुविस्तृत विश्व में प्रवेश करता है तो माता को प्रसव सहनी पड़ती है और बच्चा जीवन मरण से जूझने वाला पुरुषार्थ करता है। प्रभातकाल से पूर्व की घड़ियों में तमिस्रा चरम सीमा तक पहुँचती है। दीपक के बुझते समय बाती का उछलना, फुदकना देखते ही बनता है। मरणासन्न की साँसें इतनी तेजी से चलती हैं, मानो वह निरोग और बलिष्ठ बनने जा रहा हो। चींटी के जब अंतिम दिन आते हैं तब उसके पर उगते हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि परिवर्तन की घड़ियाँ असाधारण उलट-पुलट की होती हैं। उन दिनों अव्यवस्था फैलती असुविधा होती और कई बार संकट विग्रह की घटा भी घुमड़ती है। युग परिवर्तन की इस संधि बेला में भी ऐसा ही हो रहा है।

अवशाश्च मनुष्यस्य जायंते स्थितयो यदा।

व्यवस्था - सूत्रधारत्वं स्रष्टागृह्णाति तु स्वयम् ॥ १८ ॥

व्यवस्थापयतीत्यं स येनालोकोदयो भवेत्।

अंधकारोऽवतारस्य प्रक्रियेयं तु विद्यते ॥ १९ ॥

जना आश्वासिताः सर्वे दृढं भगवता स्वयम्।

धर्मग्लानावधर्मस्याभ्युत्थानेऽवतराम्यहम् ॥ २० ॥

अनौचित्यमधर्मं च निराकर्तुं स्वयं प्रभुः।

देवोऽत्रावतरत्येव काले विषमतां गते ॥ २१ ॥

कार्यं यन्नभवेत् पूर्णं सामान्यैस्तु जनैरिह।

समापयति तत्सर्वं स्वयं निर्धारणैः स्वकैः ॥ २२ ॥

पुरातने च काले स भगवान् विश्वभावनः।

अवातरत् स्थितावत्र विषमायामनेकशः ॥ २३ ॥

टीका—मनुष्य के हाथ से जब परिस्थितियाँ बाहर चली जाती हैं, तो प्रवाह की बागडोर स्रष्टा स्वयं सँभालते हैं और ऐसी व्यवस्था बनाते हैं, जिससे अंधकार में प्रकाश उत्पन्न हो सके। यह अवतार की प्रक्रिया है। भगवान ने इन लोकवासियों को आश्वासन दिया है कि धर्म की ग्लानि व अधर्म का उत्थान होने पर मैं पृथ्वी पर अवतार लेता हूँ। अधर्म का अनौचित्य का निवारण करने के लिए विषम बेला में वे स्वयं प्रकट होते हैं और जो काम सामान्य जनों से संपन्न नहीं हो पाता, उसे अपने निर्धारणों द्वारा स्वयं पूर्ण करते हैं। पुरातन काल में ऐसी ही विषम परिस्थितियों में भगवान ने अनेकों बार अवतार लिए हैं ॥ १८-२३ ॥

व्यक्ति कितना ही समर्थ क्यों न हो वह शरीर तक सीमित रहने के कारण समीपवर्ती क्षेत्र में ही यथा शक्ति पुरुषार्थ कर सकता है। वातावरण बदलने, व्यापक परिस्थितियाँ सुधारने जैसे बड़े कामों के लिए स्रष्टा को स्वयं लगाम सँभालनी पड़ती है। असंतुलन को संतुलन में बदलने की उसने प्रतिज्ञा भी की हुई है। जब धर्म से अधर्म का अनुपात बढ़ जाता है और सँभालना मानवी क्षमता से बाहर चला जाता है, तो उसे सँभालने की जिम्मेदारी स्रष्टा को ही सँभालनी पड़ती है।

अगस्त्य उवाच-

आदितो देव ! सृष्टेर्ये जाता अद्यावधि प्रभोः।

अवताराः समे वर्ण्या जिज्ञासा श्रोतुमस्ति नः ॥ २४ ॥

सत्राध्यक्ष उवाच-

अवताराः प्रभोर्दिव्यदर्शिर्भिदश वर्णिताः।

लीलोद्देश्य - स्वरूपाणि पुराणादिषु दृश्यताम् ॥ २५ ॥

टीका—अगस्त्य ने कहा, हे देव सृष्टि के आदि से लेकर अब तक हुए भगवान के अवतारों का वर्णन करें, सुनने की जिज्ञासा हो रही है। सत्राध्यक्ष बोले, भगवान के दश अवतारों का दिव्यदर्शियों ने वर्णन किया है। शास्त्रों पुराणों में उनके स्वरूप, उद्देश्य और लीला-संदोहों का वर्णन है ॥ २४-२५ ॥

पुराणों में कहीं दस अवतार का वर्णन है, कहीं चौबीस का। जहाँ चौबीस का उल्लेख है, वहाँ उसे गायत्री के चौबीस

४.५४ प्रज्ञोपनिषद्

अक्षरों की ओर, चौबीस शक्तियों की ओर किया गया संकेत समझा जाना चाहिए। दत्तात्रेय के चौबीस गुरु दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में यही है। चौबीस ऋषि, चौबीस देवता ज्योतिर्लिंग चौबीस शक्ति पीठें, इसी चौबीस अवतार प्रकरण के साथ जुड़ती हैं। उद्देश्य सबका एक ही है। अधर्म का नाश और धर्म का संस्थापन। प्रकारांतर से यही कार्य सभी अवतारों ने अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुरूप अपने-अपने ढंग से किया है।

अवतारों को व्यक्ति नहीं, प्रवाह समझा जाना चाहिए। जो अदृश्य प्रेरणाओं और योजनाओं को लेकर धरती पर आते हैं और तत्कालीन आत्माओं को अपनी सहयोगी, सहचर बनाने में समर्थ होते हैं।

पुराणों में दस अवतारों को प्रधान माना गया है। मनुष्य बिगाड़ तो कर लेता है, पर परिस्थिति काबू से बाहर हो जाने पर सँभालना उसके वश की बात नहीं रहती। अग्निकांड तो माचिस की एक तीली भी खड़ा कर देती है, पर उसे बुझाने के लिए फायर बिग्रेड बुलाने पड़ते हैं। किसी किले को विस्मार करने के लिए डायनामाइट का एक कारतूस भी पर्याप्त है, पर उसे नए सिरे से बनाने के लिए कुशल इंजीनियर, अगणित श्रमिकों और प्रचुर साधन जुटाने में कोई वरिष्ठ ही समर्थ होते हैं। वनों की रगड़ से दावानल उत्पन्न हो जाता है, पर बुझाने के लिए वर्षा के बादल ही काम आते हैं। शासन की छोटी इकाइयाँ जब अपने काम ठीक तरह नहीं कर पातीं, तो उन्हें बरखास्त करके राष्ट्रपति शासन लगता है और सत्ता अपने हाथ में लेकर असंतुलन को संतुलन में बदला जाता है। विषम परिस्थितियों पर काबू पाने में जब मनुष्य की सामर्थ्य काम नहीं आती है, तो फिर उसे भगवान के प्रेरित प्रवाह-अवतार ही काबू में लाते हैं। पागल हाथी की जैसी परिस्थितियों को काबू में लाने के लिए प्रेक्षित हंटर मारकर ही उसे वशवर्ती करते हैं। अवतार को ऐसा ही कुछ समझा जा सकता है।

आद्यो मत्स्यावतारस्तु प्रास्तौषीद् बीजतस्तरोः ।

निर्मितेरिव प्रामाण्यं बोधिताः सकला जनाः ॥ २६ ॥

साधनानि लघून्त्रोद्देश्यैरुच्चगतैर्यदि ।

युज्यन्ते तानि गच्छन्ति स्वयमेवोच्चतामिह ॥ २७ ॥

सत्यव्रतस्य राजर्षेः कमंडलुगतः स्वयम् ।

मत्स्यो वृद्धिं गतो जातः समुद्र इव विस्तृतः ॥ २८ ॥

टीका—प्रथम मत्स्यावतार हुआ, जिसने बीज से वृक्ष बनने जैसा उदाहरण प्रस्तुत किया और बताया कि छोटे साधन भी उच्च उद्देश्यों के साथ जुड़ने पर महान हो जाते हैं। राजर्षि सत्यव्रत के कमंडलु में रखी मछली, समुद्र जितनी सुविस्तृत हो गई थी ॥ २६-२८ ॥

अवतारो द्वितीयश्च कच्छपोऽभूत्स उत्तमः ।

श्रमसहयोगजं सर्वान् बोधयामास स्वं मतम् ॥ २९ ॥

प्रेरयामास देवान् स दैत्यानपि पयोनिधिम् ।

मथितुं तेभ्य एवायं श्रेयोऽयात्सकलं ततः ॥ ३० ॥

स्वयं चाप्रकटोभारं मंदरस्यातुलं प्रभुः ।

उवाह पृष्ठे श्रेष्ठानां कर्मोक्तं भूसौहृदम् ॥ ३१ ॥

टीका—द्वितीय कच्छप अवतार हुआ। उसने सहयोग और श्रम से संपदा होने का सिद्धांत समझाया। देवता और असुरों को मिल-जुलकर समुद्र मंथन के लिए उकसाया। श्रेय उन्हें दिया, स्वयं अप्रकट रहकर मंदराचल का सारा भार अपनी पीठ पर उठाते रहे। प्राणिमात्र के प्रति हितैषी दृष्टि रखना श्रेष्ठों का कर्तव्य है ॥ २९-३१ ॥

अवतारस्तृतीयोऽभूद् वराहो युयुधे स्वयम् ।

हिरण्याक्षस्य दुर्धर्षप्रवृत्त्या सञ्चयस्य यः ॥ ३२ ॥

चकार शमनं पूर्णमाधिपत्यस्य तस्य सः ।

सुलभां सम्पदां चक्रे सर्वेभ्यः करुणापरः ॥ ३३ ॥

टीका—तृतीय था वाराहवतार, जिसने हिरण्याक्ष की दुर्धर्ष संचय प्रवृत्ति से सीधा मल्लयुद्ध किया। आधिपत्य का शमन किया और धरती की संपदा सर्वसाधारण के लिए दयालु प्रभु ने सुलभ कराई ॥ ३२-३३ ॥

नरसिंहावतारश्च चतुर्थोऽभूत्सुपोष यः ।

सौहार्द्रं दुर्बले जाते तस्मिन् कालप्रभावतः ॥ ३४ ॥

नीतिमत्ता प्रतीकं च प्रह्लादं संरक्ष यः ।

अंते महाबलं दैत्यं हिरण्यकशिपुं प्रभुः ॥ ३५ ॥

हत्वा सत्पात्रमेनं च प्रह्लादं जनता - प्रियम् ।

स्थाने निवेशयामास सत्पात्रं तस्य संततिम् ॥ ३६ ॥

टीका—चतुर्थ नरसिंह अवतार थे। जिनने काल के प्रभाव से सदाशयता के दुर्बल पड़ने पर उसका पुष्ट-पोषण किया। बार-बार नीतिमत्ता के प्रतीक पक्षधर प्रह्लाद को बचाया और अंततः महाबली हिरण्यकश्यपु का दमन करके उसके स्थान पर सत्पात्र प्रह्लाद को बिठाया ॥ ३४-३६ ॥

वामनः पञ्चमः प्रोक्तः सद्भावं जागृतं व्यधात् ।

योऽसुराणां धनं लोकहिते दातुं शशाक च ॥ ३७ ॥

केवलं दमनं नैव विधिः शासनसम्मतः ।

परिवर्तनमप्यस्ति चेतसो विधिरुत्तमः ॥ ३८ ॥

टीका—पंचम अवतार वामन हैं। उन्होंने असुरों की प्रसुप्त सद्भावना जगाई और वैभव को जनहित में विसर्जन करने में सफलता पाई। बताया कि दमन ही नहीं हृदय परिवर्तन भी एक महत्वपूर्ण उपाय है ॥ ३७-३८ ॥

षष्ठः परशुरामश्च विद्यते स्वीचकार यः ।

दुष्टतानाशसंकल्पं यतो नैव कदाचन ॥ ३९ ॥

पिशाचतां गता लोकाः पशवो नैव शिक्षया ।

क्षमयाऽहि विनेतुं च शक्यास्तेन हताः समे ॥ ४० ॥

वधेनैव तदा तादृग् युगः संस्कर्तुमिष्यते ।

परशुना प्रचंडेन चकारेदमनेकशः ॥ ४१ ॥

टीका—छठा अवतार परशुराम है। उन्होंने दुष्टता के दमन का संकल्प लिया था। पशु और पिशाच वर्ग के लोगों को न विनय से सुधारा जा सकता है, न शिक्षा क्षमा से, इसी से उनका वध किया। प्रताड़ना व वध ही ऐसे युग को सुधार पाते हैं। यही भगवान परशुराम ने अपने प्रचंड परशु का अनेक बार प्रयोग करके कर दिखाया ॥ ३९-४१ ॥

सप्तमो राम उक्तश्चावतारो लोक उच्यते ।

जनैः श्रद्धायुतैः सर्वैर्मर्यादापुरुषोत्तमः ॥ ४२ ॥

कष्टानि सहमानोऽपि व्यतिचक्राम नो मनाक् ।

मर्यादानिरतोऽभूच्च धर्मस्य प्रतिपादने ॥ ४३ ॥

मूर्तिमान् धर्म एवायमुच्यते पुरुषो जनैः ।

एकपत्नीव्रती सर्वभूतात्मा वेदशासितः ॥ ४४ ॥

टीका—सातवाँ अवतार राम है, जिन्हें श्रद्धालु जनों द्वारा मर्यादा पुरुषोत्तम कहा जाता है। उन्होंने स्वयं कष्ट सहते, किंतु मर्यादाओं का व्यतिक्रम नहीं किया। धर्मधारणा के प्रतिपादन में निरत रहे। उन्हें सजीव धर्म पुरुष कहा जाता है। वह वेदनाकूल चरित्रवाले, प्राणीमात्र के हितैषी एक पत्नीव्रती थे ॥ ४२-४४ ॥

कृष्ण एवाष्टमः पूर्णोऽवतारो विद्यते स्वयम् ।

दूरीकर्तुमनीतीर्यश्चातुर्यस्य तथैव च ॥ ४५ ॥

सर्वप्रकारकस्योक्तः कौशलस्यायमुत्तमः ।

नीतिनिर्धारको लक्ष्ये पवित्रे स्थितिरूपतः ॥ ४६ ॥

परिवर्तनमप्येष स्वीचकारोच्यते जनैः ।

नीतिज्ञो यो व्यधानीतिं लक्ष्यगां न क्रियागताम् ॥ ४७ ॥

टीका—आठवाँ अवतार कृष्ण का है, जिन्हें अनीति को निरस्त करने के लिए चातुर्य और सर्वविध कौशल का नीति-निर्धारक कहा जाता है। लक्ष्य पवित्र होने पर वे परिस्थिति के अनुरूप व्यवहार बदलने पर विश्वास करते थे। उन्होंने नीति को क्रिया के साथ नहीं, लक्ष्य के साथ जोड़ा। वे नीति पुरुष कहलाए ॥ ४५-४७ ॥

बुद्धावतारो नवमो बुद्धिं धर्ममथापि च ।

संघं प्रधानरूपेण स्वीचक्रे जनमंगलम् ॥ ४८ ॥

तपः - पौरुषशक्त्या स संघमुच्चात्मनां नृणाम् ।

व्यधाद् भूयश्च तान् सर्वान् प्रेषयामासभूतले ॥ ४९ ॥

जनान् प्रशिक्षितान् कर्तुमालोकं दातुमुत्तमम् ।

काले तस्मिंस्तदैवाभूद् वसुधा मंगलोदिता ॥ ५० ॥

काले व्यक्तिषु तत्रैवं बहुप्रचलनेष्वपि ।

परिवर्तनमाधातुं साफल्यं प्राप सोऽद्भुतम् ॥ ५१ ॥

अतएवोच्यते बुद्धेर्देवता बुद्ध उत्तमैः ।

रोगशोकजराजीर्णं जगद्बीक्ष्याद्रवच्च यः ॥ ५२ ॥

टीका—नवें बुद्धावतार थे। उन्होंने जनहित में बुद्धि, धर्म और संघ को प्रधानता दी। तप और पुरुषार्थ किया। उच्च आत्माओं का समुदाय समेटा उसे प्रशिक्षित करने और आलोक वितरण के लिए विश्व के कोने-कोने में भेजा। इसी से उस समय पृथ्वी मंगलमयी बन गई। समय को, व्यक्तियों को और प्रचलनों को बदलने में भारी सफलता पाई। इसीलिए श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा उन्हें बुद्धि का देवता कहा जाता है, रोग-शोक व वृद्धता से जर्जर विश्व को देखकर जिनका हृदय करुणा से द्रवित हो गया था ॥ ४८-५२ ॥

प्रज्ञावतारो कल्किश्च निष्कलंकोऽपि वा पुनः ।

दशमोऽयं च लोकेऽस्मिन् अवतारस्तु विद्यते ॥ ५३ ॥

अस्यावतरणस्याद्य भूमिका - काल आगतः ।

आगते युगसंधेश्च प्रभाते शुभपर्वणि ॥ ५४ ॥

महाप्रज्ञेति रूपे च साद्यश्चक्तिरनुत्तमा ।

गायत्री केवलं लोके युगशक्तिर्भविष्यति ॥ ५५ ॥

टीका—दशवाँ अवतार प्रज्ञावतार है, जिन्हें निष्कलंक कल्कि भी कहा गया है। इसके अवतरण की भूमिका का ठीक यही समय है। युग संधि के इस प्रभात पर्व पर महाप्रज्ञा के रूप में आद्य शक्ति गायत्री ही अब युग शक्ति बनने जा रही है ॥ ५३-५५ ॥

अब दसवाँ निष्कलंक अवतार इन दिनों हो रहा है अथवा यों कहना चाहिए कि हो चुका है। यह एक ऐसा भावना प्रवाह है जिसका उद्देश्य हजारों वर्षों की कलंक कालिमा को धोकर मानवता का मुख उज्ज्वल करना है। अवतार तो एक शक्ति, एक चेतना और एक प्रवाह है, जिसका प्रभाव सारे वातावरण को झकझोरता और झिंझोरता है। लोकमानस भी उसे अप्रभावित नहीं रह जाता। उस प्रभाव के परिणाम स्वरूप अवांछनीयता की जड़ें खोखली होने लगतीं और औचित्य की स्थिति दिनों दिन सुदृढ़ होती चली जाती है। पौराणिक भाषा में उनका नाम है निष्कलंक क्योंकि वह हमारी पिछली तथा वर्तमान दुष्प्रवृत्तियों, कलंकों को धोने आ रहा है, उसके द्वारा ऐसा भावनात्मक प्रवाह उत्पन्न किया जा रहा है, जिससे लोग अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं तथा समस्याओं में उलझे रहने के बजाए खुशी से लोकमंगल संबंधी कार्यों के लिए कटिबद्ध होंगे। इसके लिए बढ़-चढ़कर तप-त्याग करने में भी संकोच न करेंगे। कल्कि अवतार का यह प्रयत्न प्रेरणा-प्रवाह हम अपने चारों ओर प्रवाहित होते हुए इस समय भी आसानी से देख और अनुभव कर सकते हैं।

अपने युग का प्रधान संकट आस्था संकट है। आस्थाएँ चेतना से संबंधित हैं। अतः अवतार का प्रधान कार्य क्षेत्र भी

४.५६ प्रज्ञोपनिषद्

चेतना का ही होगा। उसी से विचारधाराएँ, मान्यताएँ और आकांक्षाएँ उखाड़ी तथा जमाई जाएँगीं। इसके स्वरूप प्रारूप का निर्धारण हो चुका है। गायत्री महामंत्र में उन सभी तथ्यों का समावेश है, जो सद्भाव संपन्न आस्थाओं के निर्धारण एवं अभिवर्द्धन का प्रयोजन पूरा कर सकें। व्यक्ति का चरित्र, चिंतन और समाज का विधान प्रचलन क्या होना चाहिए? इसका ऐसा सुनिश्चित निर्धारण इस महामंत्र में विद्यमान है, जिसे सार्वभौम और सर्वजनीन ही कहना चाहिए। अतः तदनुरूप अपने समय का दशवाँ अवतार युग शक्ति गायत्री का है। गायत्री में प्रज्ञा और प्रखरता के दोनों तत्व भरे होने से उसमें सृजनात्मक शक्ति और ध्वशात्मक शक्ति दोनों का समावेश है। गायत्री मंत्र में सब कुछ विद्यमान है। उसके २४ अक्षरों में बीज रूप से मान्यताओं, संवेदनाओं और प्रेरणाओं का सुनियोजित तारतम्य विद्यमान है। युग परिवर्तन के लिए लोकमानस को उच्चस्तरीय बनाने के लिए इस अवलंबन के अतिरिक्त ऐसा कोई कारगर उपाय नहीं खोजा जा सकता जो मनुष्य में देवोपम आस्थाएँ जगाने, प्रेरणाएँ उगाने और सक्रियता अपनाने के लिए अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचा सके।

युग शक्ति गायत्री की अवतरण परंपरा में सर्वप्रथम वेदमाता स्वरूप ब्रह्माजी के माध्यम से प्रकट हुआ। भगवती के सात अवतार, सात व्याहृतियों के रूप में प्रकट हुए जो सात ऋषियों के रूप में प्रख्यात हुए। युग परिवर्तन का नवम अवतार अब से पिछली बार विश्वामित्र के रूप में हुआ। प्रस्तुत गायत्री मंत्र के विनियोग उद्घोष में गायत्री छंद सविता, देवता विश्वामित्र ऋषि का उल्लेख होता है। अस्तु अब तक के युग में विश्वामित्र ही नवम् अवतार हैं। ब्रह्माजी के माध्यम से वेदमाता का सप्त ऋषियों के माध्यम से देवमाता का विश्वामित्र के माध्यम से विश्वमाता का अवतरण हो चुका। नौ अवतरण पूरे हुए। दशवाँ अपने समय का अवतार युग आद्य शक्ति गायत्री का है। अंधकार युग के निराकरण और उज्ज्वल भविष्य का शुभारंभ इसी दिव्य अवतरण के साथ प्रादुर्भूत होते हुए हम सब अपने इन्हीं चर्म चक्षुओं से प्रत्यक्ष देख रहे हैं, युग समस्याओं के समाधान में यही प्रज्ञावतार महती और सफल भूमिका संपन्न कर सकेगा। यह इतना निश्चित है कि इसमें राई-रत्ती भर भी संदेह नहीं किया जा सकता।

अवतारस्तु ये पूर्व जातास्तेषां युगे त्विह।

समस्याः स्थानगा जाता उत व्यक्तिगता अपि ॥ ५६ ॥

इदानीं व्यापकास्ताश्च जनमानससंगताः।

क्षेत्रं प्रज्ञावतारस्य व्यापकं विद्यते ततः ॥ ५७ ॥

प्रज्ञावतार एषोऽत्र स्वरूपाद् व्यापको मतः।

सूक्ष्मं युगांतरायाश्च चेतनायाः स्वरूपतः ॥ ५८ ॥

तस्यानुकूलमेवात्र चिन्तनं स्याद् विनिर्मितम्।

नाकृतिस्तस्यकाऽपि स्यात्परं तस्योत्तमोत्तमाः ॥ ५९ ॥

प्रेरणाः संवहन्तस्तेऽसंख्याः प्रज्ञासुताः स्वतः।

कार्यक्षेत्रे गमिष्यन्ति तेनागता सुचेतना ॥ ६० ॥

कलेः पूर्वार्ध एवायमुत्तरार्धश्च मन्यताम्।

बुद्धस्य रुद्धकार्यस्यावतारो बौद्धिको महान् ॥ ६१ ॥

प्रज्ञापरिजनानां स विशालो देवसंघकः।

कालोद्देश्यात्समस्यास्ता समाधास्यति सत्वरम् ॥ ६२ ॥

टीका—पिछले अवतारों के समय समस्याएँ स्थानीय और व्यक्ति प्रधान थीं। अबकी बार ये व्यापक और जनमानस में संव्याप्त हैं। इसीलिए प्रज्ञावतार का कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक है। प्रज्ञावतार का स्वरूप व्यापक होने के कारण युगांतरीय चेतना के रूप में सूक्ष्म होगा और तदनुसार ही चिंतन विनिर्मित होगा। उसकी अपनी कोई आकृति न होगी, पर उसकी उत्तमोत्तम प्रेरणाओं का परिवहन करते हुए असंख्य प्रज्ञापुत्र कार्यक्षेत्र में उतरेंगे, जिससे नई चेतना जगेगी। प्रज्ञावतार कल्कि का पूर्वार्द्ध, व अधूरे छूटे बुद्ध के कार्यों का पूरक है। अतः बुद्धि का उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है। यह विचारों की क्रांति का महान बौद्धिक अवतार है। प्रज्ञा-परिजनों का विशालकाय देव समुदाय महाकाल का वह उद्देश्य पूरा करेगा, जिससे युग समस्याओं का समाधान हो सके ॥ ५६-६२ ॥

यथा प्राभातिके जाते ऋषयोऽत्रारुणोदये।

अंधकारोऽथ संव्याप्तोऽपैति दूरं तथैव तु ॥ ६३ ॥

समस्यास्ताः विकाराश्च विपदो वा विभीषिकाः।

समाहिता स्वतः स्युस्ताः प्रज्ञावतरणे भुवि ॥ ६४ ॥

चिन्ता नैव विधातव्या निराशा नोचिता मता।

नाशयिष्यति नो पृथ्वीं स्रष्टा स्वां कृतिमुत्तमाम् ॥ ६५ ॥

विपद्विभीषिकाभिस्तु समस्याभिश्च पूरिते।

समये भूमिकां कां स भगवान् संविधास्यति ॥ ६६ ॥

ज्ञात्वेदं मोदमायाता जनाः सत्रगताः समे।

प्रज्ञावतारसंबंधे ज्ञातुं जाताः समुत्सुकाः ॥ ६७ ॥

टीका—हे ऋषिगण जिस प्रकार प्रभात का अरुणोदय होते ही संव्याप्त अंधकार का निराकरण सहज हो जाता है, उसी प्रकार प्रस्तुत समस्याओं, विपत्तियों, विकृतियों एवं विभीषिकाओं का समाधान प्रज्ञावतार के अवतरण से सहज ही संभव हो सकेगा। हमें निराश होने की या चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। जिस स्रष्टा ने इस भूलोक की अनुपम कलाकृति विनिर्मित की है, वह उसे नष्ट न होने देगा। समस्याओं, विपत्तियों और विभीषिकाओं से भी वर्तमान विषम वेला में भगवान् के अवतार की क्या भूमिका होगी यह जानकर सत्र में उपस्थित जनों में सभी को बहुत प्रसन्नता हुई। वे प्रज्ञावतार के संबंध में अधिक कुछ जानने को उत्सुक

हो उठे ॥ ६३-६७ ॥

विभीषिकाएँ देखकर लगता है कि न जाने क्या होगा, परंतु यह विभीषिकाएँ भटकते मानव को गलत मार्ग से विरत करने के लिए रचे गए दंड हैं। बच्चे जब बहुत शरारत करते हैं, साधारण समझाने बुझाने से नहीं मानते, तो अध्यापकों को उन्हें दूसरी तरफ सबक सिखाना पड़ता है। माता-पिता भी ऐसे अवरो पर बच्चों के साथ कड़ाई से पेश आते हैं और कई बार वह कड़ाई ऐसी कठोर होती है, जो बहुत समय तक याद रहती है कि वैसी शरारत फिर न करें।

कात्यायन उवाच-

आद्या ये त्ववताराः षट् सामान्यासु तथैव च।

सीमितासु स्थितिष्वेव बभूवुस्ते समेऽपि तु ॥ ६८ ॥

रामावतारो य प्रोक्तः सप्तमो योऽष्टमश्च सः।

कृष्णावतारः कालेऽस्मिन् द्वयोरेव तयोरलम् ॥ ६९ ॥

लोकशिक्षणलीलायाः संदोहो भविता भुवि।

कार्यान्वितो जगत् स्याच्च येन सन्मंगलं पुनः ॥ ७० ॥

समस्यानां समाधाने प्रसंगेषु बहुष्विह।

नीतीनामुपयोगोऽथ रीतीनां च भविष्यति ॥ ७१ ॥

बुद्धावतार आख्यातो नवमो यः पुरा मया।

पूर्वाद्धस्तस्य सम्पन्नः शेषोऽयमिति मन्यताम् ॥ ७२ ॥

अपूर्णं कार्यमेकस्य द्वितीयः पूरयिष्यति।

द्वयोर्निधारणेऽप्यत्र समता च क्रियास्वपि ॥ ७३ ॥

उत्तरार्धोऽयमेवास्य कलेर्दोषान् विधास्यति।

जीर्णाच्छनैः शनैर्येन मर्त्यः स्याद् देवतोपमः ॥ ७४ ॥

कालखंडोऽयमत्रैवं भूमिकां संविधास्यति।

कृतस्यास्य युगस्यालं देवप्रेरणया स्वतः ॥ ७५ ॥

टीका—महर्षि कात्यायन ने कहा प्रथम छहः अवतार सामान्य एवं सीमित परिस्थितियों में उत्पन्न हुए थे। सातवाँ राम का और आठवाँ कृष्ण का अवतार ऐसा है, जिसका लोकशिक्षण, लीलासंदोह प्रज्ञावतार काल में, बहुत अंश में कार्यान्वित होगा, जिससे एक बार फिर सारा जगत् मंगलमय बन जाएगा। समस्याओं के समाधान में उन रीति-नीतियों का अनेक प्रसंगों में उपयोग किया जाएगा। नवम बुद्धावतार को पूर्वाद्ध और दशम प्रज्ञावतार को उत्तरार्द्ध समझा जा सकता है। एक का अधूरा कार्य दूसरे के द्वारा संपन्न होगा। दोनों के निर्धारणों एवं क्रियाकलापों में बहुत कुछ समता रहेगी। यह उत्तरार्द्ध ही कलियुग के कारण उत्पन्न दोषों को जर्जर करता जाएगा, परिणामस्वरूप मानवमात्र देवोपम बनेगा। इस प्रकार यह कालखंड भगवान की प्रेरणा से स्वयं सतयुगी की भूमिका पूरी करेगा ॥ ६८-७५ ॥

महाभारत के अवतार प्रकरण के अंत में भगवान कल्कि का परिचय देते हुए महाभारतकार ने कहा है।

कल्कि - विष्णुयशा नाम भूयश्चोत्पत्स्यते हरिः।

कलेर्युगांते सम्प्राप्ते धर्मे शिथिलतां गते ॥

पाखंडिनां गणानां हि वधार्थं भरतर्षभः।

धर्मस्य च विवृद्धयर्थं विप्राणां हितकाम्यया ॥

कलियुग के अंत में जब धर्म में अधिक शिथिलता आने लगेगी तो उस समय भगवान श्रीहरि पाखंडियों को निर्मूल करने, धर्म की वृद्धि और सच्चे ब्राह्मणों की हित कामना से पुनः अवतार लेंगे। उनके उस अवतार को कल्कि विष्णु यशा कहा जाएगा।

द्विजाति पूर्वको लोकः क्रमेण प्रभविष्यति।

दैवः कालांतरेऽन्यस्मिन्पुनर्लोकं विवृद्धये ॥

—महाभारत

अर्थात् युग परिवर्तन के इस संधिकाल में द्विजत्व संस्कार संपन्न आदर्शवादी व्यक्तियों का उत्थान होगा, और भगवान फिर से संसार को सुख समुन्नति की ओर अग्रसर करेंगे।

तत्त्वदर्शी भविष्यवक्ताओं का भी ऐसा ही मत है—

उद्देश्यत्रयमेवाह भगवान् बुद्ध आत्मनः।

बुद्धं शरणमायामि धर्मं संघं तथैव च ॥ ७६ ॥

निर्धारणानि त्रीण्येव कर्ता कर्मान्वितानि तु।

बौद्धिके नैतिके क्रांतिविधौ सामाजिकेऽपि च ॥ ७७ ॥

संघारामास्तु बुद्धस्य धर्मचक्रप्रवर्तने।

नालंदाद्यास्तथा तक्षशिलाद्याः स्थापिता इह ॥ ७८ ॥

प्रेषिताश्च ततो देशे तथा देशांतरेष्वपि।

लक्षाधिकाः परिव्राजः सुसंस्काराः प्रशिक्षिताः ॥ ७९ ॥

उपक्रमः स एवात्र प्रज्ञापीठैस्तथैव च।

प्रज्ञापुत्रैः सुसंपन्न इदानीं संविधास्यते ॥ ८० ॥

यदपूर्णं तदाकार्यं तदेवाद्य विधास्यते।

पूर्णं प्रज्ञावतारेण निष्कलंकेन सत्वरम् ॥ ८१ ॥

टीका—भगवान बुद्ध के तीन उद्देश्य थे—(१) बुद्धं शरणं गच्छामि। (२) धर्मं शरणं गच्छामि। (३) संघं शरणं गच्छामि। यही तीनों निर्धारण प्रज्ञावतार द्वारा बौद्धिक नैतिक एवं सामाजिक क्रांति के रूप में कार्यान्वित किए जाने हैं। बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्तन में नालंदा, तक्षशीला जैसे अनेकों संघाराम, विहार स्थापित किए गए और उनसे लाखों सुसंस्कृत परिव्राजक प्रशिक्षित करके देश-देशांतरों में भेजे गए। प्रायः वही उपक्रम प्रज्ञापीठों और प्रज्ञापुत्रों द्वारा अब संपन्न किया जाएगा। जो कार्य उन दिनों अधूरा रह गया था, वह निष्कलंक प्रज्ञावतार द्वारा पूर्ण होगा ॥ ७६-८१ ॥

व्यापकत्वान्निराकारो भविष्यत्येष शोभनः।

प्रज्ञावतारो मर्त्यानां बुद्धेः सत्कर्मसु स्पृहा ॥ ८२ ॥

यज्ञदानतपःस्वत्र पावनेषु तु कर्मसु।

बुद्धेः प्रवृत्तिरेवायमवतारो मतोऽतनु ॥ ८३ ॥

४.५८ प्रज्ञोपनिषद्

प्रेरणां प्रातिनिध्यं स गायत्री - यज्ञसंभवा ।
 अग्नेः शिखेव तस्येयं शिखारक्ता करिष्यति ॥ ८४ ॥
 कंपमानैः सदा वृक्षपल्लवैर्जायते नरैः ।
 झञ्झावातो यथादित्यकिरणाः पर्वतस्य तु ॥ ८५ ॥
 शिखरेष्वेव पूर्वं तु भ्राजमाना पतन्ति ते ।
 तथा प्रज्ञावतारस्य झञ्झावातोपमस्य च ॥ ८६ ॥
 प्रवाहस्य तु संज्ञानं वायुपुत्रसमैरलम् ।
 गुडाकेशोपमैः प्रज्ञापुत्रैः कार्ष्णैर्विधास्यते ॥ ८७ ॥
 एतेषां च समेषां तु गतीनामादिमाश्रयाः ।
 प्रज्ञापीठा भविष्यन्ति तुलिता उदयाचलैः ॥ ८८ ॥
 ज्ञानालोकं ये दिव्यं विधास्यन्ति जगत्पलम् ।
 येन भूयो नवा दिव्या चेतना प्रसरिष्यति ॥ ८९ ॥
 टीका—प्रज्ञावतार व्यापक होने से निराकार होगा । मनुष्यों की बुद्धि सत्कर्म में लगना यज्ञ-दान तप जैसे पावन कर्मों में बुद्धि की प्रकृति हो जाना ही अशरीरी प्रज्ञावतार है । उसकी प्रेरणा उसका प्रतिनिधित्व गायत्री यज्ञ की अग्नि शिखा का प्रतिरूप लाल मशाल करेगा । तूफान का परिचय हिलते वृक्ष पल्लवों से मिलता है । उदीयमान सूर्य की किरणें सर्वप्रथम पर्वत शिखरों पर चमकती हैं । उसी प्रकार प्रज्ञावतार के तूफानी प्रवाह का प्रमाण परिचय हनुमान, अर्जुन जैसे वरिष्ठ प्रज्ञापुत्रों की गतिविधियों से मिलेगा । इनकी हलचल के केंद्र

प्रज्ञापीठ होंगे, जो उदयाचल के समान ज्ञानालोक का वितरण समस्त संसार में करेंगे, जिससे नई चेतना जागेगी ॥ ८२-८९ ॥

अवतारप्रसंगोऽयं ध्यानपूर्वकमेव तैः ।
 उपस्थितैर्जनैः सर्वैः श्रुतं जिज्ञासुभिस्तदा ॥ ९० ॥
 निरचिन्वन् समे पुण्यवेलायां पूर्णश्रद्धया ।
 युगावतारजायां स्वान् विधास्यामः समर्पितान् ॥ ९१ ॥
 टीका—अवतार प्रसंग को बहुत ध्यानपूर्वक सभी उपस्थित जिज्ञासुओं ने सुना । उनसे निश्चय किया कि युग अवतार की इसी पुण्य वेला में वे पूरी श्रद्धा और निष्ठा के साथ अपने को समर्पित करेंगे ॥ ९०-९१ ॥

अन्त्यः सत्संग एषोऽत्र समाप्तश्च यथाविधि ।
 सप्तमस्य दिनस्यैवं सुखं याताश्च येन ते ॥ ९२ ॥
 भविष्यत्समये भूयो निकटे कुत्रचिद् वयम् ।
 सुयोगमीदृशं नूनं प्राप्स्याम इति चोत्सुकाः ॥ ९३ ॥
 साभिलाषाः समस्तास्ते मुनयोऽथ मनीषिणः ।
 प्रतियाताः स्वतः स्वेषु कार्यक्षेत्रेषु हर्षिताः ॥ ९४ ॥
 टीका—सप्तम दिन का अंतिम सत्संग समाप्त हो गया, जिससे सभी सुख का अनुभव कर रहे थे । फिर कभी निकट भविष्य में ऐसा ही सुयोग मिलने की अभिलाषा लेकर सभी मुनि-मनीषी प्रसन्न होकर अपने-अपने कार्यक्षेत्र को वापस चले गए ॥ ९२-९४ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
 श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते प्रज्ञावतार इति प्रकरणो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

पंचम मंडल

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

कर्म-व्यवस्था प्रकरण

सुमेरौ पर्वते प्राय ऋषीणां दिव्य चक्षुषाम्।
मुनीनां समुदायः स भवत्येकत्रितः सदा ॥ १ ॥
लोक - कल्याण - सद्भावभरितात्मन उत्तमाः।
दिव्यवातावृतौ तत्र समस्यानां समाहितम् ॥ २ ॥
कालिकीनामन्विषन्ति विनिर्मान्ति भविष्यति।
विश्वव्यवस्थितेश्चास्याः सुव्यवस्थादियोजनाः ॥ ३ ॥
सतां समागमस्यास्य क्रमे तत्र स एकदा।
वैशम्पायन आसक्तस्तत्त्वचर्चा विधाविदम् ॥ ४ ॥
रहस्यं श्रुतवान् दिव्यं कारणं यदभूत्स्वयम्।
युगांतरस्य चैतन्यरूपे सक्रियता विधेः ॥ ५ ॥
अनन्तरं स संतोषमृषिः प्रकटयन् परम्।
विनयपूर्वकमाहैनं मार्कण्डेयं महामुनिम् ॥ ६ ॥
टीका—सुमेरु पर्वत पर प्रायः दिव्य ज्ञान संपन्न ऋषि-
मुनियों का समुदाय सत्संग प्रयोजन हेतु एकत्रित होता रहता
है। लोक कल्याण-भावना से अभिपूरित श्रेष्ठ ऋषि आत्माएँ
दिव्य वातावरण में सामयिक समस्याओं के समाधान खोजतीं
और भविष्य में विश्व व्यवस्था के सुसंचालन की योजनाएँ
बनातीं। संत समागम के इस क्रम में एक बार तत्त्व चर्चा में
संलग्न वैशम्पायन जी ने देवर्षि नारद का वह रहस्य सुना जो
युगांतरीय चेतना के रूप में सक्रिय होने के कारण था। अनंतर
उन्होंने संतोष व्यक्त करते हुए मार्कण्डेय जी से विनयपूर्वक
पूछा ॥ १-६ ॥

वैशम्पायन उवाच-

ऋषिवर्य! अनास्थाजाः संति यास्तु विभीषिकाः।
योजनानां तु दैवीनां तासां मध्ये क्रियान्वितिः ॥ ७ ॥
तत्प्रयासे तु सर्वेषां प्राप्ता वैचारिका भ्रमाः।
व्यवहारे च काठिन्यमिति निश्चीयते मया ॥ ८ ॥
किं कृतं तत्समाधातुं भवता करुणात्मना।
अनुग्राह्यो जनोऽप्येष तस्य संकीर्तनेन तु ॥ ९ ॥
टीका—वैशम्पायन ऋषि बोले हे ऋषिवर ! अनास्थाजन्य
विभीषिकाओं के बीच दैवी योजना को क्रियान्वित करने के
प्रयास में जन-जन के सामने अनेक प्रकार के वैचारिक भ्रम
और व्यावहारिक कठिनाइयों का उभार आया होगा, ऐसा मेरा
विचार है। उनके समाधान हेतु क्या किया गया? हे दयालु
कृपया उसका वर्णन कर मुझे अनुगृहीत करें ॥ ७-९ ॥

प्रज्ञापुराण में ऋषिगणों के ज्ञान समागम की अनादि

शृंखला समाहित है। उपरोक्त प्रसंग सर्वप्रथम इस शृंखला के
प्रथम खंड में नारद जी द्वारा आस्था संकट के संदर्भ में प्रस्तुत
की गई उनकी जिज्ञासा के संदर्भ में आया है जब देवर्षि
धरती पर युगांतरीय चेतना की ज्ञानगंगा प्रवाहित करने का
अनुरोध लेकर भगवान् विष्णु के पास पहुँचे थे। वैशम्पायन
मार्कण्डेय संवाद आस्था संकट अध्यात्मदर्शन की ज्ञान धारा
के प्रवाह में व्यावहारिक अध्यात्म का दिशा निर्देशन करते
हुए उन प्रसंगों पर प्रकाश डालता है, जिनके विवेचन से
लाभान्वित हो जन सामान्य आत्मिक प्रगति की दिशा में आगे
बढ़ सके, परस्पर विग्रह मिटाकर समष्टि की सेवा-साधना में
स्वयं को नियोजित कर सके।

मार्कण्डेय उवाच-

भवतो लोक कल्याणे रुचिर्या गहना मुने।
तयोपयोगि सूत्रं तत्प्राप्तं शृणु समाहितम् ॥ १० ॥
स्थितयस्त्वागता एवमन्यमन्वतरेष्वपि।
ऋषयस्तत्समाधातुं ज्ञानसत्रमयूयुजन् ॥ ११ ॥
सूत्रं महत्त्वपूर्णं तच्छृणु यस्मिंस्तु चिंतितः।
अध्यात्म-ज्ञान-संबद्धाः समस्या बहवो भृशम् ॥ १२ ॥
टीका—महर्षि मार्कण्डेय ने कहा हे महाभाग! आपकी
लोक कल्याण में जो गहरी अभिरुचि है, उसने बड़ा उपयोगी
सूत्र खोजा है। इसका समाधान सुनें। ऐसी परिस्थितियाँ अन्य
मन्वतरों में भी आ चुकी हैं। उनके समाधान के लिए ऋषियों
द्वारा ज्ञान-सत्र आयोजित किए जाते रहे हैं। इस संदर्भ में
एक अति महत्वपूर्ण सत्र जिसमें अध्यात्म-विज्ञान के अनेकानेक
पहलुओं पर चिंतन हुआ था आपको सुनाता हूँ ॥ १०-१२ ॥

महर्षिर्याज्ञवल्क्यस्य नेतृत्वे त्वेकदाऽभवत्।

ज्ञानसत्रं महर्षीणां त्रिपुरारण्यके महत् ॥ १३ ॥

सहस्राणि समायातान्यत्र सत्रे मनीषिणाम्।

तत्त्वदर्शिनृणां ब्रह्मज्ञानां प्रज्ञानृणां तथा ॥ १४ ॥

भद्रावत्यास्तु नद्यास्ते तरूणां वनशोभिनाम्।

छायायां सघनायां तु निर्मिते रम्यकुञ्जके ॥ १५ ॥

महर्षिणस्तु ते सर्वेऽगृह्णन्तस्त्रासनानि तु।

स्वस्तिवाचनमाचख्युः समूहे मंगलानि च ॥ १६ ॥

भगवत्स्मरणांते च प्रसंगे निश्चिते तथा।

क्रमश्चाल तत्रांते प्रश्नोत्तरविधौ पुनः ॥ १७ ॥

भरद्वाज ऋषिः पूर्व जिज्ञासां प्रस्तुवन् स्वकाम्।

सूत्रसञ्चालकं याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ सादरम् ॥ १८ ॥

टीका—एक बार महर्षि याज्ञवल्क्य के नेतृत्व में ऋषि-

५.२ प्रज्ञोपनिषद्

मनीषियों का एक बड़ा ज्ञान-सत्र त्रिपुरारण्यक में संपन्न हुआ। उसमें हजारों प्रज्ञापुरुष, ब्रह्मचारी, तत्त्वदर्शी, ब्रह्मज्ञानी और महामनीषी एकत्रित हुए। भद्रावती नदी के तट पर वृक्षों की सघन छाया में बने सहस्र विशालकाय निकुंज में सभी मनीषियों ने अपने-अपने आसन ग्रहण किए। सामूहिक रूप से मंगलाचरण स्वस्तिवाचन का पाठ किया और भगवत स्मरण के उपरान्त निर्धारित प्रसंग पर प्रश्नोत्तर चल पड़ा। ऋषि भारद्वाज ने प्रथम जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए सत्र के सूत्र संचालक याज्ञवल्क्य जी से नम्रतापूर्वक पूछा ॥ १३-१८ ॥

भारद्वाज उवाच-

भगवन् समदर्शी स परमात्मा तु प्राणिनाम्।

क्षमताः सुविधाश्चावश्यकतारूपतो ददौ ॥ १९ ॥

स्वभावात्तैरीश्वरस्य विधेश्चापि विरुद्धगाः।

वृट्यस्तुविधीयन्ते काले प्रतिक्रिया अपि ॥ २० ॥

दृश्यते चेदमेवात्र श्रेष्ठोऽपेक्षतया नरः।

वृटीश्चाप्यधिकाः कुर्वन् महापरिणतिः भवेत् ॥ २१ ॥

अल्पज्ञैस्तै कनिष्ठैश्च क्रियन्ते वृट यस्तु याः।

ताः सम्भाव्या हि मन्यन्ते प्रमादाज्ञानसंभवाः ॥ २२ ॥

तस्या समर्थसत्तायाः तस्याः सहयोगिन एष तु।

नरस्य व्यवहारो न मान्यो ब्रूहि रहोऽत्र किम् ॥ २३ ॥

टीका—ऋषि भारद्वाज बोले भगवन् समदर्शी परमात्मा ने प्राणिमात्र को उनकी आवश्यकता के अनुरूप क्षमताएँ व सुविधाएँ प्रदान की हैं। स्वभावतः उनसे ईश्वरीय अनुशासन के प्रतिकूल यदा-कदा भूलें भी होती रहती हैं। एवं उन कर्मों की प्रतिक्रियाएँ भी होती रहती हैं। देखा यह जाता है कि मनुष्य जैसा वरिष्ठ प्राणी अपेक्षाकृत भूलें भी अधिक करता है एवं उसके परिणाम बड़े व्यापक होते हैं। अल्पज्ञ कनिष्ठों से त्रुटियाँ हों, तो यह समझ में भी आता है, चूँकि अज्ञान-प्रमाद उनसे संभव है, पर समर्थ सत्ता के सहयोगी मनुष्य का यह व्यवहार समझ में नहीं आता। कृपया इस रहस्य का उद्घाटन करें ॥ १९-२३ ॥

अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए ऋषि ने यहाँ सृष्टि व्यापार संबंधी दो सत्त्यों का रहस्योद्घाटन किया है, साथ ही उनके आधार पर अपनी तथ्यान्वेषी बुद्धि से कुछ प्रश्न भी उठाए हैं।

वे कहते हैं कि (१) समदर्शी परमात्मा ने सभी प्राणियों को उनकी आवश्यकतानुसार सुविधाएँ प्रदान की हैं। जीव-जंतु, कीट-पक्षी आदि उन विभूतियों के आधार पर अपना निर्धारित क्रम पूरा करते रहते हैं। मनुष्य सृष्टि का सिरमौर, सिरजनहार का राजकुमार, सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है। चूँकि वह श्रेष्ठ है, उसे सुविधाएँ भी उसी अनुपात में मिली हैं एवं तदनुसार स्पष्टतः उसके उत्तरदायित्व भी बड़े हैं। (२)

साथ ही साथ ऋषि यह भी स्पष्ट करते हैं कि जिसे अधिक जिम्मेदार माना गया है, उसके द्वारा भूलें होने पर उनकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही घातक होती है। मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह यथासंभव सावधानी से उत्तरदायित्व भरा जीवन जीते हुए अपनी भूमिका को संपन्न करता चले। पर मनुष्य वरिष्ठ प्राणी होते हुए भी जीवन व्यवहार में सतत त्रुटियाँ होती चले, पर ब्रह्म के अनुशासन की अवहेलना होती रहे तो मन में असमंजस उठना स्वाभाविक ही है।

ईश्वर समदर्शी और निष्पक्ष न्यायकारी है, उसे न किसी से राग है, न द्वेष, उसने सृष्टि के सभी प्राणियों को उनकी आवश्यकतानुसार के अनुरूप क्षमताएँ एवं सुविधाएँ प्रदान की हैं। एक कोशकीय निम्न श्रेणी के प्राणियों से लेकर पशु-पक्षी तक सभी प्राणी प्रकृति प्रदत्त प्रेरणा से आवश्यकतानुरूप अपने लिए साधन सामग्री जुटाते, जीवन रक्षा करते और वंश-चक्र चलाते रहते हैं। इन जीवधारियों को जो काय कलेवर मिला है उससे प्रकृति की इच्छा ही पूरा होती है। इनकी क्षमता मात्र इतनी ही है कि निर्धारित आयुष्य पूरा करने के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति भर करते रह सकें। विचार क्षमता एवं बौद्धिक विकास के अभाव में इनसे भूलें होना भी स्वाभाविक ही है। किंतु मनुष्य जीवन इन सामान्य प्राणियों की तुलना में कहीं अधिक असामान्य है।

इस विश्व ब्रह्मांड की अजस्र शक्ति और संपदाओं में से जीवात्मा के हिस्से में जो सर्वोपरि उपहार आता है उस वैभव को मनुष्य जीवन कहा जा सकता है। दृष्टि पसारकर देखने पर प्राणी के लिए इससे बड़ी उपलब्धि और कुछ तो हो ही नहीं सकती। इससे श्रेष्ठ एवं बहुमूल्य संपदा ईश्वर के विभूति भंडार में और कोई है नहीं। शरीर संरचना एवं मनःसंस्थान की दृष्टि से मनुष्य अन्य प्राणियों की तुलना में बहुत आगे है। उसे प्रकृति रहस्यों को खोज निकालने और उनके आधार पर पदार्थ वैभव का मनचाहा उपयोग करने की अद्भुत क्षमता मिली है। ज्ञान और विज्ञान के दिव्य अस्त्र-शस्त्रों से उसकी सत्ता सुसज्जित है। क्रियाशीलता विचारणा तथा भावना के तंत्रों में इतनी उत्कृष्टता भरी पड़ी है कि उनके सहारे भौतिक एवं आत्मिक संपदाओं का प्रचुर परिमाण में उपार्जन कर सकना उसके बाएँ हाथ का खेल है। गृहस्थ आनंद, आजीविका के सुनिश्चित आधार अन्य किसी प्राणी को उपलब्ध नहीं। ऐसा क्रिया कौशल और किसी के भाग्य में बदा नहीं है। उपलब्धियों को देखते हुए उसे सृष्टि का मुकुटमणि कहा जाना सर्वथा सार्थक है।

असमंजस इस बात का है कि इतना समर्थ, इतना विशिष्ट होते हुए भी जीवन संपदा को वासना, तृष्णा, अहंता जैसे क्षुद्र प्रयोजनों में खरच करते हुए मनुष्य को इन दिनों ऐसी दुर्गति

का सामना करना पड़ रहा है जिसमें शारीरिक दुर्बलता, रुग्णता से ग्रसित होकर आमतौर से अकाल मृत्यु का वरण करता है। मानसिक तनाव, असंतोष, खीज, भय, आशंका, चिंता, आक्रोश, आक्रमण जैसी उद्विग्नताओं के कढ़ाव में उबलता रहता है। कहाँ तो मनुष्य की विशिष्टता, वरिष्ठता और कहाँ पशु-पक्षियों से भी गई बीती हेयहीनता। आखिर यह आकाश-पाताल जैसा अंतर बना कैसे? आया कहाँ से? लद पड़ा क्यों कर? इन अनबूझ पहेलियों का समाधान पूछते हुए ऋषि श्रेष्ठ जनसाधारण के कल्याण हेतु अपनी जिज्ञासा सामने रख रहे हैं।

याज्ञवल्क्य उवाच—

भवतोद्बोधिते प्रश्ने प्राणिभ्य ईश्वरार्पिताः।

सुविधाः क्षमता यास्ता लभन्ते गौरवं महत् ॥ २४ ॥

जीवनं वंशचक्रं च धर्तुं योग्यास्तु प्राणिनाम्।

सर्वेषां क्षमताः संति सुविधाश्चापि ता मुने ॥ २५ ॥

करुणायास्तु प्रत्यक्षं प्रमाणं करुणानिधेः।

वर्तते परमीशस्य शब्दस्यार्थस्तु शासनम् ॥ २६ ॥

अतः शासन - सत्ताया - कारणात्सहयोगिने।

मनुष्यायातिरिक्तास्ताः क्षमताः सुविधा ददौ ॥ २७ ॥

मात्रमत्रेदृश्यऽपेक्षा सृष्टिं कर्तुं समुन्ताम्।

शोभनां च मया कुर्याज्येष्ठपुत्रस्य भूमिकाम् ॥ २८ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले हे तात् आपके द्वारा उभारे गए प्रश्न में प्राणियों को ईश्वर द्वारा आवश्यकता के अनुरूप सुविधाएँ एवं क्षमताएँ देने की बात बहुत महत्व रखती है। जीवन निर्वाह और वंश चक्र को चलाते रहने जितनी क्षमता सुविधा तो सभी को प्राप्त है। वह उस करुणाकर की करुणा का प्रत्यक्ष प्रमाण है। परंतु ईशान् शब्द शासन करने हेतु प्रयुक्त है। अतः शासन करने वाली सत्ता के नाते ईश्वर ने अपने सहयोगी मनुष्य को कुछ अतिरिक्त क्षमताएँ और सुविधाएँ दीं, मात्र इस अपेक्षा के साथ कि सृष्टि को सुंदर, समुन्नत बनाने में ज्येष्ठ पुत्र की भूमिका निभाते हुए वह हाथ बँटाएगा ॥ २४-२८ ॥

अन्य प्राणियों को प्रकृति प्रदत्त जो काय-कलेवर मिला है उससे आत्मा या परमात्मा को कोई प्रसन्नता की या संभावना की आशा नहीं रहती। शारीरिक हलचलों के लिए आहार जुटाना और वंश रक्षा के लिए परिवार बढ़ाना यही हैं दो प्रयोजन, जिनमें हर वर्ग और स्तर के प्राणी निरत पाए जाते हैं। इन्हीं दो उपक्रमों में उनकी जीवनचर्या घड़ी के पेंडुलम की तरह झूले-झूलती रहती है। इन दोनों के लिए हर प्राणी में सामर्थ्य एवं कुशलता है। न इससे कम, न अधिक।

परंतु मनुष्य के संबंध में ऐसा नहीं है। उसका सृजन ईश्वर ने अपने वरिष्ठतम राजकुमार के रूप में किया है।

शासनाध्यक्ष अपना सुविस्तृत कार्य अकेले नहीं सँभाल पाते हैं, इसके लिए सुयोग्य पार्षदों एवं अफसरों के सहयोग की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य की गणना ऐसे ही राजकुमारों से की गई है। सहयोग वही दे सकता है जो क्षमता संपन्न हो, जिसे उपयुक्त सुविधाएँ उपलब्ध हों। इसी हेतु स्रष्टा ने मनुष्य को विभूतियों से संपन्न बनाया है और प्राणी जगत में सबसे अधिक सज्जन और जिम्मेदार माना एवं विश्वास किया है कि उसे जिस प्रयोजन के लिए विशिष्ट प्रतिभा, क्षमता एवं अतिरिक्त साधन मिले हैं, वह ईमानदारी पूर्वक उनका भरपूर सदुपयोग इस विश्व को उद्यान को अधिकाधिक समुन्नत और सुसंस्कृत बनाने में करेगा और उसका हाथ बँटाएगा। किसी महामानव ने ठीक ही कहा है कि

पेट भर लेना ही मनुष्य का उद्देश्य नहीं है, कुटुंब का भरण-पोषण करना ही मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य नहीं है। अपना जीवन निर्वाह तो कुत्ता भी कर लेता है, मनुष्य को उससे उठकर सत्य व अमृत की शोध करनी चाहिए।

वरिष्ठा राज्यसत्तायाः पदासीनास्तु ये नराः।

साधनान्यधिकाराश्च तेभ्यो दीयन्त एव हि ॥ २९ ॥

उपयोगं तु तेषां ते विधास्यन्ति स्वतोमुने।

शासनस्य व्यवस्थार्थं लोकसौविध्यहेतवे ॥ ३० ॥

निजरूपे तु तैर्मात्रं वेतनं प्राप्यते नरैः।

अतिरिक्तं यदास्ते तत्परार्थं न्यास-मात्रकम् ॥ ३१ ॥

व्यामोहे च विलासे च तथोद्धतविधौ नरैः।

अपव्ययस्य मार्गेषु नोपयुक्तं तदाहतम् ॥ ३२ ॥

तथ्यमेतत्सदाध्येयमुपलब्धसुशक्तिकैः।

मानवैर्यत एतद्धि कर्तव्यं चास्ति संमतम् ॥ ३३ ॥

टीका—राज्य सत्ता के वरिष्ठ पदासीनों को विशेष साधन तथा अधिकार इसलिए दिए जाते हैं कि उनका उपयोग शासन-व्यवस्था और लोकसुविधा के लिए करेंगे। निजी रूप से तो उन्हें निर्वाह वेतन भर मिलता है। मनुष्य को जो अतिरिक्त मिला है, वह परमार्थ प्रयोजनों के लिए दी गई धरोहर मात्र है। इसे विलास, व्यामोह, अपव्यय एवं उद्धत उपयोग में नहीं ही लगाना चाहिए। इस तथ्य को भली प्रकार ध्यान में रखना उपलब्ध शक्तियों से युक्त मानव का कर्तव्य है ॥ २९-३३ ॥

बड़े पद या गौरव जिन्हें प्रदान किए जाते हैं, उन्हें बड़ी जिम्मेदारियों से भी लाद दिया जाता है। खजाने की के पास ढेरों सरकारी रुपया रहता है, शस्त्र भांडागार का स्टोरकीपर सेना के हथियार और गोला, बारूद अपने ताले में रखता है, सेनाध्यक्षों और मंत्रियों को अनेकों सुविधा-साधन एवं अधिकार मिले होते हैं। यह विशुद्ध रूप से अमानत हैं। इन्हें निजी लाभ के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। सौंपी गई जिम्मेदारियों को ठीक तरह से परिपालन कर सकने एवं निजी रूप से

५.४ प्रज्ञोपनिषद्

जीवन निर्वाह के लिए वेतन भर मिलता है। यदि अधिकारी अपने अधिकार की वस्तुओं को निजी उपयोग में खर्च करने लगे तो यह उनका अपराध माना जाएगा और दंड मिलेगा। ठीक इसी प्रकार मनुष्य को अधिक विश्वस्त, अधिक प्रामाणिक और समझदार स्रष्टा का बड़ा पुत्र माना गया है और उसके हाथ में वे अतिरिक्त साधन धरोहर रूप में सौंपे गए हैं, जिनके सहारे ईश्वर की बनाई इस सृष्टि को और अधिक समुन्नत, सुंदर बना सके।

नर एव मतः सिद्धपुरुषो मार्गदर्शकः।

मनीषी देवदूतश्च महर्षिः क्रमशो जनैः ॥ ३४ ॥

पदान्येतानि लब्धुं च समयं प्राप्नुयुर्यथा।

सत्पात्राण्यत्रस्वीचक्रे परीक्षा पद्धतिं प्रभुः ॥ ३५ ॥

स्वतन्त्रं चिन्तनं प्रादात्कर्तृत्वं च तथैव सः।

आधारमिममाश्रित्य पात्रता सा परीक्ष्यते ॥ ३६ ॥

प्रशस्तमुपयोगं ये साधनानां प्रकुर्वते।

उत्तीर्णा तु परीक्षा तैः पदान्युच्चाणि यांति ते ॥ ३७ ॥

पार्षदास्ते प्रभोर्नूनं जायन्ते पुण्यकीर्तयः।

उन्नतेर्विञ्चिता दंड्या ये ते दुरुपयोगिनः ॥ ३८ ॥

टीका—मनुष्य जन्म के उपरांत महामानव, सिद्धपुरुष, मनीषी, मार्गदर्शक, सुधारक, ऋषि, देवदूत जैसे अन्य अनेकों स्तर एवं पद हैं। उन्हें उपलब्ध करने का अवसर सत्पात्रों को मिले इस उद्देश्य से ईश्वर ने परीक्षा पद्धति अपनाई है। हर मनुष्य को स्वतंत्र चिंतन और स्वतंत्र कर्तव्य अपनाने का अवसर प्रदान किया है। इसी आधार पर पात्रता की जाँच पड़ताल होती है। जो साधनों के सदुपयोग की परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं, वे ऊँचे पद पाते ईश्वर के पार्षद बनते हैं। जो दुरुपयोग करते हैं, वे दंड पाते और भावी प्रगति से वंचित कर दिए जाते हैं ॥ ३४-३८ ॥

पात्रता के अनुरूप अनुदान मिलने की सुव्यवस्था अनादिकाल से चली आ रही है। इसी परीक्षा में खरा उतरने पर लोग एक से एक बढ़कर उपहार प्राप्त करते रहे हैं। उच्च पद के इच्छुक व्यक्तियों को शारीरिक-मानसिक परीक्षण एवं लिखित और मौखिक साक्षात्कार की परीक्षाओं में से गुजरना पड़ता है। इसमें उत्तीर्ण होने वाले व्यक्तियों को ही उपयुक्त पद सौंपे जाते हैं। ईश्वर भी उन्हीं व्यक्तियों का चयन करता और उनके साथ जुड़ता सघनता स्थापित करता है एवं अपने अनुदान वर्षा से उन्हें धन्य बनाता है, जो उसकी परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं। चयन की स्वतंत्रता, औचित्य-अनौचित्य का वरण, यह कार्य ईश्वर ने मनुष्य के जिम्मे छोड़ा है। जीवन संपदा और उपलब्ध विभूतियों-साधनों का सदुपयोग करने वाले ही उसकी अनुकंपा का लाभ उठाते और महामानव ऋषि, मनीषी, देवपुरुष, सिद्धपुरुष बनते हैं। पात्रता के अभाव

में उत्तराधिकार आदि में मिली प्रचुर संपदा का बहुधा दुरुपयोग ही होता है क्योंकि वह पुरुषार्थ से अर्जित नहीं होती। ऐसी संपत्ति तात्कालिक रूप से भले ही किसी को आकर्षित-प्रभावित करे, अंततः दूरगामी परिणाम उसके अहितकर ही होते हैं। स्रष्टा की शाश्वत व्यवस्था है कि क्रिया की प्रतिक्रिया रूप में कर्मफल हर कर्म का मिलकर ही रहता है। ईश्वर प्रदत्त संपदा विभूतियों का जो भी दुरुपयोग करता है, उसे अनुशासन अवहेलना का दंड मिलकर ही रहता है।

किसी संत ने ठीक ही कहा है कि

मनुष्य के व्यक्तित्व को परखने के लिए दो देवदूत आते हैं एक का नाम है संकट दूसरे का वैभव। संकट हमारे धैर्य, पुरुषार्थ और साहस को जाँचता है। वैभव उदारता, नम्रता और संयम को खोजता है। जो दोनों परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो गया वह महामानव बनकर रहेगा।

महार्हेणानुदानेन प्रत्येकेन समस्तरम्।

दायित्वं बद्धमास्ते तन्महद् भूतिमतांस्त्वदम् ॥ ३९ ॥

क्षंतव्या एव दोषास्तु सामान्यानां नृणां सदा।

महांतस्तु प्रमादस्य ताडनाः प्राप्नुवन्त्यलम् ॥ ४० ॥

विभूतीनां प्रशस्तेऽत उपयोगे नरैः सदा।

स्वर्गो मुक्तिश्च प्राप्येते श्रेयस्यौ भाग्यसंपदे ॥ ४१ ॥

तथा दुरुपयोगे तु कठोरो दंड आश्रितः।

कर्मणस्तुः व्यवस्थायां अंतरेव महामुने ॥ ४२ ॥

टीका—हे ऋषि श्रेष्ठ हर बहुमूल्य अनुदान के साथ उसी स्तर का उत्तरदायित्व भी जुड़ा होता है। मनुष्य विभूतिवान है, तो उसका उत्तरदायित्व भी महान है। छोटों की छोटी भूलें दरगुजर की जाती हैं, किंतु बड़ों को प्रमाद की बड़ी प्रताड़ना भुगतनी पड़ती है। विभूतियों का सदुपयोग होने पर मनुष्य को जहाँ स्वर्ग मुक्ति जैसे श्रेय सौभाग्य मिलते हैं, वही दुरुपयोग होने पर कर्म व्यवस्था के अंतर्गत कठोर दंड विधान भी निर्धारित हैं ॥ ३९-४२ ॥

ऋषि तीन सूत्र स्पष्ट कर रहे हैं।

(१) बड़प्पन के साथ जुड़े बड़े अधिकार।

(२) उनके साथ जुड़ी बड़ी जिम्मेदारियाँ।

(३) जिम्मेदारी निभाने पर बड़े लाभ न निभा पाने पर बड़े दंड।

सफाई कर्मचारी के अधिकार सीमित हैं, जिम्मेदारी भी सीमित है। चूक होने पर सामान्य डाँट-फटकार पर्याप्त मानी जाती है। सेनानायक के अधिकार बड़े हैं तो जिम्मेदारियाँ भी असीम हैं, तथा चूक होने पर कोर्टमार्शल से कम में छुट्टी नहीं होती।

सामान्य नाविक के अधिकार भी कम हैं। जिम्मेदारी भी कम है। नाव उलट जाने पर पैसे मारे जाने, पिटाई होने तक

ही दंड सीमित। जहाज के कैप्टेन के अधिकार बड़े हैं, पर जिम्मेदारी भी बहुत बड़ी है। जहाज डूबे तो उसे साथ ही डूबना पड़ता है।

मनुष्य भूलें न करें, उसकी सामर्थ्य का अनर्थकारी उपयोग न हो, इसके लिए परमात्मा द्वारा निर्मित व्यवस्था को ऋषि समझा रहे हैं। मनुष्य को अपना विकास गौरव अच्छा लगता है और दंडों से, क्लेश से, वह बचना चाहता है। विश्व व्यवस्था के लिए मनुष्य को विशेष क्षमताएँ उसने दी हैं, पर बीजरूप में ही दी हैं। जो उचित दिशा में चलते हैं, परमात्मा चेतना का अनुशासन पालते हैं, उनके अंदर बीजरूप क्षमताएँ विकसित होकर, गौरव एवं सुख संतोष का कारण बन जाती हैं। इस उपलब्धि के लिए मनुष्य आत्म नियंत्रित रहने के लिए जागरूक रहता है। इस धारा का अनुसरण न कर पाने पर दंड व्यवस्था लागू हो जाती है।

ऋषि कहते हैं कि कर्म और फल का स्वचालित चक्र है। ईश्वर ने विधान रच दिया है, दंड और पारितोषिक उसी विधान से स्वतः मिलते हैं। ईश्वर केवल व्यवस्था का विधायक है।

मनुष्यस्य तु व्यक्तित्वं महत्संनिहितं तु तत्।
वैभवं बीजरूपेऽस्मिन् सुविधा शक्त्यपेक्षया ॥ ४३ ॥
वैभवं वर्तते यत्तु व्यापके परमात्मनि।
आत्मारामाः प्रसुप्तं तु बोधयन्त्येनमन्ततः ॥ ४४ ॥
अनायासं प्राप्नुवन्ति सामर्थ्यान्नुच्चगानि च।
वैपरीत्ये चित्रगुप्तश्चरितं तु कुकर्मिणाम् ॥ ४५ ॥
लिखन् दंडव्यवस्थां च तत्कालं प्रकरोतिताम्।
स्वचालिता मता कर्मफलजा तु व्यवस्थितिः ॥ ४६ ॥
मनुष्यस्य तु सर्वाङ्गपूर्ण संगठने मुने।
अंतश्चेत्तोऽऽ आदत्ते चित्रगुप्तः स्वयं सदा ॥ ४७ ॥
एतदर्थं पृथक् बाह्या व्यवस्था परमात्मना।
विधीयते न कापीदं निश्चितं विद्धि मे मतम् ॥ ४८ ॥

टीका—मनुष्य का व्यक्तित्व महान है। प्रत्यक्ष सामर्थ्यों सुविधाओं की तुलना में उसके अंतराल के बीच रूप में वह समूचा वैभव सन्निहित है, जो सर्वव्यापी परमात्मा में पाया जाता है। इस प्रसुप्त को आत्मपरायण जगाते हैं और अनायास ही उच्चस्तरीय सामर्थ्य हस्तगत करते जाते हैं। इसके विपरीत कुकर्मियों का चित्रगुप्त न केवल सब कुछ अंकित करते जाते हैं वरन उसकी दंड-व्यवस्था भी हाथों-हाथ बनाता चलता है। हे तात् मनुष्य के सर्वाङ्गपूर्ण गठन में यह कर्मफल व्यवस्था पूर्णरूपेण स्वसंचालित है, जिसे चित्रगुप्त रूपी अंतःचेतना का एक अंश बिना किसी की सहायता के स्वयमेव संपन्न कर लेता है। इसके लिए परमात्मा को अलग से कोई बाहरी व्यवस्था नहीं करनी पड़ती यह मेरा निश्चित मत है ॥ ४३-

४८ ॥

और मियंता मात्र है। सृष्टि की क्रमबद्धता और समस्वरता को बनाए रखने भर का ध्यान रखता है। मनुष्य को जहाँ भले-बुरे कर्म करने की उसने स्वतंत्रता प्रदान की है वहाँ उसकी प्रतिक्रिया उत्पन्न करने और परिणाम प्रस्तुत करने की स्वसंचालित प्रक्रिया भी साथ जोड़ दी है। पुराणों में कहा गया है कि मनुष्य के कर्मों का लेखा-जोखा चित्रगुप्त रखता है और तदनुरूप कर्मफल के दंड पुरस्कार की व्यवस्था करता है। वस्तुतः यह चित्रगुप्त और कोई नहीं, मनुष्य का अपना अचेतन मन ही है जिसकी अत्यंत संवेदनशील कोशाओं के ऊपर उसके भले-बुरे कर्म टैपरिकार्डर के फीते अथवा फोटोग्राफी की प्लेट की तरह अंकित होते रहते हैं। चेतना के इस सूक्ष्म परतों में ऐसी व्यवस्था फिट है कि वह कुविचारों, कुकर्मों का प्रतिफल स्वसंचालित पद्धति से अपने आप ही प्रस्तुत करती रहती है। यहाँ ऋषि याज्ञवल्क्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कर्मफल को झुठलाना या उससे बच निकलना किसी के लिए भी संभव नहीं है। बाहर के न्यायाधीश को भ्रम में डाला जा सकता है, पर अंतस्तल में बैठे दृष्टा की निष्पक्ष न्याशीलता कभी भी विचलित नहीं हो सकती। स्वयं के पुण्य ही उत्कर्ष-उल्लास के तथा स्वयं के पाप ही शोक-संताप के नए-नए अवसर सामने लाते रहते हैं।

अन्य महापुरुषों का भी ऐसा ही मत है

महात्मा ईशू ने भी कहा, एज यू सो, सो यू रीप जैसा बोओगे वैसा काटोगे।

कुरान शरीफ में भी लिखा है, अपने किए का हिसाब सबको देना होता है।

शुभानामशुभानां च नेह नाशोऽस्ति कर्मणाम्।

प्राप्यप्राप्यानुपच्यन्ते क्षेत्रं क्षेत्रं यथा तथा।

क्षेत्रं कर्मजमाप्नोति शुभं वा यदि वाऽशुभम् ॥

—म० आश्वमे० प० अ० १८। १५

इस संसार में शुभ और अशुभ कर्मों का नाश नहीं होता, यथा खेत-खेत को प्राप्त कर पकता जाता है, फल लाता जाता है। इसी प्रकार कर्मों के पाक या फल का भी क्रम चलता रहता है। तदनुसार ही शुभ एवं अशुभ को मनुष्य कर्मानुसार प्राप्त किया करता है।

कुसंस्कारैर्व्यक्तिभिश्च संबद्धाभिर्महामुने।

परिस्थितिवशादेते वातावरण - कारणात् ॥ ४९ ॥

सामान्या ये नरास्ते तु प्रवाहमनुयान्त्यपि।

गतेषु प्रपतन्त्येते मेषा अंधा इव क्रमात् ॥ ५० ॥

विवेकी दूरदर्शी यो नीरं क्षीरं परामृशन्।

राजहंस इवादत्ते योग्यं परमहंसकः ॥ ५१ ॥

स्वकीयया प्रतिभया नैवान्धानुयान्ति ते।

५.६ प्रज्ञोपनिषद्

आभाति ध्येयमेकं यत्प्रायो विस्मर्यते नरैः ॥ ५२ ॥

टीका—हे ऋषिवर ! संचित कुसंस्कारों, सबद्ध व्यक्तियों वातावरण परिस्थितियों से घिरे होने के कारण हेय स्तर के मनुष्य प्रवाह में बहते और अंधी भेड़ों की तरह एक के पीछे एक खड्ड में गिरते चले जाते हैं। विवेकवान दूरदर्शी व्यक्ति उचित-अनुचित का नीर-क्षीर विवेक करते हैं और राजहंस परमहंसों की तरह उसी को ग्रहण करते हैं, जो योग्य है। अंधानुकरण करने से बच सकने योग्य निजी प्रतिभा होती है। हे तात् यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है जिसे प्रायः मनुष्य भूल जाता है ॥ ४९-५२ ॥

जो अगले श्लोक में स्पष्ट की गई है

ऋषि यह समझा रहे हैं कि मनुष्य भटक कैसे जाता है। मनुष्य में स्वतंत्र विवेक भी है और अनुकरण वृत्ति भी। कुसंस्कार आस-पास के व्यक्ति संगति और वातावरण के साथ वह अनुकरण वृत्ति के कारण चल पड़ता है। ऐसे लोगों को अंधी भेड़ों की संज्ञा दी गई है।

भेड़ों के आँखें होती हैं पर वे अनुकरण वृत्ति के कारण उनका उपयोग नहीं कर पातीं। आगे वाली भेड़ खड्ड में गिरे तो पीछे वाली भी उसी में जाएगी। मनुष्य भी विवेक से उचित-अनुचित का निर्णय कर सकता है, परंतु उसका उपयोग न करके कुसंस्कारों, कुसंग तथा कुभोग के पीछे अंधानुकरण वृत्ति से चल पड़ता है। दूरदर्शी विवेक राजहंस वृत्ति का उपयोग विकास करें तो इस विडंबना से बच सकते हैं।

जिन्हें मानव गरिमा का बोध होता है वे आत्मा और परमात्मा का परामर्श मानते हैं। स्वतंत्र चिंतन और साहसिक निर्धारण के धनी ऐसे व्यक्ति आदर्शवादी उत्कृष्टता का अवलंबन लेते हैं और सामान्य स्थिति में रहते हुए भी निजी प्रतिभा के बलबूते महामानव बनते तथा असाधारण उपलब्धियाँ प्राप्त करते हैं।

ईश्वरो मानवं चक्रे सहयोगिनमात्मनः।

स्वतंत्रः शासका नास्ति सृष्टेः स इति चिन्त्यताम् ॥ ५३ ॥

अर्धाधिकारमादातुं प्रभवत्येष मानवः।

स्वतंत्रश्चेतुमस्त्येष मानवो विहितो ध्रुवम् ॥ ५४ ॥

परं कर्मफलं देवः स्वाधीनं निरधारयत्।

अद्य श्वो वा फलं नूनं भोक्तव्यं तस्य मानवैः ॥ ५५ ॥

लब्धुं प्रतिफलं कश्चिद् विलंबो भवतीव सः।

बीजानां परिपाकाय कालः कश्चिदपेक्ष्यते ॥ ५६ ॥

अज्ञा विलंबमालम्ब्य ब्रजन्त्येते त्वधीरताम्।

कर्मणां विधिपाकेषु संश्रिता दूरदर्शिनः ॥ ५७ ॥

जायमानाः यथाकालं क्रियाणां याः प्रतिक्रियाः।

तस्या विधि - व्यवस्थाया न ते विचलिताः क्वचित् ॥ ५८ ॥

टीका—ईश्वर ने मनुष्य को अपना सहयोगी बनाया है, न

कि इस सृष्टि का स्वतंत्र शासक। सहयोगी के नाते उसे आधे का अधिकार है। चयन की स्वतंत्रता ईश्वर ने मनुष्य को दी है, तो कर्मफल निर्धारण का तंत्र अपने हाथ में रखा है। आज नहीं तो कल सभी को कर्मफल भुगतना पड़ता है। फसल पकने की तरह प्रतिफल पाने में विलंब तो लगता ही है। अनाड़ी इसी विलंब को देखकर अधीर हो उठते हैं, किंतु दूरदर्शी कर्म विधान की सुनिश्चितता पर पूर्ण विश्वास रखते हैं और क्रिया की प्रतिक्रिया समयानुकूल उत्पन्न होने की विधि-व्यवस्था से विचलित नहीं होते ॥ ५३-५८ ॥

स्रष्टा ने मनुष्य को जितना स्वावलंबी बनाया है उतना ही परावलंबी भी। एक स्वसंचालित यंत्र की तरह कर्म करने में स्वतंत्र होते हुए भी मनुष्य परिणाम भोगने की शृंखला में मजबूती के साथ जकड़ा हुआ है। हर किसी को ईश्वर ने यह पूरी आजादी दी है कि जो चाहे जिस तरह सोचे या करे। साथ ही विवेक का अनुदान देकर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि चिंतन का कर्तृत्व का स्तर ही उसके सामने दंड पुरस्कार के रूप में सामने आएगा। कर्म करने का अपनी इच्छाफल देने की ईश्वरीय सत्ता की इच्छा। दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध है। कर्म करके उसके फल से बचे रहें यह नहीं हो सकता।

यह संसार कर्मफल की सुनिश्चित विधि-व्यवस्था के आधार पर चल रहा है। जो जैसा बोता है वैसा काटता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होना एक सुनिश्चित तथ्य है। कर्म कभी बंध्य-नपुंसक नहीं होते, उनके प्रतिफल निश्चित रूप से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य जो भी शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसका फल अवश्य भोगना पड़ता है, इसमें संशय नहीं है। समय लग सकता है, आज का फल आज न मिलने से व्यक्ति भ्रम में पड़ सकता है और यह सोच सकता है कि बुरे कर्म दंड से बच गए या भला कर्मफल निष्फल चला गया, पर वस्तुतः ऐसा होता कभी नहीं। माली का बगीचा, किसान का खेत, विद्यार्थी का अध्ययन, परिपुष्टि आकांक्षा का व्यायाम, उद्योगी का व्यापार आरंभ से ही फल नहीं देने लगते हैं। उसमें समय लग जाता है तुरंत या कालांतर में इसका रहस्य अविज्ञात होने के कारण प्रत्यक्षवादी, बालबुद्धि, उतावले लोग अनास्थावान हो उठते हैं। पर दूरदर्शी इसे सृष्टि का विधान समझकर धैर्य रखते और उपयुक्त समय आने की प्रतीक्षा करते हैं।

ऋषिः पप्रच्छ जिज्ञासुर्भरद्वाजो विवेचनाम्।

इमां श्रुत्वा सपद्येष लोककल्याणम् संयुताम् ॥ ५९ ॥

भारद्वाज उवाच-

भगवन्नीश्वरस्यास्यां सृष्टौ सर्वो व्यवस्थितः।

क्रमो यतश्च सुस्पष्टः कारणं किं वरो नरः ॥ ६० ॥

विचारक्षमतायुक्तः क्रमं बोद्धुं भ्रमं व्रजेत् ।
विस्मृतिं व्यवहारे स आचरत्यपि सर्वदा ॥ ६१ ॥
विडंबनाया हेतुः को दूरीकर्तुं च तं पुनः ।
रहस्यं किं विचार्यैतद्दयालो दयया वद ॥ ६२ ॥

टीका—जिज्ञासु ऋषि भारद्वाज ने लोक कल्याण युक्त इस विवेचना को सुनकर तत्काल प्रश्न उठाया । भारद्वाज बोले, भगवन ! जब ईश्वर की इस सृष्टि में हर क्रम सुव्यवस्थित एवं सुस्पष्ट है, फिर क्या कारण है कि मनुष्य जैसा विचार क्षमता संपन्न प्राणी उस क्रम को समझने में भ्रमित होता और व्यवहार में भूल करता है । इस विडंबना का कारण और उसके निवारण का मर्म विचार कर कृपया स्पष्ट करें ॥ ५९-६२ ॥

परमात्मा ने संसार को एक निश्चित उद्देश्य रखकर बनाया है और प्रत्येक जीवधारी को उसकी पूर्ति के लिए किसी न किसी प्रकार का सहायक नियुक्त किया है । विश्व ब्रह्मांड के सभी घटक विशाल अंतरिक्ष के समस्त ग्रह-नक्षत्र, सूर्य, चंद्र, तारे, आकाश गंगाएँ सभी सुव्यवस्थित विधि-व्यवस्था के अंतर्गत परिभ्रमण करते हुए एक सुनिश्चित लक्ष्य की ओर गतिमान हैं । सारा प्रकृति चक्र, संपूर्ण संसार एक निश्चित व्यवस्था पर ठीक ठिकाने चल रहा है । अनियमितता, अस्तव्यस्तता, अव्यवस्था और अपने लक्ष्य से भटकाव इनमें कहीं भी नजर नहीं आता । भोगयोनिके माने जाने वाले मनुष्येतर प्राणियों को भी सृष्टि व्यवस्था का व्यतिक्रम करते नहीं देखा जाता । वे प्रकृति प्रेरणावश अपना जीवन चक्र पूरा करते, वंश बढ़ाते, मरते मिटते और उपजते रहते हैं ।

मनुष्य कर्मयोनि का प्राणी है । भोगयोनि के प्राणी तो अपने पूर्वकृत कर्मों का ही परिणाम या दंड भोगते हैं, परंतु स्रष्टा ने अपने अंशधर मनुष्य को अपने जीवन में कर्मों की स्वतंत्रता प्रदान की है । उसे बुद्धि, विद्या, बल और विवेक की अनेकानेक उच्चस्तरीय क्षमताएँ दी हैं । मनुष्य जीवन का भी अपना एक सुनिश्चित लक्ष्य है । मनुष्य शरीर नहीं आत्मा है । आत्मा अनेक योनियों में भ्रमण करती हुई मनुष्य जीवन में आती है । आत्मोत्कर्ष और लोकमंगल जैसे कुछ विशिष्ट उत्तरदायित्व सौंपकर उन्हें पूरा करने के लिए निश्चित अवधि का समय देकर उसे जीवनयात्रा पर भेजा जाता है, किंतु मनुष्य है यह सब जानते हुए भी भ्रमित होता है और महत्वहीन तथा निर्मूल्य सुख-साधनों के प्राप्त होते ही अपने आपको भूल बैठता है एवं अपनी विशिष्टताओं, क्षमताओं और दायित्वों की स्मृति खो बैठता है ।

ऋषि भारद्वाज यहाँ जिज्ञासा प्रकट करते हुए याज्ञवल्क्य जी से उन विसंगतियों-विडंबनाओं का कारण पूछते हैं जिनमें

उलझकर मनुष्य मात्र लौकिक कामनाओं तथा इंद्रिय भोगों तक ही सीमित रह जाता है, आत्मोत्थान की बात सोचता तक नहीं । इनका निवारण कैसे हो ?

याज्ञवल्क्य उवाच—

ऋषिवर्य ! जगत्सर्वं प्रकाशं तमसोरिदम् ।
विप्रतिषिद्धयोरेव तत्त्वयोर्निर्मितं मतम् ॥ ६३ ॥
उभयोः स्वं स्वमस्त्येव सामर्थ्यं तेन प्राणिनः ।
अनुकर्षत इत्थं च दूरदर्शी नराः सदा ॥ ६४ ॥
उचितानुचिते वीक्ष्योचितं केवलमर्जयेत् ।
नियंतो हेतुनानेन मानवे क्षमता अदात् ॥ ६५ ॥
स्वं भाग्यं च भविष्यच्च निश्चेतुं परिवर्तितुम् ।
उत्थानं देवशक्तिः सा पतनं दानवी तथा ॥ ६६ ॥
दानवस्य प्रलोभैर्यो मुच्यते देवसन्निधिम् ।
याति स विंदते श्रेयः सौभाग्यं चापि मानवः ॥ ६७ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य जी बोले हे ऋषिश्रेष्ठ यह संसार प्रकाश और अंधकार जैसे दो परस्पर विरोधी तत्वों से मिलकर बना है । दोनों की अपनी-अपनी सामर्थ्य है । प्रत्येक अपनी ओर खींचता है । मनुष्य की दूरदर्शिता इसी में है कि वह उचित और अनुचित से भरे-पूरे इस बाजार में से मात्र उचित को ही खोजें-खरीदें । इसी उद्देश्य से नियंता ने मनुष्य को अपने भाग्य और भविष्य को निर्धारित परिवर्तित करने की क्षमता प्रदान की है । उत्थान की शक्तियों को देव और पतन की शक्तियों को दानव कहते हैं । दानव के प्रलोभनों से जो बच सकता है वही देव का सान्निध्य सहयोग पाता है और श्रेय सौभाग्य का अधिकारी बनता है ॥ ६३-६७ ॥

ऋषि याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि इस सृष्टि की संरचना दो परस्पर विरोधी तत्वों से हुई है । सत् और तम् के जड़-चेतन के समन्वय से ही यह संसार बना है । रजोगुण तो इन दोनों का वैसा ही समन्वय है, जैसे रात्रि और दिन के समन्वय से बना संध्याकाल । यहाँ हर चीज के दो रूप हैं, बाहर कुछ भीतर कुछ । इसे ही भवसागर कहा गया है । इसमें सत् अर्थात् देवत्व की अभ्युदय कारक दिव्य शक्तियाँ तथा जड़ अर्थात् असुरता की पतनकारक दोनों ही शक्तियाँ विद्यमान हैं । यहाँ प्रकाश और अंधकार, श्रेय और प्रेय, स्वार्थ और परमार्थ के दो मार्ग हैं जो विपरीत दिशाओं में चलते हैं । इन्हें ही पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, प्रशंसा-निंदा, शांति-अशांति, बंधन और मोक्ष आदि नामों से जाना जाता है । दोनों की शक्ति प्रचंड है । प्रतिकूल प्रकृति के होने से दोनों परस्पर लड़ते भी रहते हैं । असुरत्व और देवत्व में निरंतर संघर्ष इसलिए होता रहता है कि जीवन संपदा पर अधिकार जमाने के लिए दोनों की ही प्रबल चेष्टा रहती है । देव पक्ष मनुष्य को अपनी तरह दिव्य जीवन जीने, ऊँचा उठने और अनुकरणीय आचरण अपनाने

५.८ प्रज्ञोपनिषद्

की सतत प्रकाश प्रेरणा देता रहता है, तो असुरता की पाशविक प्रवृत्तियाँ अपनी ओर आकृष्ट किए रहती हैं। असुरता तात्कालिक वासना और तृष्णा की तृप्ति चाहती है। इंद्रिय उपभोग की वासना लिप्सा में सतत उलझाए रखकर जीवन रस निचोड़ती रहती है और अंततः पतन के गर्त में धकेल देती है।

आसुरी और दैवी शक्तियों के संघर्ष में हमें किसका पक्षधर बनना है, इसका निर्णय स्वयं ही करना पड़ता है। विवेकवान्, दूरदर्शी, उज्ज्वल भविष्य को देखते हैं और असुरता के आकर्षक प्रलोभन से बचते हैं। आत्मा की पुकार तमसो मा ज्योतिर्गमय का अनुसरण करते हुए श्रेय मार्ग का अवलंबन लेते हैं। निश्चय ही वे बड़भागी सत्पुरुष महामानव, ऋषि, देवदूत बनकर पूर्णता के चरम लक्ष्य तक पहुँचते हैं।

मनुष्यान्तः स्थिता यास्ता आसुर्यः शक्तयो नरम्।

कुमार्गगामिनं कुर्वन्त्यादायैनं तथा स्थितौ॥ ६८॥

कारयन्त्यो दुराचारं पतने च पराभवे।

अंते नरकयोः कष्टपूर्णयोः प्रक्षिपन्ति च॥ ६९॥

अस्माच्च विपरीतं या दैवी प्रोक्ता तु प्रेरणा।

उत्कृष्टतां समादातुं सा तु योजयते नरम्॥ ७०॥

सद्विचारान् गृहीतुं च सन्मार्गे चलितुं तथा।

प्रेरयत्यथ ये गृह्णन्त्येतान्येते स साधना॥ ७१॥

देवत्वमधिगच्छन्तस्तेषां स्वर्गं प्रयांति च।

जीवन्मुक्ताश्च जीवन्ति दिव्यं श्रेयोऽन्विताः सदा॥ ७२॥

कतरो मानवैर्देवासुरयोरनुगम्यताम्।

स्वकीयं मानवस्येदं चयनं यत्र जीवति॥ ७३॥

एतच्चयनमेवांत उत्थानं पतनं तथा।

परिस्थितिवशात् कर्तुं प्रभवत्यञ्जसा ध्रुवम्॥ ७४॥

टीका—मनुष्य की अंतःस्थिति आसुरी शक्ति याँ उसे कुमार्ग पर चलने के लिए ललचाती हैं और वैसे ही वातावरण तक ले पहुँचती हैं, कुकर्म कराते हुए अंततः पतन-पराभव के कष्टदायी नरक में धकेल देती है। इसके विपरीत देवों की प्रेरणा देते हैं। जो उसे अपनाते हैं, उन्हें वे तदनुरूप साधन सहयोग की भी कमी नहीं रहने देते। देवत्व अपनाने वाले उन्हीं के स्वर्गलोक में जा पहुँचते हैं और जीवनमुक्त की तरह दिव्य जीवन जीते हैं और श्रेय-सौभाग्य पाते हैं। देव और असुर दोनों में से किसका अनुसरण किया जाए, यह मनुष्य का अपना चुनाव है, जिसमें उसको जीना है। यह चुनाव ही अंततः उत्थान-पतन की परिस्थितियों का सरंजाम खड़ा कर देता है॥ ६८-७४॥

मनुष्य की अंतरात्मा में देव और दैत्य दोनों पक्षों का निवास है। इन्हें दैवी एवं आसुरी प्रकृति भी कहते हैं। मनुष्य की वे सारी क्रियाएँ और प्रक्रियाएँ जो उसे अंधकार, ध्वंस

अथवा पतन की ओर ले जाती है, आसुरी वृत्तियाँ कहलाती हैं और जो क्रियाएँ-प्रक्रियाएँ, प्रकाश, सृजन और उत्थान की ओर प्रेरित करती हैं, वे दैवी वृत्तियाँ मानी गई हैं। दैवी शक्ति याँ मनुष्य को परिश्रम, पुरुषार्थ, त्याग, प्रसन्नता, उदारता, आस्था, आशा, उत्साह तथा मर्यादा आदि सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने उन्हें गुण, कर्म, स्वभाव का अंग बनाने, देवत्व की गरिमा को धारण करने को प्रेरित करती हैं। जबकि असुरता का पक्ष मनुष्य को आलस्य, प्रमाद, स्वार्थ, लिप्सा, निरुत्साह, निराशा, आवेश, उत्तेजना अथवा अदक्षता जैसे दोषों में लाद देता है और पतन-पराभव की ओर ले जाता है। असुर मायावी होते हैं। इंद्रिय सुखों का लालच देकर वह अपना जाल फेंकता है और अपने मायापाश में जीव को बाँध लेता है। उसके पास काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरता के वासना, तृष्णा, अहंता के और कितने ही सम्मोहक अस्त्र हैं, जिनसे वह मूर्च्छित करके मनुष्य को उस पाश में बाँध लेता है जिससे निकलने की इच्छा भी नहीं होती। उसी में पड़े रहने को जी चाहता है। संसार के अधिसंख्य प्राणी इसी स्थिति में पड़े-पड़े बिलबिलाते और बिलखते रहते हैं तथा नाना प्रकार के नारकीय त्रास भुगतते रहने को बाध्य होते हैं।

मनुष्य दैवी और आसुरी दोनों शक्तियों का समन्वित रूप है। वह बंधन और मुक्ति, स्वर्ग और नरक की ओर जाने वाले दोनों दिशाओं के मिलन बिंदु पर खड़ा है। साधन और सहयोग उपलब्ध कराने वाले देवता और दैत्य भी मिलन मार्ग पर आमने-सामने मौजूद हैं। मनुष्य इस बात के लिए सर्वथा स्वतंत्र है कि वह जिसे प्रिय समझे अपनी रुचि के अनुसार उसी की गोद में जा बैठे। दोनों में से किसी का भी चुनाव कर लें। वह चाहते तो श्रेय मार्ग पर चलते हुए मानवता की महानताओं को अपना कर देवत्व की उच्च श्रेणी तक पहुँचकर स्वर्गीय परिस्थितियों का रसास्वादन करता रह सकता है। इसके विपरीत अपनी इच्छानुसार प्रेय मार्ग पर चढ़कर अपने पद से च्युत हो सकता है। पशुता का वरण करते हुए अंततः असुरता की स्थिति में पहुँचकर नरक जैसी अशांत एवं क्षुब्ध मनोदशा के उद्वेगों में झुलसता रह सकता है।

दोषाणां दुर्गुणानां च वारणं सत्प्रवृत्तिजाः।

धर्तुं च संपदा दैवीः पौरुषं पात्रतोदयः॥ ७५॥

अध्यात्मसाधनारूपे चलिता बहवस्तु ये।

विधयः कर्मकांडाद्यास्तत्त्वं तत्रेदमस्फुटम्॥ ७६॥

सिद्धांताः प्रगतेरेते भौतिकस्य भवंति च।

साफल्यहेतवो येन आत्मोत्कर्षोऽधिगम्यते॥ ७७॥

रहस्यमेतद् यैर्ज्ञातं सत्यं जानन्ति ते नराः।

सत्यमार्गस्थिताः संति गजसाहस्रशक्तिकाः॥ ७८॥

लुठन्ति सिद्धयस्तेषां चरणेषु भवंति ते।

वर्चस्ववैभवाधीशा अनुकार्या नृणां स्तुता ॥ ७९ ॥

सहयोगिन ईशस्य भूमिकां कुर्वतां नराः ।

स्वयं तरंति तेऽन्याँश्च तारयन्त्यपि निश्चितम् ॥ ८० ॥

टीका—दोष-दुर्गुणों का निवारण और सत्प्रवृत्तियों की दैवी संपदा को धारण करने की पात्रता का अभिवर्द्धन ही परम पुरुषार्थ है। अध्यात्म साधना के रूप में प्रचलित अनेकानेक कर्मकांडों और विधि-विधानों के पीछे छिपा हुआ उद्देश्य एवं सार तत्व यही है। प्रगति के यही सिद्धांत भौतिक जीवन की सफलता के कारण बनते हैं और इन्हीं को अपनाने से आत्मोत्कर्ष का परम लक्ष्य प्राप्त होता है। जो इस रहस्य को समझते हैं, वे ही सत्य को जानते हैं। सही मार्ग को अपनाते और सत्य में रहने वाले हजार हाथियों के बल से सुसंपन्न बनते हैं। सिद्धियाँ उनके चरणों में लोटती हैं। इसी जीवन में वैभव और वर्चस्व के अधिष्ठाता बनकर अपना अनुकरणीय उदाहरण सर्वसाधारण के सामने प्रस्तुत करते हैं। ईश्वर के सहयोगी की भूमिका संपन्न करते हुए वे स्वयं तरते और दूसरों को तारते हैं ॥ ७५-८० ॥

ऋषि यहाँ कहते हैं कि जन्म-जन्मांतरों से संग्रहीत पशु प्रवृत्तियों के सघन कुसंस्कारों, क्षुद्र वासनाओं को निरस्त करना, कुत्साओं और कुंठाओं के नरक से निकालकर चिंतन चेतना को उत्कृष्ट और कर्तृत्व को आदर्श बनाने के लिए परिष्कृत दृष्टिकोण एवं विवेक सम्मत कार्यपद्धति का निर्धारण करना यही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है। ईश्वर स्मरण, पूजा, पाठ, जप, ध्यान, सत्संग, सेवा, तीर्थसेवन आदि उपासनात्मक क्रिया-कृत्यों के माध्यम से मनःस्थिति को दिव्य बनाया और उस आधार पर देव संस्कारों की स्थापना की जाती है। उच्चस्तरीय आस्थाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं की अंतःकरण में सघन स्थापना करने और निरंतर सत्चिंतन एवं श्रेष्ठ कर्मों के साथ अपने को बाँधे रहने वाले ही सुसंस्कारों की संपदा अर्जित कर पाते हैं। मानव जीवन की आधारशिला सत्य की नींव पर रखी गई है, उसका लक्ष्य सत्य की खोज करना है। इस यथार्थता को जानने वाले अपने जीवन में मन, वचन और कर्म में एकता रखते हैं तथा इसी जीवन में सत्यनारायण भगवान की समीपता पाते एवं स्वर्ग, मुक्ति, सिद्धि और समृद्धि के अधिकारी बनते हैं।

जिज्ञासवोऽत्र संदर्भे सारं चिन्तनजं त्विदम् ।

स्वयमेवास्ति भाग्यस्य विधाता स्वस्य मानवः ॥ ८१ ॥

यज्जीवाय प्रभुस्तस्य पातोत्थान द्वयोरपि ।

स्वातन्त्र्यं प्रददौ ज्ञानं कौशलं च परीक्षितम् ॥ ८२ ॥

उत्तीर्णास्तु परीक्षायां ये तेऽभ्युदयमार्गगाः ।

भवन्ति तैश्च प्राप्यन्ते दिव्योपहृतिभूतयः ॥ ८३ ॥

व्यतिकुर्वन्ति दैवं ये त्वनुशासनमेव हि ।

पतनस्य महागते ते पतन्ति नरा ध्रुवम् ।

टीका—हे जिज्ञासुओ! इस संदर्भ में चिंतन का सार-निष्कर्ष यही है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। जीव को अपने उत्थान और पतन की पूर्ण स्वतंत्रता देकर ईश्वर ने उसके विवेक और कौशल को परखा है। जो इस परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं, वे अभ्युदय के मार्ग पर अग्रसर होते हैं और दिव्य उपहारों की विभूतियाँ प्राप्त करते हैं। जो दैवी अनुशासन का व्यतिरेक करते हैं, वे पतन के गर्त में निश्चित रूप से गिरते हैं ॥ ८१-८४ ॥

यहाँ ऋषि प्रथम दिन के चार सत्र का सार-निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट करते हैं कि मानव जीवन पुरुषार्थवाद एवं कर्मवाद पर आधारित है। स्रष्टा किसी का भाग्य नहीं लिखता, क्योंकि वह समदर्शी और निष्पक्ष न्यायकारी है। अपने भाग्य के निर्माता हम स्वयं हैं। जिस प्रकार कल का जमाया हुआ दूध आज दही बन जाता है, उसी प्रकार कल का पुरुषार्थ आज भाग्य बनकर प्रस्तुत होता है। भाग्य और कुछ नहीं पुरुषार्थ की छाया मात्र है। आत्मा का सुनिश्चित विश्वास पुरुषार्थ के ऊपर है और वह उसी की प्रेरणा निरंतर प्रस्तुत करती रहती है। उसके भीतर अनंत शक्तियों का समुद्र लहरा रहा है। अपनी शक्तियों का सदुपयोग करने एवं आंतरिक तथा बाह्य जीवन में अनुशासन का परिपालन करने वाला हर मनुष्य सभी प्रकार की उन्नति, सफलता, विकास और प्रगति को प्राप्त कर सकता है, पुरुषार्थ में परिस्थितियों को बदल डालने की पूरी-पूरी सामर्थ्य विद्यमान है। जिस प्रकार हिमालय का वक्ष चीरकर निकलने वाली गंगा अपने प्रियतम समुद्र से मिलने का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए तीर की तरह बहती सनसनाती बढ़ती चली जाती है और उसका मार्ग रोकने वाले चट्टान चूर-चूर होते चले जाते हैं, उसी प्रकार पुरुषार्थी मनुष्य अपने लक्ष्य को अपनी तत्परता एवं प्रखरता के आधार पर प्राप्त कर सकता है। हर अवरोध को उसका रास्ता छोड़कर हटना पड़ता है।

भाग्य का दूसरा नाम कर्म भी है। जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही फल मिलता है। जैसा बोते हैं उसी तरह फसल काटने को मिलती है। वस्तुतः इस जगत का आधार ही कर्म पर अवलंबित है। गंभीरतापूर्वक अपनी कार्यपद्धति एवं विचारधारा में रहने वाली त्रुटियों को ढूँढ़ने और सुधारने के लिए तत्परतापूर्वक कटिबद्ध होने वालों का भाग्योदय होकर रहता है। वे भाग्यवान बनकर रहेंगे, यह एक सुनिश्चित विधान है। इसके विपरीत पुरुषार्थ रहित भाग्य भरोसे बैठे रहने वाले अकर्मण्य व्यक्ति अपने परलोक और पुनर्जन्म को अंधकारमय बनाकर आत्मा को असंतुष्ट और परमात्मा को अप्रसन्न रखते हैं तथा नारकीय जीवन जीने को विवश होते

५.१० प्रज्ञोपनिषद्

हैं।

प्रथमस्य दिनस्यास्या जिज्ञासायाः समाहितम्।

महत्त्वमहितायाः स ऋषिवर्यो यथाऽऽददे ॥ ८५ ॥

मनीषिणस्तदाकर्ण्य सर्वसंतोषमागताः ।

संदेहा निर्गता ज्ञानदृष्टिरुन्मेषमभ्यगात् ॥ ८६ ॥

इयत्यपि प्रसंगेऽस्मिन् बोद्धुं तेषां महात्मनां।

जिज्ञासात्वविशिष्टा सा परं मौनमुपागताः ॥ ८७ ॥

टीका—प्रथम दिन की अत्यंत महत्वपूर्ण जिज्ञासा का समाधान महर्षि याज्ञवल्क्य ने जिस प्रकार किया, उसे सुनकर सभी मनीषियों को बहुत संतोष हुआ। भ्रम-संदेह दूर हुए और ज्ञान-कपाट खुले। इतने पर भी इस प्रसंग में अधिक

जानने की जिज्ञासा बनी रही, तथापि मौन रहे ॥ ८५-८७ ॥

सायंकाले समायाते यथा नियममेव च ।

प्रथमस्य दिनस्येदं समाप्तं सत्रमुज्ज्वलम् ॥ ८८ ॥

जिज्ञासवस्तु ते कर्म सान्ध्यं कर्तुं च नैत्यिकम्।

परस्परं नमन्तोऽयुः कुटीरान् ब्रह्मचिन्तनाः ॥ ८९ ॥

टीका—सायंकाल निकट आने पर नियमानुसार प्रथम दिन का महत्वपूर्ण ज्ञान सत्र समाप्त हुआ। सभी जिज्ञासुगण सायंकाल का नित्य नियम संपन्न करने के लिए परस्पर वंदन-अभिवादन करके ब्रह्मचिंतन करते हुए अपने-अपने आश्रम कुटीरों की ओर चले गए ॥ ८८-८९ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शन - युगसाधना प्रकटीकरणयोः,
महर्षि याज्ञवल्क्य प्रतिपादिते कर्म व्यवस्था इति प्रकरणो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

आत्मपरिष्कार - लोकसाधना - प्रकरण

द्वितीये दिवसे तत्र नियते समये समे।

आगता नियतस्थाने मुनयस्ते मनीषिणः ॥ १ ॥

समवेतस्वरे मंत्रोच्चारं प्रारब्धमुत्तमम्।

ज्ञानसत्रं प्रश्नकर्ता कश्यपोऽभून्महामतिः ॥ २ ॥

स्वकीयां प्रश्न - जिज्ञासां समुपस्थापयँश्च सः।

याज्ञवल्क्यं ज्ञानसत्राधिष्ठातारं पप्रच्छ च ॥ ३ ॥

टीका—नियत समय पर, नियत स्थान पर लोकमंगल की कामना से परिपूरित सभी मुनि मनीषी एकत्रित हुए। सामूहिक मंत्रोच्चार के उपरान्त ज्ञान सत्र प्रारंभ हुआ। आज के प्रश्नकर्ता महामनीषी कश्यप थे। उन्होंने प्रथम जिज्ञासा उपस्थित करते हुए प्रस्तुत ज्ञान सत्र के अधिष्ठाता ऋषि श्रेष्ठ याज्ञवल्क्य से पूछा ॥ १-३ ॥

कश्यप उवाच-

भवता हे महाभाग! प्रथमे दिवसे नरः।

स्वस्य भाग्यस्य निर्माता कथितः स्वयमेव हि ॥ ४ ॥

तद् बोधयन् मनुष्यस्य पतनोत्थानयोरपि।

कर्मणः प्रक्रियां हेतुं भवान् बोधितवान् प्रभो ॥ ५ ॥

शुभाशुभानि कर्माणि क्रियंते कुत एव हि।

हानीर्जानन् कथं मर्त्यो दुष्कर्म निरतोऽस्ति स्तः ॥ ६ ॥

लाभान् सत्कर्मजान् जानन्नपि नैतानि कुर्वते।

कथं सदा शुभोपेक्षा चलत्यशुभसंरतिः ॥ ७ ॥

ऋषिवर्य महत्यास्तु सृष्टेः सञ्चालने नरः।

सहयोगी प्रभोः किं तत् प्रयासं याति नानुगम् ॥ ८ ॥

स्पष्टतां नीयतामेतद् रहस्यं येन मानवः।

भवेद्धन्यः प्रभोस्तस्य योजनानुसंचलन् ॥ ९ ॥

टीका—कश्यप बोले, हे महाभाग! गत् दिवस आपने मनुष्य को अपने भाग्य का निर्माता स्वयं बताया और उसके उत्थान-पतन का कारण कर्म प्रक्रिया को बताया। वह शुभ-अशुभ कर्म क्यों कर बन पड़ते हैं? हानियों को समझने-समझाने पर भी मनुष्य क्यों दुष्कर्मों में प्रवृत्त होता है? सत्कर्मों का लाभ जानते हुए भी उन्हें करने के लिए क्यों तत्पर नहीं होता? शुभ की अपेक्षा अशुभ की तत्परता का प्रवाह किस कारण चलता रहता है? हे ऋषि श्रेष्ठ इस महान सृष्टि के संचालन में मनुष्य ईश्वर का सहयोगी तो है, किंतु वह उसके अनुरूप प्रयास क्यों नहीं करता? इस रहस्य को स्पष्ट करें, ताकि मनुष्य ईश्वरीय योजना के अनुरूप चलकर अपना जीवन धन्य बना सके ॥ ४-९ ॥

यहाँ ऋषि ने तीन सूत्रों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

(१) अशुभ के प्रति आकर्षण।

(२) शुभ की उपेक्षा।

(३) मनुष्य जीवन के अनुरूप प्रयास का अभाव।

इनमें ऋषि स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य को प्राणी जगत में सर्वोपरि रखा गया है, बुद्धि और विवेक के रूप में अन्य श्रेष्ठ उपादान भी मिले हैं, जिनका अन्य जीवों में सर्वथा अभाव है, पर इतना सब होते हुए भी वह अपने क्रियाकलापों व प्रयास मनुष्य स्तर का नहीं रख पाता और क्षुद्र जीवों जैसी

गतिविधियाँ अपनाकर स्वयं को उस श्रेय-सौभाग्य से वंचित कर लेता है, जो उसे प्रदान किया गया है। वह चाहे तो शुभ कर्मों में संलग्न कर स्वयं को श्रेष्ठ बना सकता है और भगवान की इस विश्ववाटिका को सींचने-सँवारने में अपनी सहयोगी भूमिका निभाकर धन्य बन सकता है, पर बहुधा आज ऐसा देखा नहीं जाता। समाज का एक बड़ा वर्ग अशुभ कर्मों में ही प्रवृत्त पाया जाता है, यह सबसे बड़ी विडंबना है।

याज्ञवल्क्य उवाच—

तात! गूढस्तवैषोऽस्ति प्रश्नः श्रेयस्करस्तथा।
आकर्ण्यस्य समाधानमसंख्यानां नृणां स्वयम् ॥ १० ॥
उन्मेषो दिव्यदृष्ट्यास्तु भविष्यति न संशयः।
भ्रांतेश्च विरतास्ते स्युर्लोकद्वयरताः सदा ॥ ११ ॥
दिव्याभिः क्षमताभिस्तु संपन्नस्तात् मानवः।
सत्यमेतदिमे संति अंतःस्था बीजरूपाः ॥ १२ ॥
ऐश्वराणि तु कार्याणि यानि तेभ्य इमाः स्वयम्।
विकासमधिगच्छन्ति प्रयुज्यन्ते च नान्यथा ॥ १३ ॥
अपेक्षया विकासस्य तासां केवलमातुराः।
मानवा उपयोगाय त्रुटिरेषैव मौलिकी ॥ १४ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले हे तात! आपका प्रश्न बहुत ही गूढ़ और श्रेयस्कर है। इसका समाधान सुनकर असंख्याओं के ज्ञान कपाट खुलेंगे और वे भटकाव से विरत होकर अपने लोक-परलोक को समुन्नत बना सकेंगे। हे तात मनुष्य दिव्य क्षमता संपन्न है यह सत्य है, किंतु यह सत्य भी अपनी जगह अटल है कि ये क्षमताएँ अंतःक्षेत्र में बीजरूप में अवस्थित होती हैं। वे ईश्वरीय उद्देश्यों के लिए ही विकसित एवं प्रयुक्त हो सकती हैं, अन्यथा नहीं। मनुष्य उन्हें विकसित करने की अपेक्षा उनके उपयोग के लिए आतुर हो उठता है, यही उसकी मौलिक भूल है ॥ १०-१४ ॥

यहाँ ऋषि यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि मनुष्य में जो दिव्य क्षमताएँ हैं, वह ईश्वरीय अनुदान-उपहार नहीं, वरन् धरोहर स्वरूप हैं। स्पष्ट है, धरोहर चाहे जिस प्रकार की हो, उसके उपयोग के संबंध में व्यक्ति मनमानी नहीं कर सकता। इसमें उस व्यक्ति की सम्मति अभीष्ट होती है, जिसकी अमानत हैं। दिव्य क्षमताओं के संबंध में भी यही बात लागू होती है।

ईश्वर को उच्चस्तरीय निर्धारणाएँ, उच्चस्तरीय प्रयोजन प्रिय हैं। जो इस निमित्त क्षमताओं के विकास की बात सोचता और तत्परता दिखाता है, वही इन्हें उपलब्ध कर पाता है, किंतु यदि कोई स्वार्थ के वशीभूत हो ऐसा करना चाहे, तो यह संभव नहीं। यह विशुद्धतः पारमार्थिक है और उसी को यह अनुदान मिल पाता है, जो प्रथम अनुबंध के रूप में परमार्थ परायणता का व्रत ले पाता है।

अंतःकरणमेवास्ति जीवात्मनः स आश्रयः।
जन्मांतर - कुसंस्काराः क्षेत्रेऽस्मिन् सिञ्चितास्तु ये ॥ १५ ॥
हेयस्तरानुरूपाणां प्राणिनामिव तत्र याः।
आकांक्षास्ताः समुद्भूताः कुर्वन्त्येते भृशं सदा ॥ १६ ॥
अध्यात्मनस्तु क्षेत्रस्य आकांक्षैवास्ति मुख्यतः।
शक्तिस्तस्याः समुद्वेगा आश्रयन्ति तु यं स्तरम् ॥ १७ ॥
तेषामेव तु पूर्तौ तन्मनः संस्थानमाचरेत्।
नरस्य स्वामिभक्तस्य चेष्टा उच्चावचाः स्वयम् ॥ १८ ॥
मनसस्तु शरीरं हि सेवकस्तस्य चाज्ञया।
चेष्टते विवशं तात आकांक्षाया विचारणा ॥ १९ ॥
मता विचारणोत्पन्ना क्रिया ताः केंद्रिता अपि।
हेतवोऽन्तरिहोत्थान पतनाद्यवबोधकाः ॥ २० ॥

टीका—अंतःकरण ही जीवात्मा का आश्रय स्थल है। इस क्षेत्र में जन्म-जन्मांतरों के भरे कुसंस्कार हेय स्तर के प्राणियों जैसी आकांक्षाएँ उत्पन्न करते हैं। आकांक्षा ही अध्यात्म जगत की प्रमुख शक्ति है। उसकी उमंगें जिस स्तर की होती हैं, उसी की पूर्ति मनःसंस्थान को स्वामिभक्त सेवक की तरह ताना-बाना बुनना पड़ता है। मन का शरीर सेवक है। शरीर को मन का आदेश मानना पड़ता है। आकांक्षा से विचारणा और विचारणा से क्रिया बनती है। उत्थान-पतन के आधारभूत कारण अंतःकरण में ही केंद्रित रहते हैं ॥ १५-२० ॥

मनुष्य जीवन में आकांक्षा सर्वोपरि है। इसका चक्र जिस दायरे में घूमता है, चिंतन भी उसी के इर्द-गिर्द चलता है और उसी स्तर की क्रिया के लिए विवश करता है। चिंतन और क्रिया दोनों मिलकर व्यक्तित्व का निर्धारण करते हैं। अब यह व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह निम्न स्तर की इच्छा, आकांक्षा और क्रिया द्वारा स्वयं को कुमार्गगामी बनाए या उत्कृष्ट चिंतन और उदात्त क्रिया द्वारा सन्मार्ग पर चलने को प्रेरित करे। वस्तुतः उत्थान-पतन के मूल में व्यक्ति की इच्छा-आकांक्षा की ही प्रमुख भूमिका रहती है। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इस सूत्र में भी इसी का प्रतिपादन है।

नचिकेता को जब ब्रह्म की जिज्ञासा हुई, तो उसने उसे पा ही लिया। यमाचार्य के अनेकानेक प्रलोभनों के बाद भी उसकी ब्रह्म को जानने की इच्छा-आकांक्षा मिटी नहीं और अंततः जान ही लिया।

रत्नाकर डाकू को जब तक लूटपाट में मजा आता रहा, विचारणाएँ, आकांक्षाएँ क्षुद्रस्तरीय बनी रहीं, तब तक तो वह नर-पामर स्तर का दस्तु बना रहा, किंतु नारद के संपर्क में आकर ज्यों ही उसका चिंतन बदला तो क्रिया स्वतः बदल गई और वह रत्नाकर से महान ऋषि वाल्मीकि बन गया।

अंगुलिमाल, अजामिल, अंबपाली, गणिका आदि में भी जब उत्कृष्ट आदर्शवादिता की ललक उभरी, तो वे हेय से

५.१२ प्रज्ञोपनिषद्

महान बन गए।

ऋषि कहते हैं कि वह आकांक्षा की ही फलश्रुति है कि जब जिस ओर चल पड़ती है, उसे पाकर ही दम लेती है। प्रकारांतर से यही उसकी प्रगति-अवगति है।

सञ्चितैस्तु कुसंस्कारैर्मुक्ता नैव तु ये नराः।

दुरास्थाश्च दुराकांक्षाः पशुतुल्याः श्रयंति ते॥ २१॥

मानवस्य शरीरस्यावाप्तिर्नैव परं मता।

भाग्यवंतस्तु ते मर्त्यास्तरांत आश्रयंति ये॥ २२॥

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति चतुष्टयम्।

कथ्यते तात विद्वदिभरंतःकरणसंज्ञकम्॥ २३॥

टीका—संचित कुसंस्कारों से जो छुटकारा नहीं पाते, वे नर पशुओं जैसी हेयस्तर की आस्थाएँ, आकांक्षाएँ, आदतें अपने ऊपर लादे रहते हैं। मनुष्य शरीर पाना ही पर्याप्त नहीं, सौभाग्यशाली वे हैं, जो मनुष्य स्तर का अंतःकरण उपलब्ध कर सकें। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का चतुष्टय ही अंतःकरण कहलाता है॥ २१-२३॥

महात्मा गाँधी, संत विनोबा, विवेकानंद आदि अपने मानवी अंतःकरण के कारण ही सौभाग्यशाली कहलाए और महान बने। निकृष्ट स्तर का विल्वमंगल अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में ही मनुष्य स्तर का अंतःकरण उपलब्ध करने का सौभाग्य अर्जित कर सका।

इन पंक्तियों में ऋषि यह स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य शरीर प्राप्त करना ही महत्वपूर्ण नहीं है, महत्ता इस बात की है कि व्यक्ति अपने अंदर उच्चस्तरीय विचारणा, भावना, इच्छा, आकांक्षा, विकसित कर सका या नहीं। जो ऐसा कर पाते हैं, सही अर्थों में मनुष्य वही कहलाते हैं।

तथ्यमेतत् सुविदितं प्रवाहो वारिणः स्वयम्।

निम्नं धावति भूमेः सा गुरुत्वाकर्षणे रिता॥ २४॥

सुशक्तिः सेव, सर्वास्ताः पाशव्यः शक्तयः सदा।

सक्रियाः संति पातायाति मात्रं प्रेरयंति च॥ २५॥

आत्मानं तु ततो मोक्तुं पौरुषं भावनामयम्।

कर्तुं योग्या नरा एव उच्चां गच्छंति संस्थितिम्॥ २६॥

उच्चान् लोकांश्च गच्छंति सद्गतीः प्राप्नुवंति च।

आत्मिकीः सुविभूतीस्ताः भौतिकीः संपदा अपि॥ २७॥

उपलब्धुं नरा आत्मपरिष्काररतास्तु ये।

सफलास्ते भवन्त्येव पराक्रमसुसाधनाः॥ २८॥

टीका—यह एक सुविदित तथ्य है कि पानी का प्रवाह स्वभावतः नीचे की ओर होता है। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति की तरह पाशविक प्रवृत्तियाँ निरंतर सक्रिय रहती हैं और पतन के लिए आकर्षक दबाव डालती हैं। उससे मुक्त होने का भावनात्मक पुरुषार्थ कर सकने वाले ही ऊँचे उठते हैं। वे ही उच्च लोकों को गमन करते व सद्गति प्राप्त करते

हैं। आत्मिक विभूतियों और भौतिक संपदाओं को उपलब्ध करने में ऐसे आत्म परिष्काररत पराक्रमी ही सफल होते हैं। ऐसा पराक्रम ही साधना कहलाता है॥ २४-२८॥

प्रवाह की दो धाराएँ हैं एक अधोगामी और दूसरी ऊर्ध्वगामी। अधोगामी धारा स्वतः गतिशील होती है, इसमें किसी अतिरिक्त बल अथवा प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती, किंतु ऊर्ध्वगामी धारा को व्यक्तिगत प्रयत्न-पुरुषार्थ के माध्यम से प्रवाहमान बनाया जाता है, तभी उसकी निरंतरता बनी रहती है।

पतंग उड़ते समय उसे ऊपर बनाए रखने के लिए सदा डोरी का नियंत्रण उस पर बनाए रखना पड़ता है और समय-समय पर डोरी की खींचतान करनी पड़ती है। ज्योंहि डोरी हाथ से छूटती, व नियंत्रण हटता है, पतंग का प्रवाह निम्नगामी हो जाता है, और वह गिर पड़ती है। इसी प्रकार पानी का प्रवाह यदि मोड़ना हो, उसे नीचे से ऊपर की ओर ले जाना हो, तो इसके लिए बड़े स्तर का प्रयास अभीष्ट होता है और विद्युत मोटरों जैसे यंत्रों का सहारा लेना पड़ता है। इससे कम में वह प्रयोजन सधता नहीं है।

ऋषि यहाँ कहते हैं कि हमारी दुष्प्रवृत्तियाँ भी इसी स्तर की हैं। उसकी गति सदा नीचे की ओर होती है और गुरुत्वाकर्षण की तरह अधोगामी बनाने की अद्भुत शक्ति रखती है। इनसे उबरने और अपनी वृत्तियों को मोड़ने के लिए व्यक्ति को पतंगबाज एवं मोटर स्तर का प्रयत्न-पुरुषार्थ करना पड़ता है। इसी पराक्रम को साधना की संज्ञा दी गई है।

यों साधना आत्मिक शक्ति संपादन के लिए अपनाए गए क्रिया-कृत्यों को भी कहते हैं, पर ऋषि का कहना है कि व्यावहारिक जीवन में दुष्प्रवृत्तियों से मुक्त होना और अपने को परिष्कृत बनाना ही सही अर्थों में सच्ची साधना है। जो यह पराक्रम कर पाते हैं, वही पारलौकिक जीवन में स्वर्ग मुक्ति जैसा आनंद और इहलौकिक जीवन में तृप्ति, शांति जैसी आत्मिक व धन-ऐश्वर्य जैसी भौतिक संपदाओं का लाभ उठा पाते हैं।

संतुष्टस्तु बभूवासौ जिज्ञासुः कश्यपो मुनिः।

अन्यज्ज्ञातुं स औत्सुक्यात्प्राज्ञं संबोध्य चागदीत्॥ २९॥

कश्यप उवाच—

इदं ज्ञातमभूदेव! मानवः क्षमता निजाः।

उपयोक्तुं वर्धितुं च विधौ मुह्यन् पतत्यधः॥ ३०॥

किंतु जानंति ये त्वेतत् साधनां च पराक्रमम्।

कथं क्रियान्विते कुर्युः प्रक्रियां स्पष्टय प्रभो॥ ३१॥

टीका—जिज्ञासु कश्यप इस समाधान से संतुष्ट तो हुए, परंतु और भी अधिक जानने की उत्सुकतावश उन्होंने महाप्राज्ञ को संबोधित करते हुए अपना दूसरा प्रश्न प्रस्तुत किया।

कश्यप बोले, हे देव यह तो विदित हुआ कि मनुष्य अपनी क्षमताओं के सदुपयोग एवं उन्हें विकसित करने की आवश्यकता को न समझ पा सकने के कारण ही गिरता है, किंतु जो इसे समझ पाते हैं वे इस साधना पराक्रम को कैसे क्रियान्वित करें, इस प्रक्रिया को स्पष्ट करें ॥ २९-३१ ॥

महाप्राज्ञो याज्ञवल्क्य उवाचात्र विचारयन् ।
तात आत्मपरिष्कारे निरतो ना हि बुद्धिमान् ॥ ३२ ॥
साधनात्मकरूपा या प्रयत्नपरिशीलता ।
सैव तान् सार्वभौमाया उन्नेतेर्दिव्यदानकैः ॥ ३३ ॥
युतान् करोति ये चैतदवलंबन संयुताः ।
नरजन्मस्थ सौभाग्यं श्रेयस्तेऽथापि यान्त्यलम् ॥ ३४ ॥
अस्या आवश्यकतां ये न जानन्त्यपि संरताः ।
वासनेन्द्रिय लिप्साया प्रदर्शनकुदर्पके ॥ ३५ ॥
भ्रमन्ति मृगतृष्णायां बहुमूल्यैश्च हापिताः ।
सौभाग्यैरात्मसंस्कार उन्त्यै वर्त्म केवलम् ॥ ३६ ॥

टीका—महाप्राज्ञ याज्ञवल्क्य विचारकर बोले हे तात ! आत्मपरिष्कार में निरत मनुष्य ही सच्चे अर्थों में बुद्धिमान है । साधनात्मक प्रयत्नशीलता ही उन्हें सर्वतोमुखी प्रगति के दिव्य वरदानों से लादती है । जो इस अवलंबन को अपनाते हैं, वे मनुष्य जन्म के साथ जुड़े हुए श्रेय सौभाग्य का लाभ लेते हैं । जो इसकी आवश्यकता नहीं समझते, इंद्रियों की लिप्सा-वासनाओं की तृष्णा और प्रदर्शन की अहंता में उलझे रहते हैं, वे भ्रम जंजालों में भटकते और अपने बहुमूल्य सौभाग्य को हाथ से गँवा देते हैं । उत्थान का एक ही उपाय है आत्मपरिष्कार ॥ ३२-३६ ॥

महामुनि कश्यप की जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करते हुए याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि मनुष्य का उत्थान और विकास आत्मशोधन के साथ जुड़ा हुआ है । जो उत्थान की आवश्यकता समझते और तदनुरूप जीवनक्रम अपनाते हैं, इस दिशा में तत्परता दिखाते हैं, वे सर्वतोमुखी प्रगति करते और मनुष्य जीवन के श्रेय-सौभाग्यों से कृतकृत्य होते हैं, किंतु जो इसकी उपयोगिता-आवश्यकता नहीं समझते और वासना, तृष्णा, अहंता के क्षुद्र प्रयोजनों तक ही सीमित रहते हैं, वे मृग, तृष्णा की तरह भटकते हुए अपनी जीवनलीला समाप्त कर देते एवं मनुष्य जन्म के दिव्य वरदानों से सदा के लिए वंचित रह जाते हैं ।

तुलसीदास जब तक इंद्रियों और वासनाओं के कुचक्र में फँसे रहे, तब तक वे सामान्य से व्यक्ति बने रहे और सामान्य स्थिति में पड़े रहे, पर जैसे ही इन क्षुद्र लिप्साओं से उबरने की उनकी ललक जगी और इसके लिए साधनात्मक प्रयास आरंभ किया, तो वे रामायण के प्रणेता तुलसीदास बन गए ।

कालिदास की पत्नी के प्रति जब मोह भंग हुआ तो

संस्कृत के महान कवि बन गए । उनकी अमर कृतियाँ स्वतः उनकी विरुदावली गाती हैं ।

प्रकारांतर से यह आत्मपरिष्कार की ही फलश्रुतियाँ हैं, पर देखा जाता है कि समाज में बहुलता आज लोभ-लिप्सा के निकृष्ट उद्देश्यों में संलिप्त लोगों की है । ऋषि कहते हैं कि जो इनसे ऊपर उठने की बात सोचते हैं और तदनुरूप रीति-नीति अपनाते हैं, बुद्धिमान वस्तुतः वही हैं, उत्थान ऐसे ही लोगों का हो पाता है ।

कारणं पतनस्यैकं बहुसंख्यकसंमताः ।
नरास्तु पशुतुल्या ये तेषामंधानुसंसृतिः ॥ ३७ ॥
विज्ञा विवेकवंतो हि श्रयंतं दूरदर्शिताम् ।
स्वतंत्रं गततथ्यास्ते यांति सिद्धांतसंमतम् ॥ ३८ ॥
न भवंति परापेक्षाः सिद्धान्तानां क्रियान्वितौ ।
स्वं दृष्टिकोणं चिन्वन्तो रीतिनीति श्रयंति स्वाः ॥ ३९ ॥
आदर्शमार्गं चलितुं शक्ता एकाकिनस्तु ते ।
मनस्विनो वदन्त्येतास्तेजस्विन इहापि च ॥ ४० ॥
सार्थक्यं जीवनस्यैतेऽनुभवन्ति नरा मुने ।
निश्चितं च स्वतो धन्या वदान्या जगतीतले ॥ ४१ ॥

टीका—पतन का एक ही कारण है बहुमत वाले नर-पशुओं के चिंतन और व्यवहार का अंधानुकरण । विज्ञान, विवेकवान होते हैं, दूरदर्शिता अपनाते हैं, तथ्यों पर स्वतंत्र विचार करते और सैद्धांतिक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं । सिद्धांतों के क्रियान्वयन में वे परमुखापेक्षी नहीं होते । वे अपना दृष्टिकोण स्वयं बनाते और अपनी रीति-नीति स्वयं निर्धारित करते हैं । आदर्श मार्ग पर एकाकी चल सकने वाले साहसी लोग ही मनस्वी-तेजस्वी कहलाते हैं । जीवन की सार्थकता का अनुभव निश्चित रूप से इसी स्तर के लोगों को होता है । हे मुने यही लोग पृथ्वी पर धन्य हैं ॥ ३७-४१ ॥

यहाँ नरपशु स्तर के व्यक्ति और विवेकशील के मध्य का अंतर स्पष्ट किया जा रहा है । नरपशुओं की तुलना भेड़ों से की गई है । कहा जाता है कि भेड़ों की चाल अंधी होती है । पूरा भेड़-समुदाय उसी का अनुगमन करने लगता है, भले ही अग्रिम भेड़ गड्डे में गिर रही हो, इसकी उन्हें कोई परवाह नहीं होती और सभी उसके साथ-साथ गड्डे में गिर पड़ती हैं । अंधीचाल-अंधानुकरण इसे ही कहा गया है ।

नरपशु इसी स्तर के होते हैं । वे अपना स्वतंत्र चिंतन व विवेक का प्रयोग नहीं करते और प्रवाह में बहते हैं । हवा जिस दिशा में बहती है, उसी में सम्मिलित हो जाते हैं, धारा को चीरकर प्रवाह बदलने का साहस उनमें नहीं होता, फलतः पतन-पराभव के गर्त में जा गिरते हैं ।

आज समाज में ऐसे ही लोगों का बाहुल्य है । विभिन्न प्रकार की प्रथा-परंपराएँ अवांछनीयताएँ, मूढ़-मान्यताएँ जिनकी

५.१४ प्रज्ञोपनिषद्

कि आज की परिस्थितियों में कोई औचित्य नहीं, ऐसे ही नरपशुओं के कारण जी रही हैं।

जबकि विवेकशीलों को दूरदर्शी कहा गया है। दूरगामी परिणतियों को ध्यान में रखकर वे अपनी रीति-नीति बनाते हैं। तथ्यों पर उनका स्वतंत्र चिंतन और निष्कर्ष होता है। उनकी अपनी कसौटी पर खरा उतरने के बाद ही वे किसी तथ्य पर विचार करते और उसे क्रियान्वित करने की बात सोचते हैं तथा समय आने पर प्रवाह को चीरकर मछली की तरह आगे बढ़ने की भी सामर्थ्य रखते हैं।

याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि ऐसे ही लोग अपना मनुष्य जीवन सार्थक और धन्य बना पाते हैं।

याज्ञवल्क्य उवाच—

तात ! आत्मपरिष्कारश्चतुर्विध इहोदितः।

समीक्षा संस्कृतिश्चास्य विकासो निर्मितस्तथा ॥ ४२ ॥

मनुष्यस्तरतो हेया मान्यताः प्रकृतीस्तथा।

दुष्प्रवृत्तीश्च विज्ञाय समीक्षक इव स्वयम् ॥ ४३ ॥

हानीस्तासां च विज्ञाय तासां निष्कासनस्य च।

अनिवार्यानुभूतिस्तु प्रोक्त मात्मसमीक्षणम् ॥ ४४ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य ने कहा है तात ! आत्म परिष्कार के चार उपाय हैं आत्म समीक्षा, आत्म सुधार, आत्म निर्माण और आत्म विकास। मनुष्य स्तर से गए बीते स्तर की मान्यताओं और आदतों को अपने व्यक्तित्व के स्तर की दुष्प्रवृत्तियों को कटु समीक्षक की तरह ढूँढ़ निकालना, उनकी हानियों को समझना तथा उनके निष्कासन की आवश्यकता अनुभव करना ही आत्म समीक्षा है ॥ ४२-४४ ॥

विभिन्न योनियों से गुजरता हुआ जीव मनुष्य जन्म प्राप्त करता है। विकास की इस लंबी यात्रा के दौरान वह निम्न योनियों के निम्न संस्कारों को पूरी तरह नहीं छोड़ पाता और उनके कुछ संस्कार अंतःकरण में जमे रह जाते हैं। मनुष्य जन्म में कषाय-कल्मषों के रूप में विद्यमान इन हेय संस्कारों को हटाना आवश्यक होता है, अन्यथा इस योनि की अपनी गौरव गरिमा घटती है। आत्मशोधन की इसी प्रक्रिया को आत्म परिष्कार के नाम से पुकारा गया है। इसके लिए मनुष्य का स्वयं का प्रयत्न-पुरुषार्थ अभीष्ट होता है। जो इस प्रक्रिया को संपन्न करने का पराक्रम दिखा पाते हैं, वह महामानव, देवमानव स्तर के ऋषि तुल्य बन जाते हैं, पर जो ऐसा नहीं कर पाते, वे क्षुद्र स्तर में पड़े-पड़े ही अपना जीवन गुजार देते हैं।

आत्मशोधन की इसी प्रक्रिया को समझाते हुए ऋषि यहाँ इसके चार आवश्यक सोपानों का वर्णन करते हैं, जिसका प्रथम चरण आत्मसमीक्षा है। आत्मसमीक्षा अर्थात् मनुष्य जन्म की गौरव-गरिमा और उद्देश्य को समझाते हुए अपने अंदर

विद्यमान हेय स्तर की इच्छाओं-आकांक्षाओं, आदतों, मान्यताओं को खोज निकालना, इनके दुष्परिणामों को समझना और इनके निष्कासन की बात सोचना।

पर विडंबना यह है कि समाज में आज लोग इस आवश्यकता को अनुभव नहीं करते, फलतः इस संदर्भ में उनसे किसी प्रकार का प्रयास भी करते नहीं बन पड़ता।

स्वस्मिन्वांछनीयं यद् गरिम्माः प्रतिकूलगम्।

निकृष्ट प्राणियोग्यं यत्तस्यदूरापसारणम् ॥ ४५ ॥

तथा नरगरिम्माश्चानुरूपं दृष्टिकोणकम्।

स्वीकर्तुं योजनारंभोऽन्वितिश्चास्यात्मसंस्कृतिः ॥ ४६ ॥

आत्मन आत्मनेत्यर्थं संघर्षः कर्तुमिष्यते।

चर्चितः स तपश्चर्या - मनोनिग्रहसंयमैः ॥ ४७ ॥

अस्मिन्नेव शुभे मार्गे ये चलन्ति तु मानवाः।

आत्मसंस्कारवन्तस्ते जगत्कुर्युः सुसंस्कृतम् ॥ ४८ ॥

टीका—अपने में जो अवांछनीय है मानव गरिमा के प्रतिकूल तथा निकृष्ट योनि वाले प्राणियों के योग्य है उसे हटाने तथा मानवी गरिमा के अनुरूप दृष्टिकोण अपनाने की योजना बनाना उसे कार्यान्वित करना आत्मसुधार है। इसके लिए अपने आपके साथ कठोर संघर्ष करना पड़ता है। इसी पराक्रम को मनोविग्रह, संयम, साधना तथा तपश्चर्या के नाम से जाना जाता है। इसी मार्ग पर चलने वाले आत्मसुधार कर पाते हैं और जगत को भी सुधार देते हैं ॥ ४५-४८ ॥

आत्म परिष्कार का दूसरा चरण ऋषि ने आत्मसुधार के रूप में बताया है। इसमें जीवन की ऐसी रीति-नीति निर्धारित और क्रियान्वित करनी पड़ती है, जिससे अपने अंदर की अवांछनीयताओं, अनुपयुक्तताओं, दुष्प्रवृत्तियों हेय स्तर की इच्छाओं-आकांक्षाओं को कठोरतापूर्वक निष्कासित कर स्वयं को सुवर्ण की भाँति खरा बनाया और मानवी गरिमा के अनुकूल जीवनचर्या अपनाया जा सके।

आत्मशोधन प्रक्रिया का यह सबसे कठिन चरण है। इसमें पहाड़ को छेड़ने वाली दीमक जैसा धैर्य और संकल्प बल का परिचय देना व प्रतिकूल प्रवृत्तियों से कठोर संघर्ष कर उन्हें परास्त करना पड़ता है। इससे कम में वह पुरुषार्थ नहीं बन पड़ता, जिससे आत्मसुधार का प्रयोजन सध सके। प्रकारांतर से यही पुरुषार्थ संयम साधना, मनोनिग्रह और तपश्चर्या के नाम से जाना जाता है। जो इस प्रक्रिया का अवलंबन लेते हैं, वे निश्चित रूप से अपना और संसार का सुधार करते हैं।

नवीनस्तु शुभारंभ, आत्मनिर्मितिरुच्यते।

यासां तु सत्प्रवृत्तीनामभ्यासोऽभून्न जीवने ॥ ४९ ॥

जीवनस्य तु चर्यायां तासां नव्यतयान्वितिः।

नरस्य सृजनात्मिक्याः प्रवृत्तेस्तत्प्रमाणकम् ॥ ५० ॥

आत्मनिर्माणमेवास्ति भाग्यनिर्माणमुज्ज्वलम् ।
इत्थं यत्नरता विश्वभविष्यद् भावयन्त्यलम् ॥ ५१ ॥
अवाञ्छनीयतोच्छेदो वाञ्छितस्य च संस्थितिः ।
पूरकौ तौ मतौ नूनं विद्वद्भिस्तु परस्परम् ॥ ५२ ॥
अनुपयुक्तसंस्कार उपयुक्तप्रतिष्ठितिः ।
मिलित्वा कायकल्पस्य रूपे दृष्टिपथं ब्रजेत् ॥ ५३ ॥
समर्था य इदं कर्तुं कृतकृत्या भवन्ति ते ।
भाग्यवन्तश्च कथ्यन्ते मोदन्त उभयत्र च ॥ ५४ ॥

टीका—आत्मनिर्माण नया शुभारंभ है। जिन सत्प्रवृत्तियों का अभी अभ्यास नहीं हो पाया है, उनको नए सिरे से जीवनचर्या में समावेश करने का कार्य मनुष्य की सृजनात्मक विशेषता का प्रमाण है। आत्मनिर्माण का नाम ही भाग्यनिर्माण है। ऐसे प्रयत्नरत ही विश्व के उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकने में समर्थ होते हैं। अवाञ्छनीयता का निष्कासन और वाञ्छनीयता का संस्थापन परस्पर पूरक हैं ऐसा विद्वानों का मत है। अनुपयुक्त का सुधार और उपयुक्त का प्रतिष्ठान मिलाकर ही कायकल्प के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। जो यह कर सकते हैं, वे ही कृतकृत्य होते हैं और इहलोक तथा परलोक दोनों में सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ ४९-५४ ॥

निर्माण स्वयं में एक कला है। यह चाहे आत्मिक क्षेत्र का हो अथवा भौतिक क्षेत्र का, इसमें कुशल कारीगरी का परिचय देना पड़ता है, संयम व धैर्य अपनाना पड़ता है, तभी समग्र सुंदरता की बात बनती है। मूर्तिकार यदि मूर्तियाँ बनाने में जल्दबाजी करें, तुरंत-फुर्त में वह उन्हें गढ़ना चाहे तो, वह मात्र खिलवाड़ बनकर रह जाएगा। उसका वह मूल्यांकन नहीं हो पाएगा, जो तत्परतापूर्वक बनाई गई मूर्ति का हो। इसके लिए उस स्तर का परिश्रम आवश्यक है।

आत्मनिर्माण भी ऐसी ही प्रक्रिया है। इसमें नई सत्प्रवृत्तियों का जीवन में समावेश करना पड़ता है धीरे-धीरे उन्हें व्यवहार व आचरण में उतारना पड़ता है। इस प्रकार अनगढ़ व्यक्तित्व को सुगढ़ साँचे में ढालने का कार्य प्रारंभ होता है। फिर लगातार प्रयास के द्वारा उसे तरासा और आकर्षक बनाया जाता है। तब कहीं जाकर व्यक्तित्व की एक ऐसी अभिनव व उत्कृष्ट संरचना खड़ी हो पाती है, जिस पर गर्व किया जा सके। इस स्तर से कम में न तो मूर्ति बनाने वाले की महिमा है और न व्यक्तित्व की गरिमा। संगतरास की महिमा विग्रह की सुगढ़ता, उसकी जीवंतता में होती है, जबकि व्यक्तित्व की गरिमा उसकी उत्कृष्टता व श्रेष्ठता में है। इसी का अभ्यास प्रयास इस प्रक्रिया के दौरान किया जाता है। प्रकारांतर से यही व्यक्तित्व निर्माण है। आत्मनिर्माण इसी को कहते हैं।

आत्मनस्तु विकासः स कथित आत्मविस्तारः ।

महाव्यक्तित्व संपन्ना वसुधैव कुटुंबकम् ॥ ५५ ॥

सिद्धांतं जीवने नूनमन्वयन्ति दिने दिने ।
विभजन्तस्तु दुःखानि सुखानि वंटयन्ति ते ॥ ५६ ॥
स्वीया एव समे तेषां यदात्मत्वं विवर्धते ।
उदारसहकारित्वं विकासमधिगच्छति ॥ ५७ ॥
संकीर्णस्वार्थ - संत्यागो भवबंधन - मोचनम् ।
चिंतनस्य प्रयासस्य सत्स्थितिर्मुक्तिरुच्यते ॥ ५८ ॥
आदर्शापि - व्यक्तित्वा ईश्वरैक - परायणाः ।
कथ्यन्ते लघ्वहं भूमि दत्त्वा ते परमात्मताम् ॥ ५९ ॥
यांति आत्मन उच्चां तां पदवीं जीवनस्य च ।
लक्ष्यमेतदभीष्टं च परमात्मन एव तु ॥ ६० ॥
स्तरमेनं तु यं यांति पूर्णतां प्राप्नुवन्ति ते ।
मनःस्थितिर्गतिश्चैव येषां चापि गतेः स्तरम् ॥ ६१ ॥
सच्चिदानंदसान्निध्यं परब्रह्मण एव ते ।
आप्नुवन्ति सदा दिव्यं दर्शनं कुर्वन्ते प्रभो ॥ ६२ ॥
दैवानिर्वचनीयस्य संतोषस्य सदैव तु ।
उल्लासस्य च कुर्वन्ति तेऽनुभूतिं नरर्षभ ! ॥ ६३ ॥

टीका—आत्मविकास का अर्थ है आत्मविस्तार। महान व्यक्तित्व वसुधैव कुटुंबकम् का सिद्धांत व्यावहारिक जीवन में क्रियान्वित करते हैं। वे दूसरों का दुःख बँटाते और अपना सुख बँटाते हैं। उनके लिए सभी अपने होते हैं। आत्मीयता बढ़ेगी तो उदार सहकारिता भी विकसित होगी ही। संकीर्ण स्वार्थपरता से छुटकारा पाना ही भवबंधनों से छूटना है। चिंतन और प्रयास का सदुद्देश्यों में लग जाना ही मुक्ति है। आदर्शों के लिए समर्पित व्यक्ति ही ईश्वरपरायण कहलाते हैं। क्षुद्र अहंता को विराट् में समर्पण करने वाले ही आत्मा की सर्वोच्च पदवी परमात्मा को प्राप्त करते हैं। यही जीवन का लक्ष्य और परमेश्वर को अभीष्ट है। पूर्णता इसी स्तर पर पहुँचने वाले को प्राप्त होती है। जिनने अपनी मनःस्थिति और गतिविधि इस स्तर की बना ली, उन्हें निरंतर सच्चिदानंद परब्रह्म की निकटता का दिव्य-दर्शन होता है और देवताओं के समान अनिर्वचनीय संतोष-उल्लास का सतत अनुभव होता रहता है ॥ ५५-६३ ॥

ऋषि यहाँ आत्मविकास के चार सूत्र बताते हैं—

- (१) संकीर्ण स्वार्थपरता से छुटकारा पाना।
- (२) चिंतन-प्रयास को सत्प्रयोजनों में लगाना।
- (३) आदर्शों के प्रति व्यक्ति का समर्पण।
- (४) क्षुद्र अहंता का विराट् में समर्पण।

आत्मविकास अर्थात् आत्मविस्तार के प्रारंभिक चरण के रूप में व्यक्ति को अपनी संकीर्णताओं से ऊपर उठना पड़ता है, स्वजन-संबंधियों छोटे दायरे से निकलकर बाहर आना पड़ता है, अपने लाभ और भलाई के बारे में न सोचकर सबसे पहले समाज के बारे में सोचना और यह निर्धारित

५.१६ प्रज्ञोपनिषद्

करना पड़ता है कि जो कार्य किया जा रहा है, उससे समाज को क्या और कितना लाभ है, इसी में इस प्रथम शर्त की पूर्णता है। प्रकारांतर से इसमें अपने संकीर्ण स्वार्थ को उच्चस्तरीय स्वार्थ की दिशा में मोड़ना और दृष्टिकोण को इतना व्यापक बनाना पड़ता है कि व्यक्ति विश्व को अपने ही परिवार के रूप में स्वीकार कर सके। इतना बन पड़ने के बाद इस विश्व-परिवार को समुन्नत बनाने की दिशा में कदम बढ़ाने पड़ते हैं। चिंतन और प्रयास को ऐसे सत्प्रयोजनों में नियोजित करना पड़ता है, जिससे सिरों को उठाने, पिछड़ों को बढ़ाने, दुखियारों का दुःख बाँटने और सुख बाँटने, निर्धनों की सहायता करने जैसे सदुद्देश्य सध सकें। जीवनमुक्ति इसे ही कहा गया है।

स्वर्गमुक्ति की पौराणिक मान्यता तो परलोक संबंधी है। इसका मिलना-न-मिलना मरणोत्तर जीवन की बात है। लौकिक जीवन में मनुष्य उसका सुखोपभोग कहाँ कर पाता है? पर ऋषि कहते हैं कि जो स्वयं को ऐसे सत्प्रयोजनों में नियोजित कर लेता है, वह हाथों-हाथ इसी जीवन में स्वर्ग मुक्ति का आनंद लाभ लेता है। सीमित-संकीर्ण परिधि में पड़ा रहना ही भव-बंधन कहा गया है। इससे बाहर निकलना ही व्यामोहों से छूटना और भवबंधनों से मुक्ति है।

पर आज बहुधा देखा यह जाता है कि बहुसंख्य लोग कूपमंडूक की तरह अपनी ही दुनिया में खोए रहते हैं। समय और संसार को उनकी कितनी आवश्यकता है, इसकी तनिक भी परवाह किए बिना अपने निरंकुश कार्यप्रणाली में संलग्न रहकर अपने ही प्रवाह में प्रवाहमान होते हैं, उसी गति में बहते रहते हैं, भले ही उससे देश और समाज को कितनी ही हानि क्यों न हो, किंतु वे अपना लाभ लेने से चूकते नहीं। सत्य प्रयोजन और उत्कृष्ट चिंतन अपनाने की बात तो दूर रही, वे स्वयं को इसके आस-पास भी नहीं महसूस कर पाते।

कश्यप उवाच-

अंतःक्षेत्र - परिष्कारं चतुश्चरण - लक्षणम् ।

व्याख्याय भवता नूनं वयं सर्वेऽनुकंपिताः ॥ ६४ ॥

कृपयेदं भवान् ब्रूतां यन्नेषु कथं त्विमान् ।

सिद्धांतान् हि फलीभूतान् कर्तुं सा क्षमतोदयेत् ॥ ६५ ॥

बहिरंगान्तरंगे तेऽप्यभ्यास प्रक्रिये तु ये ।

ताभ्यामिमांश्चगृह्णतः कथं सिद्धीरवाप्नुयुः ॥ ६६ ॥

टीका—कश्यप बोले हे प्रभु आपने अंतःक्षेत्र के परिष्कार के चारों चरणों को स्पष्ट करके हम सभी पर बड़ा अनुग्रह किया है। अब कृपा करके यह और बताएँ कि मनुष्य में इन सिद्धांतों का फलीभूत करने की क्षमता कैसे विकसित हो? अंतरंग एवं बहिरंग अभ्यास प्रक्रिया द्वारा उन्हें आत्मसात्

करते हुए साधक सिद्धियाँ कैसे प्राप्त करें? ॥ ६४-६६ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच-

तात प्रश्नस्तवैषोऽस्ति विचार - परिशीलितः ।

तथ्यान्वेषि मतिद्योत्यः सावधानं ततः शृणु ॥ ६७ ॥

उपायौ द्वौ मतावात्म समीक्षण - कृते तथा ।

आत्मसंस्कृति-निर्माण-विकासानां कृतेऽपि च ॥ ६८ ॥

एकांतचिन्तनं चापि मननं प्रथमस्तथा ।

स्वाध्यायः स च सत्संगो बाह्य साधनजौ मुने ॥ ६९ ॥

चिंतने वर्तमानस्य भूतस्य पर्यवेक्षणम् ।

मनने तु विकासाग्रयोजना निर्मितस्तु य ॥ ७० ॥

ततो निर्धारणोन्मेषः साहसोत्साहजो भवेत् ।

स्वाध्यायो जायते तस्य साहित्यस्य सतो मुने ॥ ७१ ॥

आत्मनः स्तरमुनेतुमर्हमन्तः समाहितुम् ।

उत्कृष्ट चिंतना ये तु सादर्शचरितास्तथा ॥ ७२ ॥

परमार्थपरास्तेषां नृणां संगः सुसंगतिः ।

तुलितः पारदेनैव मणिना निर्मलेन तु ॥ ७३ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले हे तात यह प्रश्न आपकी विचारशीलता एवं तथ्यान्वेषी बुद्धि का परिचायक है। आप सभी इस विवेचन को ध्यानपूर्वक सुनें।

आत्मसमीक्षा, आत्मसुधार, आत्मनिर्माण और आत्मविकास की चार सीढ़ियों को पार करने के लिए दो उपाय हैं, एकांत विचारणा के रूप में चिंतन और मनन। दूसरा बाह्य साधनों के सहारे उपलब्ध होने वाला स्वाध्याय-सत्संग। चिंतन में भूत और वर्तमान का पर्यवेक्षण किया जाता है। मनन में विकासोन्मुख योजना बनाने से लेकर निर्धारणों को कार्यान्वित करने की उत्साह और साहस से भरी-पूरी तैयारी की जाती है। स्वाध्याय उस साहित्य का होता है जो आत्मिक स्तर ऊँचा उठाने और अंतःक्षेत्र की गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ हो सके। सत्संग उत्कृष्ट चिंतन और आदर्श चरित्र वाले परमार्थ परायण महामानवों के सान्निध्य को कहते हैं। उसे पारसमणि की उपमा दी गई है ॥ ६७-७३ ॥

फैक्ट्री में कर्मचारियों के ऊपर एक निरीक्षक होता है। समय-समय पर वह उनके द्वारा किए कार्यों का निरीक्षण-पर्यवेक्षण करता रहता है और जो गलतियाँ देखता है, उसे सुधारने का परामर्श देता है। इससे दोनों को लाभ होता है कर्मचारियों की गुणवत्ता बढ़ती, भूल घटती है और फैक्ट्री को भी आर्थिक घाटा नहीं उठाना पड़ता। यह निरीक्षण का परिणाम हुआ।

आत्मक्षेत्र में व्यक्तिगत जीवन में भी ऐसी ही रीति-नीति अपनानी पड़ती है। मनुष्य से गलतियाँ होना स्वाभाविक है। जाने-अनजाने उससे छोटे-बड़े स्तर की गलतियाँ होती रहती हैं। समय रहते यदि उनका सुधार परिष्कार नहीं किया गया,

तो वह जीवन का एक अंग बन जाती है, आदत में सम्मिलित हो जाती है और उनका निष्कासन कठिन हो जाता है, इसलिए समय-समय पर आत्मनिरीक्षण की आवश्यकता पड़ती है, जिसमें यह देखा जाता है कि जीवन-प्रवाह सही दिशा में बह रहा है या नहीं। कोई ऐसी गलती या त्रुटि तो नहीं हो रही है, जो उसे दिग्भ्रान्त करने का सरंजाम खड़ी कर दे भूत और वर्तमान संबंधी इसका लेखा-जोखा तैयार करना पड़ता है। यही चिंतन है। आत्मचिंतन के रूप में इसी का सफल संपादन किया जाता है।

फिर मनन की बारी आती है। आत्मचिंतन के दौरान ढूँढ़ी गई भूलों को सुधारने का प्रयास इसमें आरंभ किया जाता है और साथ-साथ ऐसी गतिविधियाँ अपनानी और योजनाएँ बनानी पड़ती हैं, जो जीवन को समुन्नत बना और ऊँचा उठा सकें।

यह चिंतन-मनन की प्रक्रिया हुई, किंतु इससे भूल सुधार और आत्मपरिष्कार की आधी-अधूरी ही बात बनती है। आगे के उत्थान के लिए महामानवों-मनीषियों का आश्रय लेना पड़ता है। स्वाध्याय-सत्संग इसी प्रयोजन की पूर्ति करते हैं। इनकी आवश्यकता आज इसलिए भी अधिक महसूस की जा रही है, कि समाज तमसाच्छन्न है। चारों ओर असुरता और अराजकता का ही साम्राज्य है। इनमें जकड़ा मनुष्य अशुभ सोचता और अनर्थ ही करता है। एकपक्षीय दबाव से ऐसी ही परिणति की आशा भी की जा सकती है। जब एक पक्ष के ही बयान, सबूत और वकील काम करे, दूसरी ओर से कोई कुछ कहने-करने वाला ही न हो, तो फिर मुकदमे का फैसला एक तरफ ही होगा। श्रेष्ठता की शक्तियों को भी हमारे ऊपर प्रभाव डालने का अवसर मिले, तो उत्कृष्टता की दिशा में भी कुछ करते बन पड़े यह कार्य स्वाध्याय-सत्संग से ही पूरा हो पाता है।

वस्तुतः यह एक ही क्रिया के दो पक्ष हैं। मनीषियों और महापुरुषों के साथ प्रत्यक्ष संपर्क को सत्संग तथा साहित्य के माध्यम से परोक्ष मार्गदर्शन को स्वाध्याय कहा गया है। स्वाध्याय प्रायः उस साहित्य के पठन-अध्ययन को कहते हैं, जो समय के प्रवाह को परिस्थितियों, मनःस्थितियों को ध्यान में रखते हुए सिद्धांतों का व्यवहार के साथ तालमेल बिटाने वाला परामर्श उपलब्ध कर सके और आंतरिक गुत्थियों को सुलझाने व आत्मोत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त करने का सुयोग बना सके। यह कार्य इतिहास पठन अथवा पुरातन प्रचलन को तलाश करते रहने से किसी भी प्रकार पूरा नहीं हो सकता। इस प्रयोजन की पूर्ति युग-पुरुषों के श्रेष्ठ साहित्य से ही हो सकती है। सत्साहित्य इन्हें ही कहते हैं। इसी कारण स्वाध्याय को साधना के समतुल्य ही आवश्यक एवं श्रेयस्कर माना गया

है।

दूसरा पक्ष सत्संग कहलाता है। बुद्धिजीवियों के लिए स्वाध्याय की जितनी महत्ता बताई गई है, जनसामान्य के लिए सत्संग का वही महत्व है। सत्संग उत्कृष्ट आदर्शवादिता अपनाने और सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने वाली शिक्षा को कहते हैं, जो प्रायः महामानवों के सान्निध्य से प्राप्त होती है। कहा जाता है कि चंदन वृक्ष के आस-पास की झाड़ियों में सुगंध आ जाती है, पारस को छूकर लोहा, सोना बन जाता है, स्वाँति बूद के संसर्ग से सीप मोती पैदा करती है, केले में कपूर उत्पन्न होता है और बाँस वंशलोचन बनाता है। प्रकारांतर से यह सत्संग सान्निध्य के ही प्रभाव हैं। रामायण में इसे ही काक होहि पिक बकहु मराला के रूप में अभिहित किया गया है। जब कुसंग का प्रभाव व्यक्ति को कुमार्गगामी बना सकता है तो कोई कारण नहीं कि सत्संग अपना अच्छा प्रभाव न छोड़ सके। यदि व्यक्ति सत्संग की शिक्षा अपने जीवन में अपना सके, चिंतन-चरित्र व्यवहार में उतार सके, तो निश्चय ही वह महामानवों की तद्रूपता प्राप्त कर सकता है। वाल्मीकि, अंगुलिमाल, अंब्रपाली सत्संग से ही सामान्य से असामान्य स्तर तक पहुँचे और महान बने।

आत्मोत्कर्षस्य विज्ञाता आधारास्तु त्वया मुने।

चत्वारो बाह्यक्षेत्रे तान् योक्तुमंतर्विधिं शृणु ॥ ७४ ॥

उत्पादन क्रियात्वेष्टा निजसीम्नि सु संभवेत्।

परिपक्वां विधातुं तां साधकः सेवितां व्रजेत् ॥ ७५ ॥

चिंतनेन दिशाप्राप्तिरादर्शाश्चरितुं तथा ।

संस्कारानिव संस्कर्तुं स्तर कार्यविधिर्ध्रुवः ॥ ७६ ॥

विचारणा-क्रियाशीलता द्वयोश्च समन्वयात्।

संस्काराः संति व्यक्तित्वं संस्काराणां समुच्चयः ॥ ७७ ॥

सत्प्रवृत्तेस्व संवृद्धिरात्मोत्कर्षोऽस्ति चिंतनम्।

उत्कृष्टं परिणयेच्चास्मै सादर्शैर्विधिर्भरः ॥ ७८ ॥

सेवापरिणतिश्चैषा कथ्यते चास्य ये विधेः।

स्वीकर्तारोऽर्जयन्त्येवं पुण्यं यावच्च हे मुने ॥ ७९ ॥

ततोऽधिकमिमे ह्यात्म-परिष्कारस्य लाभगाः।

संति सद्भाव पक्वत्वं सेविताऽऽसक्ति संभवम् ॥ ८० ॥

टीका—हे तात आत्मोत्कर्ष के चार आधार आपने सुने।

उनको अंतरंग एवं बहिरंग क्षेत्र में उतारने के उपाय भी समझे। यह उत्पादन प्रक्रिया हुई, जो निजी क्षेत्र में संपन्न हो जाती है, किंतु इसे परिपक्व करने के लिए हर साधक को सेवाक्षेत्र में प्रवेश करना होता है। चिंतन से दिशा भर मिलती है। आदर्शों को अभ्यास में उतारने और संस्कारों की तरह परिपक्व करने के लिए उसी स्तर के काम करना आवश्यक है। विचारणा और क्रियाशीलता के समन्वय से ही संस्कार बनते हैं। संस्कारों का समुच्चय ही व्यक्तित्व कहलाता है।

५.१८ प्रज्ञोपनिषद्

सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन ही आत्मोत्कर्ष है। इसके लिए उत्कृष्ट चिंतन को आदर्शवादी क्रियाकलापों में परिणत करना पड़ता है। सेवा इसी की परिणति को कहते हैं। इस रीति-नीति को अपनाने वाले जितना दूसरों की सहायता का पुण्य अर्जित करते हैं, उससे भी अधिक वे आत्म परिष्कार का लाभ उठाते हैं। सद्भावनाओं की परिपक्वता उदार सेवा परायणता में निरत रहने पर ही संभव होता है ॥ ७४-८० ॥

ऋषि यहाँ व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया समझाते हैं। व्यक्तित्व निर्माण में चिंतन की उत्कृष्टता का जितना महत्व है, उतना ही उसके क्रियान्वयन का भी। चिंतन चलता रहे, पर उसे क्रिया रूप में नहीं परिणत किया जाए, व्यवहार में नहीं लाया जाए, तो व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया अधूरी रह जाती है। कुम्हार का चाक घूमते रहने भर से ही बरतन कहाँ बन जाते हैं। इसके साथ-साथ कुम्हार के हाथों की क्रिया भी अभीष्ट होती है। दोनों के समन्वय से ही वह प्रक्रिया पूरी होती है, जिसमें अनगढ़ मिट्टी सुगढ़ बरतन बनती है।

व्यक्तित्व निर्माण भी ऐसी ही क्रिया है। इसमें विचारणा और क्रिया का समभाव आवश्यक होता है। एकपक्षीय चिंतन प्रभाव-परिवर्तन की वह भूमिका नहीं संपन्न कर पाता, जो महापुरुषों में दिखाई पड़ता है। इसी कारण चिंतन का दूसरा, क्रियात्मक पक्ष को भी जीवन में सम्मिलित करने पर जोर दिया जाता है। इसके लिए स्वयं को कर्मक्षेत्र में उतारना पड़ता है, सेवा कार्य अपनाना पड़ता है, तभी उसका व्यावहारिक जीवन में सफल अभ्यास शक्य-संभव हो पाता है और वह स्थिति बन पड़ती है, जिसमें कथनी और करनी में मनसा-वाचा-कर्मणा में एकरूपता दीख पड़े। दोनों के समन्वय से ही संस्कार रूपी बीज जमते और बढ़ते हैं। जब ऐसे ही संस्कारों का परिवर्द्धित-अभिवर्द्धित कर लिया जाता है, तो महामानवों जैसा व्यक्तित्व का निर्माण होता है। फिर ऐसे लोग जहाँ भी जिस भी स्थान अथवा वातावरण में चले जाते, वहीं अपनी छाप छोड़ते और लोगों को प्रभावित-आकर्षित करते हैं। व्यक्तित्व संपन्न इन्हें ही कहा गया है। इस निर्माण-प्रक्रिया का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे द्विविध प्रयोजन पूरा होता है। जहाँ एक ओर आत्मपरिष्कार का सुयोग बनता है, वहीं दूसरों की सेवा-सहायता द्वारा पुण्य अर्जन का लाभ मिलता है।

भौतिकैरिप कष्टैस्तु पीडितानां हि साधनैः।

साहाय्यं यत्तदप्यास्ते सेवा यद्यपि निश्चिता ॥ ८१ ॥

परं ततोऽपि सा श्रेष्ठा ययाऽन्ये सद्गुणान्विताः।

क्रियन्ते प्रेरणादानं चरित्रचिन्ति बोधकम् ॥ ८२ ॥

तत्स्तरस्थ प्रयासेषु नियोजनमपि स्वयम्।

उच्चस्तरास्ति सेवैव साधना च महामुने ॥ ८३ ॥

पीडाकष्टविदः सर्वे परं पातस्य सा मुने।

परिणतिस्ततोऽप्येषा भयदा भवतीह तु ॥ ८४ ॥

साधनानां प्रदानैर्यत् पीडावारणमिष्यते।

पतनोद्धारकं श्रेष्ठं ततः सद्वृत्तिवर्द्धनम् ॥ ८५ ॥

साधनैर्ये तु संपन्नास्ते पीडावारणेरताः।

दृष्टास्तथात्मवन्तश्च सद्वृत्ति - परिवर्धकाः ॥ ८६ ॥

तेषां जीवनचर्या तु सामान्यानां तु लोभिनाम्।

सुविधाजीविनां तात दृष्ट्या भिन्नेव दृश्यते ॥ ८७ ॥

टीका—सेवायों, भौतिक कष्टों से पीड़ितों की साधनों की सहायता से करने को भी कहते हैं। किंतु उससे भी ऊँची वह है जिसमें दूसरों को सद्गुणी बनाया जाता है। चिंतन और चरित्र को ऊँचा उठाने वाली प्रेरणाएँ देना, उस स्तर के प्रयासों में नियोजित कर देना उच्चस्तरीय सेवा साधना है। पीडा का कष्ट सभी जानते हैं किंतु पतन की परिणति और भी अधिक भयावह होती है। अस्तु पीडा निवारण की साधन-सहायता से भी बढ़कर पतन से उबारने वाले सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन को महत्व दिया जाता है। साधन संपन्न पीडा निवारण का और आत्मवान् सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन का प्रयास करते देखे गए हैं। उनकी जीवनचर्या सामान्य सुविधा जीवियों-लालचियों से भिन्न स्तर की आदर्शनिष्ठ होती है ॥ ८१-८७ ॥

चिंतन और चरित्र को मनुष्य के दो सबसे बड़े बल माने गए हैं। चिंतन यदि विधेयात्मक हो, तो व्यक्ति बुरी-से-बुरी स्थिति को हँसते-हँसते पार कर सकता है और उत्कृष्ट चिंतन के माध्यम से श्रेय, सम्मान, सहयोग सब कुछ अर्जित किया जा सकता है। शरीर, मन से भी स्वस्थता बनी रहती है और प्रसन्नता का अतिरिक्त लाभ भी मिलता है। आत्मिक प्रगति का यही राज है। इसी प्रकार चरित्र यदि स्वच्छ-धवल हो, तो व्यक्ति अपनी प्रामाणिकता से लोगों पर अनुकरणीय छाप छोड़ सकता है और बाह्य दीन-हीन स्थिति होते हुए भी चिंतन-चरित्र द्वारा अपनी आंतरिक स्थिति सशक्त-सबल बनाए रख सकता है। ऋषियों-योगियों के संदर्भ में ऐसी ही बात देखी जा सकती है। भौतिक दृष्टि से वे विपन्न ही दीखते हैं, पर उनका आत्मबल इतना बढ़ा-चढ़ा होता है कि वातावरण और परिस्थिति को उलटने-पलटने जैसा करतब कर दिखाते हैं। खुद तो आत्मवान होते ही हैं, अन्य अनेकों को उस राह पर घसीट ले आते हैं। यह प्रकारांतर से उत्कृष्ट चिंतन-चरित्र की ही परिणति हुई, पर यदि दोनों ही क्षेत्रों में दिवालियापन आ जाए, तो स्थिति अत्यंत भयावह हो जाती है। फिर उस व्यक्ति की स्थिति भँवर में फँसे उस नाविक जैसी होती है, जिससे बाहर तो निकलते नहीं बन पड़ता, उलटे और उसमें उलझता चला जाता है। ऐसी स्थिति में यदि

उसे कोई बाह्य सहारा नहीं मिला, तो भँवर में डूब जाना सुनिश्चित होता है।

चिंतन और चरित्र से पतित लोगों के साथ ऐसी ही परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस वक्त यदि उन्हें महापुरुषों, महामानवों का सत्परामर्श नहीं मिल पाए तो वे अधःपतन के शिकार बन जाते हैं, जिससे पुनः उबर पाना उनके लिए संभव नहीं हो पाता।

पर भौतिक कष्टों से पीड़ित लोगों की स्थिति इससे भिन्न होती है। उन्हें सिर्फ भौतिक साधनों का अभाव होता है, अस्तु तरह-तरह की शारीरिक कष्ट-कठिनाइयाँ ही झेलनी पड़ती हैं। पतन-पराभव जैसी स्थिति नहीं आ पाती। यह तो चिंतन-चरित्र है, जिसकी निकृष्टता मनुष्य को उस ओर धकेल देती है। शरीर कष्टों से तो समयांतर में व्यक्ति स्वयं भी येन-केन प्रकारेण उबर सकता है, मगर चिंतन-चरित्र जब पतनोन्मुख हो जाए, तो उससे निकल पाना बहुत ही मुश्किल भरा काम होता है। पतन को इसीलिए पीड़ा से गंभीर माना गया है। इसी कारण ऋषि पतन-निवारण को यहाँ सबसे बड़ी सेवा बता रहे हैं।

संचयेच्छां विहायात्र प्रदर्शन - सुकामनाः ।

वपुर्यात्रा - करैस्तुष्टा शेषांशैरुपकुर्वते ॥ ८८ ॥

आत्मोन्नतिकरा ये तु न बाह्ये जगति क्वचित् ।

साधनानामहो तेषां सहयोगस्य न्यूनता ॥ ८९ ॥

महत्तैषा तु तेषां यदुच्चस्तर - सुभावगा ।

निजपेक्षतयाऽन्येषां भोगैस्तुष्टाः सुखं ययुः ॥ ९० ॥

अल्पतुष्टा नरा विप्राः साधवो परमार्थगाः ।

आभिवर्तिशेषताभिश्च युक्ता भक्ताः प्रभोः स्मृताः ॥ ९१ ॥

अजस्त्रैरनुदानैश्च प्रभोर्लाभान्विताश्च ते ।

आत्मसाधनमाबद्धं लोकस्याराधनेन हि ॥ ९२ ॥

आत्मोत्थानस्य पंथास्तु मत एषोऽत्र ये नराः ।

चलन्ति तेऽधिगच्छन्ति पतनं न पराभवम् ॥ ९३ ॥

टीका—संचय और प्रदर्शन की लालसा छोड़कर शरीर यात्रा भर के साधनों में संतोष करने वाले ही अपने यात्रा भर के साधनों में संतोष करने वाले ही अपने उपार्जन का महत्वपूर्ण अंश परमार्थ प्रयोजनों में लगा पाते हैं। जो आत्मिक प्रगति करते हैं उन्हें बाह्य जगत में न साधकों की कमी रहती है न सहयोग की। यह उनकी महानता है कि उच्चस्तरीय उदारता से प्रेरित होकर स्वयं खाने की अपेक्षा दूसरों को खिलाने में असंख्य गुना संतोष, आनंद अनुभव करते हैं। स्वल्प संतोषी को ब्राह्मण और परमार्थ परायण को साधु कहते हैं। इन विशेषताओं से संपन्न व्यक्ति ही सच्चे ईश्वर भक्त कहलाते हैं और परमेश्वर के अजस्र अनुदानों से लाभांविता होते हैं। हे तात आत्मसाधना और लोक आराधना एक दूसरे के साथ

अविच्छिन्न रूप से संबद्ध हैं। यही है आत्मिक-उत्थान का मार्ग। इस पर चलने वाले पतन-पराभव से अनायास ही बच जाते हैं ॥ ८८-९३ ॥

संतोष को सबसे बड़ा सुख माना गया है। जो हर प्रकार से संतुष्ट होते हैं, सुख का आनंद उन्हें ही मिल पाता है। आजीवन प्रसन्नता वही अनुभव कर पाते हैं। सीमित साधनों में निर्वाह करने में इन्हें ही सफलता मिल पाती है और ऐसे ही लोग अतिरिक्त संचय को पीड़ितों की, विपत्तियों की सेवा व समाज की प्रगतिशीलता हेतु बाँटने-खर्चने में अपनी उदारता दिखा पाते हैं। भारतीय संस्कृति को इसी कारण देवसंस्कृति के नाम से पुकारा गया है, क्योंकि उसमें आत्मवत् सर्वभूतेषु और वसुधैव कुटुंबकम् का विशाल दृष्टिकोण समाहित है। यह सैद्धांतिक ही नहीं, वरन् व्यावहारिक आदर्श भी है। ऋषिकाल से लेकर अब तक महामानवों के जीवन का यह एक अभिन्न अंग रहा है। वे सादा जीवन उच्च विचार की रीति-नीति अपनाते और उसे अपने जीवन में चरितार्थ करते हैं। खुद तो स्वल्प निर्वाह पर गुजारा करते, पर समाज के लिए अपने उपार्जन का बड़ा भाग सुरक्षित रखते हैं। इसी कारण इन्हें देवमानव कहा गया है। बाह्य कलेवर तो इनका भी मनुष्यों जैसा ही होता है, किंतु आंतरिक संरचना सामान्य जनों से भिन्न मानवी गरिमा के अनुकूल होती है। इन्हें न संचय में रुचि होती है और न खोखले प्रदर्शन का आडंबर रचने में मन ललकता है। संचय यदि वे करते भी हैं, तो उसके पीछे लोककल्याण-परमार्थ प्रयोजन की ही भावना होती है। इसी कारण इन्हें ब्राह्मण व साधु दोनों की संज्ञा दी गई है ब्राह्मणवृत्ति से ही व्यक्ति में साधुवृत्ति आ पाती है। यदि निर्वाह खर्च सीमित न रखा जाए, तो परमार्थ परायणता कैसे बन पड़े। यही वह आदर्श है, जिससे व्यक्तिगत जीवन में किसी प्रकार का व्यसन भी नहीं पनपने पाता और परमार्थ परायणता का, समाज सेवा का सुयोग भी बन जाता है। इससे आत्मसाधना और लोक आराधना के दोनों प्रयोजन स्वतः सध जाते हैं। अपना भी कल्याण होता है और समाज कल्याण भी बन पड़ता है। भगवान के अनुदान ऐसे ही लोगों पर बरसते हैं। सच्चा ईश्वर-भक्त इन्हें ही कहा गया है।

द्वितीयेऽह्नि तु सत्संगो यस्तेनाधिकं ततः ।

समाधानमभूतेषां जिज्ञासूनां तु तत्क्षणात् ॥ ९४ ॥

सत्रावसानवेलां च समीपस्थां विलोक्य सः ।

अधिष्ठाता तु तां गोष्ठीं समाप्तां विदधे स्वयम् ॥ ९५ ॥

उपलब्धामृतोन्मेषैरानंदित - तनूरुहाः ।

जिज्ञासवस्तु संलग्नाः निशासांध्यक - कर्मसु ॥ ९६ ॥

टीका—दूसरे दिन के सत्संग से आत्मविद्या के जिज्ञासुओं का और भी अधिक समाधान हुआ। सत्र की अवसान-वेला

५.२० प्रज्ञोपनिषद्

देखकर अधिष्ठाता ने उस गोष्ठी का समापन कर दिया।
उपलब्ध अमृत वर्षा से आनंदित होते हुए जिज्ञासुगण संख्या

और रात्रि के लिए निर्धारित कार्यक्रमों में संलग्न हो गए ॥
९४-९६

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्यायोः, युगदर्शन युगसाधना प्रकटीकरणयोः,
महर्षि कश्यप याज्ञवल्क्य संवादे आत्म परिष्कार लोक साधना इति प्रकरणो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

व्यावहारिक-तपोयोग-प्रकरणम्

तृतीयेऽह्नि पुनर्ब्रह्मविद्यासत्रं तथैव तत्।
स्वस्तिवाचनपूर्वं च प्रारब्धं समभूदथ ॥ १ ॥

दिनस्यास्य जरत्कारुर्मुख्यो जिज्ञासुराह तम्।

मनीषिमानितः सत्राध्यक्षं वाग्मी मुनिः स्वयम् ॥ २ ॥

टीका—तीसरे दिन का ब्रह्मविद्या सत्र पुनः अपने नियत समय पर प्रारंभ हुआ। स्वास्तिवाचन जैसे मंगलाचरण के साथ शुभारंभ किया गया। इस दिन के प्रमुख जिज्ञासु की भूमिका निभाते हुए मनीषियों में मूर्द्धन्य और विवेचकों में प्रख्यात मुनि जरत्कारु ने सत्राध्यक्ष से पूछा ॥ २-३ ॥

जरत्कारुवाच—

भवता बोधितं रूपं दुरूहायास्तु देव! नः।

आत्मोत्कर्षं विधायिन्याः साधनाया जनानुगम् ॥ ३ ॥

उदेति च मनस्येकः प्रश्नो यच्छास्त्रसंमतौ।

असंभवा मता योगसाधनाया विना तथा ॥ ४ ॥

तपः शक्तेर्विना ह्युच्च लक्ष्यप्राप्तिरिह प्रभो।

तपोयोगस्वरूपं किं सुलभमात्मसाधकम् ॥ ५ ॥

कृपया विस्तरेणैतद् बोध्यतां लोकमंगलम्।

श्रुत्वा प्रश्नं प्रहृष्टश्च याज्ञवल्क्योऽगादीत्ततः ॥ ६ ॥

टीका—जरत्कारु बोले, हे देव आपने गहन और दुरूह समझी जाने वाली आत्मोत्कर्ष की साधना का जन सुलभ स्वरूप समझाया। यहाँ एक प्रश्न और मन में उठ रहा है कि शास्त्रमतानुसार तप की शक्ति और योगसाधना के बिना उच्च लक्ष्यों की प्राप्ति असंभव कही गई है। आत्मसाधना को सफल बनाने वाले जनसुलभ तप और योग का स्वरूप क्या हो सकता है? कृपया इसे हमें विस्तारपूर्वक समझाएँ। याज्ञवल्क्य जी प्रश्न सुनकर पुलकित हो उठे और बोले ॥ ३-६ ॥

यहाँ जरत्कारु महर्षि जिज्ञासा प्रकट करते हैं कि अध्यात्म विज्ञान के इतिहास में उच्चस्तरीय उपलब्धियों के लिए आदर्शों के समुच्चय ईश्वर से जुड़ना और तप साधना का अवलंबन ही एकमात्र विधान उपचार है। उसके बिना लक्ष्य की प्राप्ति संभव नहीं।

दृष्टि पसारकर प्रगतिशील महामानवों सिद्धपुरुषों की रीति-नीति का पर्यवेक्षण करके यह जाना जा सकता है कि उन्होंने अपने जीवन में तपश्चर्या के प्रचंड पुरुषार्थ से अनेकानेक दिशाओं में प्रगति किया और ओजस्वी, तेजस्वी, मनस्वी, यशस्वी बने। यह तप की ही गरिमा है। पौराणिक गाथाओं में स्पष्ट है कि तपस्वी और योगी ही चमत्कारिक वृद्धि-सिद्धि प्राप्त करने और ऋषि कल्प देवात्मा बनने में सफल हुए हैं। महामानवों एवं ऋषियों-अवतारी पुरुषों की अगणित गाथाएँ इस तथ्य की साक्षी हैं। शिव स्वयं योगारूढ़ एवं निरंतर जप रत रहते थे। उनके वरदान तपस्वी होने की शर्त पर ही किसी को मिलते हैं। तप की महिमा महान है।

तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति

एक बार भृगु ने अपने पिता वरुण के निकट जाकर प्रार्थना की कि हे भगवन मुझे ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दीजिए।

वरुण ने उत्तर दिया हे भृगु जिससे समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और अंत में जिसमें विलीन हो जाते हैं, तू उस ब्रह्म को जानने की इच्छा कर। उस अविनाशी ब्रह्म को तप और योग साधना द्वारा ही जाना जा सकता है। पिता के आदेशानुसार पुत्र ने उस ब्रह्म को जानने के लिए तप आरंभ कर दिया। दीर्घकालीन तप के उपरांत भृगु ने अन्नमयकोश स्थूल शरीर में फैली ब्रह्म की विभूति को जान लिया और वह पिता के पास पहुँचे।

वरुण ने भृगु से फिर कहा, तप सो ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति अर्थात् हे पुत्र तू तप करके ब्रह्म को जानने का प्रयत्न कर क्योंकि ब्रह्म को तप द्वारा ही जाना जाता है।

भृगु ने फिर तपस्या की और प्राणमय जगत की विभूति को जान लिया और फिर वह पिता के पास पहुँचे। वरुण ने फिर उन्हें तप करने का आदेश दिया। पुत्र ने पुनः कठोर तप किया और मनोमय कोश की विभूतियों का अभिज्ञान प्राप्त किया। पिता ने उन्हें फिर तप में लगा दिया। अब भृगु ने विज्ञानमय जगत की विभूति को प्राप्त कर लिया और फिर वरुण जी के पास पहुँचे। पिता ने पाँचवी बार भी तप में ही प्रवृत्त किया और भृगु ने उस आनंदमयी विभूति को भी

उपलब्ध कर लिया और जाना कि आनंद ही ब्रह्म है।

तपश्चर्या की तपबल की चमत्कारी शक्ति के फलितार्थों का धर्मशास्त्रों और आप्त वचनों में विशद् वर्णन विवेचन किया गया है।

शास्त्रमत

श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंद नवमें अध्याय में भगवान ने अपने निज रूप का परिचय देते हुए कहा है तपो में हृदयं साक्षादात्माहि तपसो हि वै।

अर्थात् तप मेरा प्रत्यक्ष हृदय है और मैं भी तप का हृदय हूँ। दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं।

आगे इस तथ्य का और भी अधिक स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं।

सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः।

विभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः॥

अर्थात् मैं इस समस्त विश्व को तप के सहारे उत्पन्न करता हूँ। तप के द्वारा ही अंत में इसे आत्मरूप में विलीन कर लेता हूँ। विश्व का परिपोषण मैं तपोबल से ही करता हूँ। मेरी अद्भुत तप सामर्थ्य तप में ही केंद्रभूत है।

श्रीमद्भागवत के आगे विवरण में अग्नि, ब्रह्मा, वायु आदि देवताओं का उल्लेख है। जिनके अपने लिए कर्तव्य और साधन संबंधी प्रश्न पूछने पर परब्रह्म ने एक ही उत्तर दिया है कि तपं तपस्य अर्थात् तप की तपस्या करो। इसी से शक्ति उत्पन्न होगी। शक्ति के बलबूते ही व्यक्तित्व प्रखर होता है। क्षमताओं का स्रोत खुलता है और उसी के सहारे सहजता से कठिन काम संपन्न होते।

उपनिषद्कार कहता है—

स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा सर्वमसृजत यदिदं किञ्च।

उसने तप किया, कष्ट सहा तब ही यह सृष्टि बनी। तप ही दुःख रूप में जगत में विद्यमान है। नवीन सृजन की वेदना माँ जानती है। तप का ताप मनुष्य के अंतःकरण में नए-नए रूप में नए प्रकाशों को अवतरित करता है। यह तपस्या आनंद का ही एक अंग है। इसीलिए ऋषि कहता है कि आनंद के सिवा, सृष्टि के इतने बड़े दुःख को कौन वहन कर सकता है। कोह्येवान्यत् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनंदो न स्यात्। देशभक्त देश के लिए जब प्राण त्यागता है तो उसके लिए वह वेदना नहीं परम आनंद है। ज्ञानी की ज्ञान प्राप्ति प्रेमी की प्रिय साधना, भक्त का इष्ट मिलन इसी तरह की साधना है।

देवर्षि नारद जी का कथन है कि तपश्चर्या में असीम शक्ति है। वह होनहार को भी मिटा सकती है। हिमवंत के यहाँ शैलसुता के सुलक्षणों को देखकर नारद जी कहते हैं।

जो तपु करै कुमारि तुम्हारी।

भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥

करै सो तपु जेहि मिलहिं महेसू।

आन उपायँ न मिटहिं कलेसू॥

मानसकार गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं

तपु सुख प्रद दुख दोष नसावा॥

याज्ञवल्क्य उवाच

मान्या! जन्मान्तरस्थैस्तैः कुसंस्कारैरथैहिकैः।

कुकृत्यैः प्रतिकूलाभिवृत्तिभिर्हेयपूरुषैः ॥७॥

सह योगैरधोगामिप्रवाहो लौकिकस्तु यः।

तस्य हेतो रतो मर्त्यः कुकृत्येऽचिन्त्यचिन्तने॥८॥

अस्मादेव भवत्यत्र चक्रव्यूह - विनिर्मितिः।

भवबंधन - शब्देन कीर्त्यते या तु भूतके॥९॥

भक्तुं कुचक्रमेतत्तु शारीरं मानसं तथा।

प्रखरत्वं समुत्पाद्यं तपश्चर्याऽर्ज्यमुज्ज्वलम्॥१०॥

प्रथमः प्रमुखः पन्था आत्मिक्याः प्रगतेर्मतः।

तपश्चर्या, कुसंस्कारान् सञ्चितान् बलपूर्वकम्॥११॥

विरुणद्धि नरो यत्तत्तपः साधनमुच्यते।

प्रथमः चरणः प्रोक्त आत्मिक्याः प्रगतेरयम्॥१२॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले हे मनीषियो जन्म-जन्मांतरों के कुसंस्कार, इसी जन्म के किए कुकृत्य, अनुपयुक्त वातावरण हेयस्तर के व्यक्तियों का सान्निध्य एवं अधोगामी लोकप्रवाह के कारण मनुष्य अचिंत्य चिंतन में निरत होकर कुकृत्य करने लगते हैं। इसका एक भयावह चक्रव्यूह बनता है, इसी को भव-बंधन कहते हैं। इस कुचक्र को तोड़ने के लिए मानसिक एवं शारीरिक प्रखरता उत्पन्न करनी पड़ती है। इस प्रखरता का उपार्जन तपश्चर्या से होता है। अस्तु आत्मिक प्रगति का प्रथम एवं प्रमुख मार्ग तपश्चर्या माना गया है। संचित कुसंस्कारों का हठपूर्वक क्रियात्मक विरोध करने का नाम तप साधना है। इसे आत्मिक प्रगति का प्रथम चरण कहा गया है॥७-१२॥

मानव जीवन बहुमूल्य है, पर जो उसका मूल्य और स्वरूप नहीं समझते, वे भोग परायण व्यक्ति दुश्चिंतन में निरत रहते और दुष्कर्म करते रहते हैं। शरीर से मनुष्य होते हुए भी उनके गुण, कर्म, स्वभाव में प्रशु प्रवृत्तियों की निकृष्टता की भरमार होती है। यह पशु प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य के पतन और विनाश का कारण बनती हैं। वासना, तृष्णा और अहंता को भवसागर कहा गया है। अनगढ़ और भोगपरायण मनुष्य इसी में डूबते उतराते रहते हैं। लोभ को हथकड़ी, मोह को बेड़ी और गर्व को तौक कहते हैं। यही भवबंधन है। जीव इन्हीं से बँधा रहता है, सामान्य जनों की यही गति है। महत्वाकांक्षा, ऐषणा एवं इंद्रियजन्य लिप्सालोलुपता से घिरा मनुष्य अभीष्ट सफलता प्राप्त करने के लिए औचित्य मर्यादा का उल्लंघन करके उद्धत कर्म करता, आतंक जमाता और जो भी संभव है, उसे न्याय-अन्याय का भेद किए बिना कर

५.२२ प्रज्ञोपनिषद्

गुजरता है। आत्म-विस्मृति के कारण मनुष्य प्रत्यक्ष शरीर को ही सब कुछ मान बैठता है और उसी के तथाकथित मनोरथों की पूर्ति में मरता खपता रहता है और सिर पर कुकृत्य जन्म पापों का बोझ सिर पर लादे इस संसार से विदा होता है।

यह जीवन का वह स्वरूप है जो सीमित दृष्टिकोण में दिखता तो शरीर तक ही सीमित है पर कषाय-कल्मषों की अमिट छाप संस्कारों के रूप में सूक्ष्म मनःसंस्थान पर अंकित होती रहती है। संचित कुसंस्कारों की परतें चट्टान जैसी कठोर होती हैं। उन्हें तोड़े बिना पथरीली जमीन में कुआँ खोदना और शीतल जल प्राप्त कर सकना संभव नहीं होता।

यहाँ ऋषि कहते हैं कि भवबंधनों से मुक्ति पाने और संचित कुसंस्कारों के कुचक्र को तोड़ने के लिए प्रखरता उत्पन्न करनी पड़ती है। अनुपयुक्तता के विरुद्ध संघर्ष करना होता है। असंयमी, कुसंस्कारों से जूझना और अपने अनगढ़ स्वभाव के विरुद्ध संघर्ष करना होता है। यह साधना का महत्वपूर्ण पक्ष है। अध्यात्म विज्ञान में इस उपचार प्रक्रिया को तपश्चर्या कहा गया है।

तप का अर्थ है, तपाना-गरम करना। भूमि से निकले मिट्टी मिले लोहे को भट्टी में पकाकर शुद्ध किया जाता है तब उसकी स्थिति औजार, उपकरण बनाने जैसी बनती है। अन्य धातुओं का शोधन भी अग्नि संस्कार से ही होता है। पकाने के बाद ही ईंट चिरस्थायी बनती है। पानी से भाप बनता और उससे रेलगाड़ी जैसा विशाल तंत्र पड़ना यह सिद्ध करता है कि तपाने से उत्पन्न की गई गरमी क्या-क्या चमत्कार उत्पन्न करती है।

व्यक्ति की सामर्थ्य भी तपश्चर्या के आधार पर ही उभरती है। अग्नि की उष्णता से संसार के सभी पदार्थ जल, बदल या गल जाते हैं। कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें अग्नि का संसर्ग होने पर भी परिवर्तन न होता हो। तपस्या की अग्नि भी ऐसी ही है। वह पापों के समूह को संचित-कुसंस्कारों को जलाकर भस्म कर देती है। कुसंस्कार, कुटेव, कुविचार एवं कुकर्म से छुटकारा पाने के लिए तपश्चर्या एक रामबाण अस्त्र है। तप एक भावनात्मक पुरुषार्थ है। व्यावहारिक जीवन में इसे संकल्पनिष्ठ संयम भी कहा जाता है। इसके चार स्तर हैं इंद्रिय संयम, समय संयम, अर्थ संयम और विचार संयम के नाम से जाने जाने वाले तप संयम को अपनाकर कोई भी महानता के पथ पर अग्रसर हो सकता है और दिव्य क्षमताओं विभूतियों का स्वामी बन सकता है।

चिन्तनस्य चरित्रस्य गरिम्पो दायिनीं सदा।

उत्कृष्टतां प्रतिष्ठां स्वां मन्यमाना मनस्विनः ॥ १३ ॥

साधना - सफलाः संति प्रलोभन - विवर्जिता।

अवरोधदृढास्त्याज्यैर्योद्धारस्तु तपस्विनः ॥ १४ ॥

तपस्विनोऽनिवार्य हि युद्ध्येत स्वयमात्मना।

अभ्यस्त - प्रकृतीर्युक्ता गतीश्च परिवर्तितुम् ॥ १५ ॥

अत्रकाठिन्यमायाति ततः कष्टान्यनेकशः।

पूर्वाभ्यासे तु सह्यानि तितिक्षेयं निगद्यते ॥ १६ ॥

टीका—चिंतन और चरित्र की गरिमा बनाए रहने वाली उत्कृष्टता को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाए रहने वाले मनस्वी ही साधना में सफल होते हैं। प्रलोभनों और दबावों के आगे न झुकने वाले अवांछनीयता के साथ असहयोग-विरोध का शस्त्र सँभाले रहने वाले तपस्वी कहलाते हैं। तपस्वी को अपने आप से लड़ना पड़ता है तथा अभ्यस्त आदतों और गतिविधियों को उलटना पड़ता है। इसमें कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उन्हीं का पूर्वाभ्यास करने के लिए कष्ट सहन करने पड़ते हैं। इसे तितिक्षा कहते हैं ॥ १३-१६ ॥

यहाँ ऋषि कहते हैं कि मनस्वी अर्थात् सत्प्रयोजनों के निमित्त सुनिश्चित संकल्प करने और उसे पूरा करने के लिए साहसिक पराक्रम दिखाने वाले सचरित्र व्यक्ति ही साधना में सफलता प्राप्त करते हैं। मनस्वी ही तपस्वी होते हैं। मनस्विता एक ऐसी विभूति है जिसके सहारे ही कोई महत्वपूर्ण कार्य संपादित हो सकता है। इसके अभाव में मात्र विडंबना ही हाथ लगती है। मनोबल बढ़ाने का साहस जगाने का पराक्रम उभारने का प्रगतिशील मार्ग अपनाने वाले तपस्वी को अपनी क्षमता बढ़ाने के लिए संघर्षरत होना पड़ता है। रगड़ने से ही गरमी उत्पन्न होती है और उत्पादित ऊर्जा के सहारे ही शक्ति याँ उभरती और गतिशील होती हैं। मजबूती भी उसी से आती है प्रखरता भी। जनरेटर इसी प्रक्रिया के सहारे बिजली उत्पन्न करते हैं। व्यक्तित्व को तपाने के लिए जिस ऊर्जा की आवश्यकता होती है, वह प्रतिरोध से ही उत्पन्न होती हैं। इसके लिए ऐसी रीति-नीति अपनानी पड़ती है जिसमें कठिनाइयों से जूझना पड़े। ऐसे दुस्साहस भरे कामों में हाथ डालना पड़ता है जो न केवल कष्ट साध्य होते हैं वरन जोखिम भरे भी होते हैं। इसके लिए असंयम के छिद्रों को बंद करना पड़ता है और अस्वाद व्रत से लेकर उपवास, ऋतु प्रभाव का सहन एवं कायाकष्ट सहन की तितिक्षा का पूर्वाभ्यास करना पड़ता है जिससे तप निर्धारण के मार्ग में स्वभावगत ढर्रे के साथ जूझने का उस मार्ग के व्यवधानों से निपटने की आदत बनी रहे।

तितिक्षा अभ्यास है और तप उद्देश्यपूर्ण व्रतधारण। दोनों एक दूसरे के सहयोगी हैं। तलवार पर धार रखने के लिए उसे घिसा जाता है। कच्ची धातुओं से बहुमूल्य उपकरण बनाने के लिए उनका परिशोधन भट्टी के अतिरिक्त और किसी उपाय से संभव नहीं। मनुष्य कितना विवेकवान, सिद्धांतवादी, चरित्रनिष्ठ और संकल्पवान है, इसकी परीक्षा

प्रतिकूलताओं, असुविधाओं और विपत्तियों में से गुजरकर इस तप प्रतीक्षा में पककर ही हो पाती है।

विज्ञाः प्रगतिमार्गे च यातुमग्रे य उच्यते।
अनिवार्यः प्रयासः स कथितो योगसाधना ॥ १७ ॥
योगः स आत्मसत्तायाः संयोगः परमात्मना।
प्रकृत्याकांक्षया यश्च सञ्चितस्तु समुच्चयः ॥ १८ ॥
आदर्शवादिनी या सा कथितोत्कृष्टता तथा।
सम्बन्धं पुंभिरिष्येत क्रमात् संबद्धतोर्जिता ॥ १९ ॥
स्वार्पणस्य सुभावस्तु चलतीष्टं यदा महान्।
क्षुद्राहं त्वलयः कार्य औत्कृष्ट्येमहतस्ततः ॥ २० ॥
उक्ता परिणतिश्चास्य जीवन्मुक्तौ तथैव च।
लक्ष्य-प्राप्तौ पूर्णतायामीशप्राप्तौ च निश्चिता ॥ २१ ॥
सदा परमहंसास्तु तिष्ठन्त्यस्यां स्थितौ बुधाः।
समाधिकालयुक्तायां देवत्व - परिवाहिनः ॥ २२ ॥

टीका—हे विज्ञजनों प्रगति पथ पर अग्रसर होने के लिए जिस दूसरे प्रयास को अनिवार्य माना गया है उसका नाम योग साधना है। आत्मसत्ता को परमात्मा के साथ जोड़ना योग है। इसमें आकांक्षाओं और आदतों के संचित समुच्चय को आदर्शवादी उत्कृष्टता के साथ संबद्ध करना पड़ता है। यह संबद्धता क्रमशः बढ़ती है तो इष्ट के प्रति आत्मसमर्पण की उमंग उठती है। तब क्षुद्र अहंता का विलय-विसर्जन महान की उत्कृष्टता में करना पड़ता है। इसी की परिणति जीवनमुक्ति लक्ष्यप्राप्ति पूर्णता एवं ईश्वर प्राप्ति के रूप में होती है। परमहंस इसी समाधि अवस्था में रहते हैं और देवत्व को वहन करने वाले देववाहन बनते हैं ॥ १७-२२ ॥

यहाँ ऋषि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आत्मोत्कर्ष के लिए तपश्चर्या के बाद जिस दूसरे साधन के अवलंबन की आवश्यकता पड़ती है उसे योग कहते हैं। चेतना के भावपक्ष को उच्चस्तरीय उत्कृष्टता के साथ एकात्म कर देने का नाम ही योग है। यह आस्थाओं, आकांक्षाओं एवं प्रवृत्तियों का परिष्कार है। इसके लिए वैराग्य तथा अभ्यास द्वारा चित्तवृत्तियों पर अधिकार पाना होता है। योग की परिभाषा करते हुए महर्षि पतंजलि ने कहा है योगश्चित्त वृत्ति निरोधः। अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। वृत्तियों के निरुद्ध होने से चित्त एकाग्र ही नहीं होता वरन् पूर्णतया आत्मस्थ हो जाता है और आत्मा का परमात्मा के साथ योग मिलन हो जाता है।

आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ देने का तात्पर्य है क्षुद्रता को महानता के साथ, कामना को भावना के साथ, स्वार्थ को परमार्थ के साथ बाँध देना, बदल देना और तदनुसार बना देना। समर्पण इसी उच्चस्तरीय भूमिका का नाम है। विलय-विसर्जन, समन्वय समापन शरणागति उसी के दूसरे पर्याय हैं। इस आरंभ की पूर्णाहुति जीव और ब्रह्म के साथ

पूर्ण एकता स्थापित होने से होती है। इसी स्थिति को अद्वैत कहते हैं।

चेतना के विराट समुद्र में जीव बिंदु का विसर्जित होना सायुज्य है। यही परम पद की प्राप्ति है। व्यष्टि जीव सत्ता का समष्टि ब्राह्मी सत्ता में विसर्जित होना ही प्रभु समर्पित जीवन है। ईंधन आग की, नदी नाले की, दूध जल की, दीप पतंग की उपमा इसी स्थिति के लिए दी जाती है। व्यक्ति अपने स्वार्थ की परिधि से निकल जाता है मन-मस्तिष्क में एकमात्र परमार्थ छाया रहता है। अहंता शरीर, परिवार तक सीमित न रहकर सोहम् शिवाहम्, सच्चिदानंदोहम्, तत्त्वमसि, अयमात्मा, ब्रह्म, शुद्धोसि, बुद्धोसि, निरजयेसि की स्थिति में पहुँच जाती है। अपनी सत्ता सबमें और सब अपने में दृष्टिगोचर होने लगते हैं। वसुधैव कुटुंबकम् आत्मवत् सर्वभूतेषु की अनुभूति इसी स्तर पर पहुँचने में होती है। योग की सिद्धावस्था यही है, परमपद जीवन मुक्ति इसी का नाम है।

इसी स्थिति को परमात्मा की प्राप्ति, कैवल्य पद पाना, जीव का ब्रह्म होना और आत्मा का परमात्मा बन जाना कहा गया है। इस स्थिति में ही शास्त्रकार ने कहा है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

—योग १ / ३

अर्थात् तब द्रष्टा की शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति होती है।

योगाभ्यासस्य रूपे च क्रियाः कृत्यान्वनेकधा।

स्वीकार्याण्यस्ति येषां च प्रयोजनमिदं मतम् ॥ २३ ॥

ससीम्नोऽसीम्नैकैकात्त्यं यत्तस्यैवमनोभुवः।

निर्मितिः क्रमरूपेण केवलं तु महर्षयः ॥ २४ ॥

पूरकौ तु तपोयोगौ विनैकं नहि पूर्णता।

तपोयोगौ प्रक्रिये स्तः सामान्यं जन जीवनम् ॥ २५ ॥

उत्कृष्टकारिके सर्वसुलभे सार्वलौकिके।

योगे स्वत्वं समर्प्य तदौत्कृष्ट्यं प्रतितत्तथा ॥ २६ ॥

समष्टिं प्रत्युभौ तौस्त आस्थापरप्रयोगकौ।

धर्मलग्नाः साधका हे स्वीकार्यं च महत्त्वकम् ॥ २७ ॥

टीका—हे महर्षियो योगाभ्यास के रूप में कई प्रकार के क्रियाकृत्य अपनाए जाते हैं। उन सभी का उद्देश्य सीमित को असीम में मिला देने की क्रमशः मनोभूमि तैयार करना मात्र है। तप और योग परस्पर पूरक हैं। एक के बिना दूसरे की सफलता शक्य नहीं। योग और तप सामान्य जीवन को उत्कृष्ट बनाने ही की सर्वसुलभ और सार्वजनीन प्रक्रिया है। योग में अपना आपा उत्कृष्टता के प्रति समाप्ति के प्रति समर्पित करना होता है। यह दोनों प्रयोग विशुद्धतः आस्थापरक हैं। हे धर्मपरायण सद्ज्ञान साधको आस्था को समुचित महत्त्व देना चाहिए ॥ २३-२७ ॥

५.२४ प्रज्ञोपनिषद्

योग की दो दिशाधाराएँ हैं। एक में विचार परिष्कार, चरित्रशोधन, संयमसाधन, पुण्य-परमार्थ जैसी ज्ञान-वैराग्य की साधना करनी पड़ती है। यह भक्त संतों का संत सज्जनों का मार्ग है। इस आधार पर जो शक्ति प्राप्त होती है वह आत्मकल्याण एवं लोकमंगल दोनों ही प्रयोजनों में काम आती है। दूसरी धारा है अतीन्द्रिय क्षमताएँ जागृत करके असामान्य स्तर की चमत्कारी ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्त करना। इसके लिए कितने ही साधना विधान हैं कितने ही मार्ग हैं। इसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को जागृत, सशक्त और प्रखर बनाने के लिए उसी प्रकार सोपान निर्धारित हैं जैसे छत पर चढ़ने के लिए जीने की सीढ़ियों में सन्निहत होता है।

राजयोग, हठयोग, लययोग, प्राणयोग, कुंडलिनी योग, चक्रवेधन, ज्ञानयोग, भक्ति योग, कर्मयोग, ध्यानयोग आदि अनेकानेक राजमार्ग निर्धारित हैं। उनमें से प्रत्येक में आरंभ से चलकर अंत तक क्रमबद्ध रूप से निर्धारण अपनाने पड़ते हैं यथा राजयोग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि की एक क्रमबद्ध योजना है। हठयोग में नाड़ी शोधन, वस्ति, वज्रोली, कपाल भाँति आदि का प्रयोग उस समूचे विज्ञान को स्कूली कक्षाओं की तरह एक के बाद एक को अपनाया जाता है।

यहाँ ऋषि कहते हैं कि योग और तप का अनन्योश्चित संबंध है। तपश्चर्या की आग में कुसंस्कारों को गलाया जाता है और योगसाधना से उसे उपयुक्त ढाँचे में ढाला जाता है। योगाभ्यास द्वारा मानव मन सशक्त एवं सक्षम बनता जाता है साथ ही निर्मल एवं परिष्कृत भी होता जाता है। तपश्चर्या से अचेतन में भरी हुई हठवादी पशु प्रवृत्तियों के कुसंस्कार छूटते जाते हैं और मन निर्मल होने से चित्तवृत्तियों का निरोध स्वयमेव होता जाता है। तप का उद्देश्य आत्मा को तपाना और उसे परमात्मा से मिलने के अनुरूप शुद्ध और तेजस्वी बनाना है एवं योग में मुख्यतया जीव चेतना को ब्राह्मी चेतना के साथ जोड़ देने वाला भावनात्मक एवं विचरणात्मक पुरुषार्थ करना पड़ता है।

शरीर और मनः क्षेत्र में अनेक प्रकार के सूक्ष्म शक्ति केंद्र चक्र, उपत्यिकाएँ, ग्रंथि समुच्चय, प्लेक्सस, नाड़ियों के दिव्य प्रवाह मौजूद हैं। इनमें से कुछ स्थूल शरीर में होते हैं कुछ सूक्ष्म और कारण शरीर में। इन्हीं को जागृत करने के लिए अनेक स्तर की तपश्चर्याएँ एवं योगसाधनाएँ की जाती हैं। कुंडलिनी जागरण एवं सूक्ष्मीकरण की पंचकोशी साधनाएँ तपश्चर्यायुक्त प्रचंड पुरुषार्थ के बल पर ही संभव हो पाती हैं। तपश्चर्या एवं सतत् योगाभ्यास से चित्त जन पूर्णरूपेण शुद्ध हो जाता है तो साधक की अंतर्प्रज्ञा जागृत होती है। यही सफलता की मूल है और इसी के आधार पर चेतना के

उच्चस्तर तक पहुँचा जाता है।

ऋषि याज्ञवल्क्य आगे कहते हैं कि योग और तप की साधना से सिद्ध के रूप में परिणति तभी होती है जब इष्ट के प्रति लक्ष्य के प्रति श्रद्धा और विश्वास का भी क्रमिक विकास होता है। प्राण विहीन शरीर को लाश कहते हैं। ठीक इसी तरह आस्था और श्रद्धा के बिना योग और तप-जप और अनुष्ठान मात्र समय का सत्प्रयोजनों में सदुपयोग भर कहा जा सकता है, परंतु इतने भर से चमत्कारी सामर्थ्य अर्जित कर लेना संभव नहीं। लघु को विभु, क्षुद्र को महान, नर को नारायण और पुरुष को पुरुषोत्तम बनाने की प्राण ऊर्जा जहाँ से निस्सृत होती है वह केंद्र बिंदु है अंतः का श्रद्धा क्षेत्र। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामायण में श्रद्धा और विश्वास को भवानी शंकरों के रूप में मानकर अभ्यर्थना की है। सफलता का मूलाधार यही है।

जरत्कारुरुवाच-

देव! सैद्धांतिकं व्यक्तं विज्ञानं साधनात्मकम्।

भवताऽत्र क्रियापक्षः बोध्योऽभ्यासस्य बोधकः ॥२८॥

टीका—जरत्कारु बोले हे देव साधना विज्ञान का सैद्धांतिक विवेचन आपने अभी हमें स्पष्ट किया। अब इसका क्रियापरक पक्ष और समझाएँ ताकि उन्हें अभ्यास में उतारने का मार्गदर्शन मिल सके ॥ २८ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच-

ऋषिवर्य! मया पूर्व व्याख्यातं यत्तपस्तथा।

योगो नैव विशेषाभिः क्रियाभिर्बाध्यतां गतौ ॥ २९ ॥

आस्था संबद्धतां यातौ पारंपर्यक्रमागताः।

क्रियास्तयोजनानां न सुलभा इति मन्यताम् ॥ ३० ॥

प्रभोरुपवनं विश्वं यदि चोपहृतिं तथा।

जीवनं रम्यतां नेतुं भावमादाय चेष्ट्यते ॥ ३१ ॥

जीवनेऽस्मिंस्तपोयोगौ साध्यावुन्मूलनान्मुने।

दुष्प्रवृत्तेस्तपो, योगः सद्वृत्तेर्वधनश्रमात् ॥ ३२ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले, हे ऋषि श्रेष्ठ पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि योग और तप क्रिया विशेष से बँधे नहीं हैं। यदि प्रभु के इस उपवन विश्व को और प्रभु के उपहार इस जीवन को सुरम्य बनाए रखने का भाव रखते हुए चला जाए, तो इस जीवन में ही तप और योग सध सकता है। ऐसी स्थिति में दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन प्रक्रिया से तप वृत्ति और सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के प्रयास से योग वृत्ति की साधना सधती है ॥ २९-३२ ॥

यहाँ ऋषि स्पष्ट करते हैं कि योग और तप किसी क्रिया विशेष से बँधे हुए नहीं हैं। निजी जीवन में आस्थाओं, आकांक्षाओं का परिष्कार एवं कुसंस्कारों का उन्मूलन अपनी भौतिक ललक-लिप्साओं को पैरों तले रौंदकर ईश्वरीय संकेतों

और उच्चस्तरीय आदर्शों का अनुसरण करते रहने से सरलतापूर्वक किया जा सकता है। योगी की मनोभूमि इसी प्रकार की होती है। वह शरीरगत और मनोगत वासनाओं, तृष्णाओं की उपेक्षा करता, उन्हें नगण्य, हेय और महानता के पथ में बाधक मानता है और तीनों ऐषणाओं से छुटकारा पाता है। विश्व को ईश्वर की साकार प्रतिमा मानकर उसके कण-कण में परमेश्वर को देखने वाले हर किसी से प्रेम करते हैं। उनके इस प्रेम में दुलार और सुधार का विवेक सम्मत समन्वय होता है। व्यष्टि, समष्टि और प्रकृति के गतिचक्र को समझकर उसमें अपनी स्थिति कमल पत्रवत् बनाए रहकर रंगमंच पर अभिनय करने वाले नट की तरह सोचा और अपना कर्तव्य पूरा किया जा सकता है। मान-अपमान, हानि-लाभ से विचलित न होकर विनोद की मनःस्थिति बनाए रहकर हर घड़ी आनंद, उल्लास, उमंग, तृप्ति, तुष्टि, शांति का अनुभव किया जा सकता है। अपनी सारी क्षमता सत्कर्मों, सद्विचारों और सद्भावों में नियोजित किए रहने वाला ही वस्तुतः सच्चा योगी और तपस्वी है। निजी स्वार्थपरता को परमार्थ परायणता में, व्यक्तिवाद को समूहवाद में, संकीर्णता को उदारता में, निकृष्टता को उत्कृष्टता में विसर्जन समर्पण करके सहज ही योग की विभूतियों से संपन्न बना जा सकता है। संसार के असंतुलन को संतुलन में बदलने, पतन प्रवाह को उत्थान की दिशा में मोड़ने वाले लोकमंगल के लिए समर्पित व्यक्ति को ईश्वर उदारता पूर्वक अपना सारा वैभव सौंप देता है। योग और तप का यही लक्ष्य है।

स्वभाव वैपरीत्याय योऽन्तर्विग्रह - विग्रहः।
तितीक्षाभ्यास इत्युक्तो नवसंस्कारकारकः ॥ ३३ ॥
सत्साहस मुदेत्येवमनर्हाभ्यस्त - नाशकः ।
सद्वृत्तिस्थापकश्चाथमिति जानीहि निश्चितम् ॥ ३४ ॥
सदादर्शान् समुच्छिश्य प्रतियुद्धयन्त एव ये।
अनौचित्यैस्तु गृह्णन्ति काठिन्यं प्रतिकूलताः ॥ ३५ ॥
अभावग्रस्ततां यान्तोऽसहयोगं पदे पदे।
सहन्ते तप एतद्धि त्यागश्चापि मतो बुधैः ॥ ३६ ॥
साहसं शौर्यमेतत् तदाध्यात्मिकमुच्यते ।
बीजं स्थूलांश नाशो हि वृक्षतां याति तत्पुनः ॥ ३७ ॥
तथ्यमेतद् विजानन्ति ये न ते संकुचन्त्यहो।
विभूतीर्मूल्यतः क्रेतुं ब्रह्मवर्चस्तपः श्रितम् ॥ ३८ ॥

टीका—तितीक्षा का अभ्यास आदतों को उलटते समय होने वाले अंतःविग्रह से जूझने के लिए किया जाता है जो नए संस्कारों को उभारता है। इससे सत्साहस उभरता है और अभ्यस्त अनौचित्य के उन्मूलन तथा सत्प्रवृत्तियों के संस्थापन में काम आता है। आदर्शों के लिए अड़ने वाले और अनौचित्य से जूझने वाले स्वेच्छापूर्वक कठिनाइयों तथा प्रतिकूलताओं

का वरण करते हैं। उन्हें अभाव और असहयोग भी सहने पड़ते हैं। इसी को तप-त्याग कहते हैं। यही अध्यात्म क्षेत्र का शौर्य साहस है। बीज के स्थूलांश गलने पर ही उसे विशाल वृक्ष बनने का अवसर मिलता है, जो इस तथ्य को जानते हैं, वे मूल्य देकर विभूतियाँ खरीदने से हिचकते नहीं। तप-तितीक्षा से ब्रह्मवर्चस प्राप्त करने का रहस्य सर्वविदित है ॥ ३३-३८ ॥

तप-तितीक्षा में जान-बूझकर शरीर और मन को कष्ट दिया जाता है जिससे शारीरिक वासना और लौकिक सुखों की कामना मर जाए एवं आत्मभाव प्रकट होने लगे। अहंता गले और जीवभाव से मुक्ति मिले उच्चस्तरीय शक्ति का उत्पादन और अभिवर्द्धन इसी आंतरिक संघर्ष के आधार पर संभव होता है। यही आध्यात्मिक पराक्रम एवं पुरुषार्थ है। आध्यात्मिक ऊर्जा उत्पादित करने के लिए अवांछनीयताओं के प्रति-प्रतिकूलता के प्रति संघर्ष करना होता है। तप साधना यही है। साधना का दूसरा नाम समर है। इस समर में अपने आप से अपनी कमजोरियों, कुसंस्कारों से वासना, तृष्णा, अहंता, लोभ, मोह आदि आंतरिक असुरों से लड़ना पड़ता है। योगी, तपस्वियों, महामानवों ने इसी संघर्ष की तप तितीक्षा में तपकर महानता अर्जित की है। ब्रह्मवर्चस अर्थात् ब्रह्मतेज आत्मा का प्रत्यक्ष प्रकाश इसी आधार पर प्रकट होता है।

जिह्वाचंचलताऽलस्यं मदसेवनकामना ।
उच्छृंखलत्व - कामित्वेऽनियन्त्रित्वं तथैव च ॥ ३९ ॥
उदंडताऽव्यवस्थापव्ययः संकीर्णता स्वता ।
मालिन्यादीनि दृश्यन्ते दुष्प्रवृत्तिषु सर्वदा ॥ ४० ॥
मदस्तरेण तिष्ठन्ति सम्पदां जीवनस्य च।
घुणवन्नाशयन्त्यन्त उद्धतानि च तान्यलम् ॥ ४१ ॥
सापराधानि रूपाणि लभन्ते नाशकानि च।
तीव्रा आगस्करा मंदा दुर्गुणा दुष्प्रवृत्तयः ॥ ४२ ॥
त्याज्यास्तालधुरूपाश्च क्षणाद् वृद्धिप्रयान्त्यपि।
स्फुलिंगः कालमासाद्य दावाग्निरिव नाशकः ॥ ४३ ॥
दुष्प्रवृत्तय एतास्तु रोगा इव भयानकाः।
संकटोत्पादिका नूनं मन्यतां तु विभीषिका ॥ ४४ ॥
नोपेक्ष्या जातमात्राणां विनाशः क्रियतां लघु।

वृद्धाः सुदृढमूलाः स्युश्छिन्ना रोहन्ति ताः पुनः ॥ ४५ ॥
टीका—दुष्प्रवृत्तियों में चटोरापन, नशे में दुर्व्यसन, कामुक चिंतन, आलस्य-प्रमाद, अनियमितता, उच्छृंखलता, उदंड उत्तेजना, अपव्यय, अव्यवस्था, मलीनता, संकीर्ण स्वार्थपरता आदि प्रमुख मानी जाती हैं। ये मदस्तर की रहती हैं तो जीवन संपदा को घुन की तरह खोखला करती रहती हैं। जब उद्धत हो जाती हैं तो अपराधों के रूप में विकृत विनाशकारी रूप धारण करती हैं। दुष्प्रवृत्तियाँ दुर्गुणों के रूप में मंद हों या

५.२६ प्रज्ञोपनिषद्

अपराधों के रूप में तीव्र, दोनों ही भयावह और त्याज्य हैं। वे प्रारंभ में छोटी भले ही दीखें पर उन्हें बढ़ते देर नहीं लगती। छोटी चिंगारी अवसर पाने पर दावानल बनती, सर्वनाश करती है। दुष्प्रवृत्तियाँ भी बीमारियों की तरह भयानक संकट उत्पन्न करने वाली विभीषिकाएँ ही हैं। इसलिए उनकी उपेक्षा न की जाए। उत्पन्न होते ही उन्मूलन किया जाए अन्यथा बढ़ने पर जड़ें गहरी चली जाती हैं और काटने पर भी फिर उग पड़ने की विपत्ति सामने आती है ॥ ३९-४५ ॥

भगवान ने मनुष्य को असीम शक्ति साधनों से सुसज्जित किया है। शरीर, इंद्रियाँ एवं मस्तिष्क के रूप में उसे जो अनुदान मिले हैं वे अद्भुत एवं अनुपम हैं। उनके सदुपयोग तथा सुनियोजन की फलश्रुतियाँ भी उतनी ही विलक्षण हो सकती हैं। परंतु मनुष्य की संचित कुसंस्कारिता और अदूरदर्शिता उसे अनुपयुक्त छिद्रों में होकर जिधर-तिधर बहा देने को विवश करती हैं और उपलब्ध अनुदानों से समुचित लाभ उठा सकने का सुयोग अकारण ही चला जाता है। जिस तरह दीपक में तेल भरा रहने पर भी हवा का झोंका उसकी ज्योति को बुझा देता है ठीक उसी तरह क्षमताओं से संपन्न होते हुए मनुष्य को भी असंयम का दुष्प्रवृत्तियों का झोंका उसे समय से पहले ही बुझ जाने के लिए विवश करता है।

दुष्प्रवृत्तियों का अवांछनीयताओं का आरंभ जिह्वा के चटोरेपन से होकर जहाँ तक जगह मिलती है वहाँ तक बढ़ता जाता है। जिह्वा को चटोरी बनाकर अनावश्यक मात्रा में भक्ष्य-अभक्ष्य करते रहने वाले अपना पाचन तंत्र बिगाड़ते और रोगों से आक्रांत होते हैं। शराब, सिगरेट, मार्फीन, कोकीन, चरस, हसीस, हेरोइन आदि घातक नशाओं का सेवन दिखावेअ और जिह्वा को उसका रसास्वादन कराने से आरंभ होता है और अंततः सेवन करने वाले को खोखला करके मृत्यु शैय्या पर ला पटकता है। जीभ का चटोरापन कामुकता भड़काता है। जननेंद्रिय मार्ग से बहुमूल्य जीवन रस नलियों में बहाते रहने वाले किस प्रकार अपनी जीवनी शक्ति और बौद्धिक क्षमता गँवा बैठते हैं यह किसी से छिपा नहीं है। अन्यान्य इंद्रियों के दुरुपयोग के संबंध में भी यही है। यह मनोविकार अकेला नहीं है। इनकी एक पूरी सेना है। जहाँ एक चलता है वहाँ साथी संगतों की पूरी बारात चल पड़ती है। वासना, तृष्णा और अहंता का समुदाय है। लोभ, मोह और क्रोध का एक समूह है। यह सब आपस में गुथे हुए हैं। एक के साथ दूसरा चलता है। जहाँ वासना भड़केगी, वहाँ तृष्णा भी पीछे न रहेगी। लोभ-लालच में मन भटकेगा। संपदा की ओर मन ललचाएगा और धन संग्रह के लिए, अहंकार की पूर्ति के लिए नीति-मर्यादा का उल्लंघन करना पड़ता है। उद्वंडता बरतने और उच्छृंखल आचरण करने वाले झूठ, हत्या, बेईमानी

जैसे कुकृत्य करने लगते हैं। उन्हें ऐसा करने में भय, लज्जा, संकोच का अनुभव नहीं होता, वरन रस आने लगता है और रस की कोई सीमा नहीं होती कि वह अमुक सीमा तक पहुँचकर तृप्त कर देगी। जीव से आरंभ हुआ दुष्प्रवृत्तियों का रसास्वादन मन सहित इंद्रियों की ललक लिप्साएँ भड़काने लगता है। फुलझड़ती में माचिस लगाने के उपरांत एक के बाद दूसरी चिंगारी छूटने लगता है और फिर ऐसा तमाशा बनता कि पूरे खेल का सफाया करने के उपरांत ही समाप्त होता है। अतः यहाँ ऋषि कहते हैं कि दुष्प्रवृत्तियों को आरंभ में ही, जब वे विचारों के रूप में अंकुरित हो रही हों, तभी सद्विचारों की सेना के माध्यम से समाप्त कर देना चाहिए, अन्यथा वे विषवेलि की तरह पनपती, फैलती और विपत्ति का सर्वनाश का कारण बनती है।

स्वभावे दुर्गुणा एवं संति चेत्संस्थिता मुने।

तेषां हानिषु सर्वैस्तु विचारः कार्य एव हि ॥ ४६ ॥

चिन्त्यान्येवं विधान्यत्र सदोदाहरणान्यपि।

दुष्प्रवृत्त्युद्भवार्थैः स्युः परिणामाः स्मृता हि नः ॥ ४७ ॥

एवं - विधश्च तर्काणां तथ्यानामपि संग्रहः।

कर्त्तव्यो दुर्गुणा येन स्युरस्त्रेण पराजिताः ॥ ४८ ॥

एकदैव न चेत्त्याज्या दुर्गुणाः स्युस्तदाशनैः।

मात्राणामून्या शक्यस्तेषां नाश - दिशोदयः ॥ ४९ ॥

यो मनस्वी तपस्वी स सहसैकपदे तु तान्।

संकल्पशक्तितैक्ष्ण्याद्धि विदधाति तिरस्कृतान् ॥ ५० ॥

टीका—हे मुनिवर इस प्रकार के दुर्गुण यदि स्वभाव में सम्मिलित हों तो उनकी हानियों पर विचार करना चाहिए। ऐसे उदाहरण चिंतन में लाने चाहिए जिनसे दुष्प्रवृत्तियों के दुष्परिणामों का स्मरण बना रहे। ऐसे तर्क और तथ्य संग्रह कर रखने चाहिए जिन्हें दुर्गुणों को परास्त करने में शस्त्र की तरह प्रयोग किया जा सके। दुर्गुणों को एकबारगी छोड़ सकना संभव न हो तो उनकी मात्रा घटाते हुए भी क्रमशः समाप्त करने की दिशा में बढ़ा जा सकता है। तपस्वी-मनस्वी तो संकल्पशक्ति की प्रखरता के सहारे एक बार में ही उनका तिरस्कार, बहिष्कार कर सकते हैं ॥ ४६-५० ॥

महानता अर्जित करने के लिए स्वभाव में सम्मिलित दोष-दुर्गुणों की बुराइयों एवं उनसे होने वाली हानियों को समझना और उन्हें बुहार बाहर करना अनिवार्य है। इससे संबंधित तर्क, तथ्य और प्रमाण एकत्रित करके सहज ही दुष्प्रवृत्तियों से छुटकारा पाया जा सकता है। अणुव्रत के रूप में एक-एक करके दोष-दुर्गुणों को छोड़ते रहने और उसके स्थान पर एक-एक अच्छाई का सत्संकल्प करते रहने से धीरे-धीरे अपना पूरा परिष्कार किया जा सकता है। संकल्प बल और विचारणा की सृजनात्मक क्षमता से जो परिचित हैं

वे तत्परतापूर्वक अपनी कमजोरियों को ढूँढ़ निकालते और उनसे छुटकारा पाने में समर्थ होते हैं। संकल्पशक्ति के रूप में मनुष्य को मिला वरदान इतना सामर्थ्यवान है कि उसके आधार पर वह भौतिक अथवा आत्मिक किसी भी क्षेत्र में प्रगति कर सकता है और मार्ग में आने वाली बाधाओं-प्रतिकूलताओं तथा अपने दोष-दुर्गुणों को पैरों तले रौंदकर आगे बढ़ सकता है। तपस्वी-मनस्वी यही प्रक्रिया अपनाते और आत्मोन्नति करते हैं।

श्रमशीलत्व - शालीनत्वे तथा सहकारिता।

मितव्ययत्वसंघर्ष - शीलते सत्प्रवृत्तिषु ॥ ५१ ॥

जीवनव्यवहारे तु योक्तुं युक्ततरं ध्रुवम्।

पञ्चशीलसुशब्देन स्मृतमेतन्मनीषिभिः ॥ ५२ ॥

गजसाहस्रशक्त्या स शीलभावो निरूप्यते।

ईदृशा न परास्ताः स्युर्नता वाग्रे नृणां नराः ॥ ५३ ॥

कार्याणि यानि गृह्णन्ति सफलाः संति तेषु ते।

परिस्थित्यानुकूल्येन व्यवहारेण जीवनः ॥ ५४ ॥

टीका—सत्प्रवृत्तियों में श्रमशीलता, मितव्ययिता, शालीनता, सहकारिता, संघर्षशीलता को व्यावहारिक जीवन में समाविष्ट करना बुद्धिमत्तापूर्ण है। इन्हें पंचशील कहते हैं। शील में हजार हाथी के बराबर बल माना गया है। ऐसे लोग न किसी के सामने झुकते हैं, न परास्त होते हैं। जिस काम में हाथ डालते हैं उसी में सफल होकर रहते हैं। परिस्थितियों के साथ तालमेल बिठाना उनके जीवन का व्यावहारिक गुण है ॥ ५१-५४ ॥

जो जीवन को शीलयुक्त बनाएँ, आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त करें, उन्हीं गुणों को ऋषिश्रेष्ठ ने यहाँ पंचशील की उपमा दी है। इसे व्यक्ति निर्माण की, आत्मोत्थान की आचार संहिता भी माना जा सकता है। कोरा तत्त्वदर्शन किसी काम का नहीं, यदि उसे व्यवहार में न उतारा गया हो। व्यवहार में गुण, संपदा, श्रम के प्रतिनिष्ठा, साधनों अर्थसंपदा के, आय-व्यय के संबंध में औचित्य के निर्वाह, वाणी में मिठास एवं सज्जनता, समुदाय का एक अंग होने के नाते परस्पर एक-दूसरे का हित चाहने की भावना तथा अनीति अनौचित्य एवं सड़ी-गली मान्यताओं से मोरचा लेने की क्षमता विकसित करने के रूप में अर्जित की जाती है। व्यक्तित्व विकास के इन्हें पाँच सोपान कहा जा सकता है। जो इतना कर सके समझ लेना चाहिए, उसे आध्यात्म क्षेत्र में प्रगति की प्रथम परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। उनकी जानकारी का अभाव या इन्हें व्यवहार में उतार सकने में असमर्थता ही अंततः व्यक्ति की अवगति एवं पतन का कारण बनती है।

नियोजितेन ये मर्त्याः क्रमेण श्रमसंरताः।

न श्लथास्ते परं पुष्टाः प्रखराः सर्वतोदिशः ॥ ५५ ॥

स्वीकृतं कर्तव्यमेवाथ श्रमेणोत्साहपूर्वकम्।

स्फूर्त्या कर्तव्यमेवाथ मनोयोगेन सर्वदा ॥ ५६ ॥

कार्यस्तरं प्रतिष्ठां तां मत्वा चैवानुसञ्चरेत्।

चातुर्येण समग्रेण कार्यं कर्मैवमेव यत् ॥ ५७ ॥

इष्टे सफलताऽवाप्तिर्यशस्वित्वाप्तिरप्यलम्।

क्रियेतात्र च यत्कर्म सत्यं तत्सुन्दरं शिवम् ॥ ५८ ॥

दुष्प्रवृत्तिप्रदं कर्म न कार्यमपि लाभदम्।

सत्यता वयवहारे स्यादास्था कर्तव्यकर्मणि ॥ ५९ ॥

केचिदुष्कर्म कृत्वापि साफल्यं यांति चेन्नहि।

आस्माकमनुकार्यास्ते श्रेष्ठं स्वल्पं वरं भवेत् ॥ ६० ॥

टीका—सुनियोजित क्रम से श्रमरत रहने से कोई थकता नहीं वरन हर दृष्टि से प्रखर एवं परिपुष्ट बनता है। हाथ में लिए हुए काम को परिपूर्ण श्रम, स्फूर्ति, उत्साह और मनोयोग के साथ किया जाए। इस प्रकार समग्र कौशल के साथ कार्य किया जाए तो अभीष्ट सफलता भी मिलती है और कर्ता को यशस्वी बनने का अवसर भी मिलता है। जो भी काम किया जाए, वह आदर्शों की कसौटी पर खरा और लोकोपयोगी होना चाहिए। दुष्प्रवृत्ति बढ़ाने वाला कोई काम न किया जाए, भले ही उसमें कितना ही लाभ क्यों न होता हो। व्यवहार में सचाई और ईमानदारी जुड़ी रहनी चाहिए। दूसरे दुष्कर्म करके सफलता पाते हैं तो अपने को उनका अनुकरण करने की क्या आवश्यकता ? जो किया जाए उत्कृष्टतम किया जाए भले ही थोड़ा क्यों न हो ॥ ५५-६१ ॥

श्रम करने से कोई थकता नहीं। थकता तो तब है, जब उसकी कार्यपद्धति अस्त-व्यस्त होती है, कोई लक्ष्य नहीं होता एवं जो भी कुछ किया जा रहा है उसका क्या प्रतिफल होना है अथवा उत्पादित श्रम का क्या सुनियोजन होना है ? यह निर्धारण नहीं होता। सबसे बड़ी बात यह है कि जो भी कुछ हाथ में लिया गया है, उसके पीछे भावना जुड़ी या नहीं, कार्य की सफलता को अपने सम्मान, आत्मसत्ता का गौरव मानकर किया गया या नहीं।

श्रम के मूल में भावना प्रधान-भावना ही कर्म को बल देती है। श्रम तो मजदूर भी करता है, मंदिर की ईंटों को जोड़-जोड़कर नक्काशी करते हुए सुंदर रूप दे देता है। पर उसे तो धनराशि से मतलब रहता है जो वह अपनी दिहाड़ी पूरी होते ही पाता है, जबकि एक कलाकार अपना पूरा मनोयोग लगाकर अपने इष्ट देवता की मूर्ति बनाता है। अपने अंतः का सारा सौंदर्य वह उसमें उड़ेल देता है। वह जीती जागती मूर्ति जो अर्जित व्यक्तियों की श्रद्धा का प्रतीक बन जाती है, एक मनोयोग पूर्ण श्रम की ही परिणति है।

प्रतिकूलस्थितौ नित्यमानुकूल्यस्य मार्गणम्।

सर्वस्थितिस्थिरत्वं च धैर्यसाहस-शालिता ॥ ६१ ॥

५.२८ प्रज्ञोपनिषद्

लोभापातत्वमुच्यत्वं मानसं सद्भविष्यतः ।
 आशाया अपरित्यागश्चित्तस्यापि प्रसन्ता ॥ ६२ ॥
 उपायमार्गणं चिन्तास्थाने चा नान्यसंश्रितः ।
 आत्मावलंबनेनाथ पादन्यासः सुयोजितः ॥ ६३ ॥
 लब्धसंतोष-भावश्चाप्यधिकं प्राप्तुमुत्सुकः ।
 गुणास्त्वेवं विधाह्येते यानाश्रित्य नराः सदा ॥ ६४ ॥
 स्थितिष्वपि तु हेयासु स्वल्पसाधन-संयुता ।
 प्रगतेः पथि नित्यं ते चलितुं प्रभवन्त्यलम् ॥ ६५ ॥

टीका—प्रतिकूलता में अनुकूलता उत्पन्न करने के लिए मार्ग खोजते रहना किसी भी स्थिति में असंतुलित न होना, धैर्य और साहस को हर हालत में बनाए रहना, प्रलोभनों में न फिसलना, मनोबल न गिरने देना, उज्ज्वल भविष्य की आशा न छोड़ना, चित्त को प्रसन्न बनाए रहना, चिन्ता करने के स्थान पर उपाय खोजना, दूसरों के सहयोग-समर्थन पर आश्रित न रहकर आत्मावलंबन के सहारे कदम बढ़ाना, जो है उसमें संतोष करना तथा अधिक पाने के लिए उत्साहपूर्वक प्रयत्न करना ऐसे सद्गुण हैं जिनके सहारे हेय परिस्थितियों एवं स्वल्प साधनों के रहते हुए भी प्रगति पथ पर निरंतर अग्रसर रहा जा सकता है ॥ ६१-६५ ॥

मानव शावक धरती पर माँ के गर्भ से आता है तो सबसे पहले परावलंबी से स्वावलंबी बनता है। जब तक बच्चा भ्रूण रूप में माँ के गर्भाशय में पल रहा था, तब तक मातृसत्ता उसके भरण-पोषण जीवन को बनाए रखने के लिए उत्तरदायी थी। अब बाहर आते ही उसे स्वयं श्वास लेना पड़ता है ताकि प्राण वायु अंग-प्रत्यंग तक पहुँच सके। यह स्वावलंबन की प्रक्रिया जीवसत्ता के जीवित बने रहने के लिए अत्यंत अनिवार्य है। यही तथ्य जीवनचर्या के सभी प्रसंगों पर लागू होता है। मनुष्य अपने आपे पर विश्वास न रख साहस खो बैठता है तो जो भी कुछ सामर्थ्य है, उसका भी सुनियोजन नहीं हो पाता। हाथ आए अवसर खोते चला जाता है। किसी और पर निर्भर न रह मानसिक समस्वरता बनाए रखी जाए, मनोबल-संकल्पशक्ति को सतत् सशक्त बनाया जाता रहे एवं दृष्टिकोण विधेयात्मक हो तो एकला चलो रे के सिद्धांत पर चलते रहकर वह निरंतर प्रगति करता रह सकता है। परिस्थितियाँ किसी को भी कभी अनुकूल नहीं मिलतीं। संघर्षशीलता ही जीवन है। धारा को उलटी चीरकर चलने वाले जीवन ही आदर्श बनते एवं दूसरों के प्रेरणा श्रोत बनते हैं।

कालः सर्वोत्तमा संपत्तस्य चांशोपयोगिता ।
 सत्प्रयोजनसिद्ध्यर्थं कर्तव्या सन्ततं मुने ॥ ६७ ॥
 कालं विभज्य कार्यार्थं पालनं तस्य नित्यशः ।
 अस्तव्यस्तः नरेऽभ्यस्ते संयता सफला बहु ॥ ६८ ॥
 काल साधनया नूनं विना कश्चिद् भवेन्नरः ।

महाकालदयायास्तु नाधिकारी क्वचिन्मुने ॥ ६९ ॥

टीका—समय को सर्वोपरि संपदा माना जाए। उसके एक-एक क्षण का सत्प्रयोजनों के लिए उपयोग किया जाए। प्रस्तुत कार्यों के लिए समय विभाजन करके जो इस निर्धारण का तत्परतापूर्वक पालन करते हैं, वे नियमितता के सहारे अस्त-व्यस्त लोगों की तुलना में अनेक गुनी सफलताएँ पाते हैं। हे तात काल-साधना किए बिना कोई, महाकाल की अनुकंपा का अधिकारी नहीं बन सकता ॥ ६७-६९ ॥

काल अर्थात् समय को ही महाकाल कहा गया है। महाकाल जीवन के स्वामी और उसके संहारकर्ता हैं। काल और जीवन एक ही तथ्य के दो नाम हैं। समय की संपदा ही जीवन की निधि है। हर साँस हीरे-मोतियों से तौलने योग्य है। अतः हर पल को बहुमूल्य समझा जाना चाहिए। समय विभाजन करके उसके प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करने वाले आलस्य और प्रमाद बरतने वाले एवं समय को कुचक्रों के उलझने में गँवाने वालों की तुलना में अनेक गुनी सफलताएँ पाते और उन्नति के चरम शिखर तक जा पहुँचते हैं। सुनियोजित ढंग से समय का क्रमबद्ध सदुपयोग श्रेष्ठतम प्रयोजनों में करने वाले कम समय में ही इतनी उपलब्धियाँ अर्जित कर सके हैं जितनी सौ-दो सौ वर्ष तक जीकर भी नहीं पाई जा सकती। आचार्य शंकर, स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ आदि महापुरुष इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

संपन्नतोपमायां तु प्रामाण्यं श्लाघ्यतेतराम् ।
 ऋषे! एतेभ्य उत्साहः सर्वेषां मनसिस्थितः ॥ ७० ॥
 परं मार्गे तु कष्टानि यान्यायान्ति पदे पदे ।
 प्रवृत्तिः साधनायां न जायते तद्भयान्मुने ॥ ७१ ॥
 तपस्वि जीवनात्कष्ट-तितिक्षा वर्धते भृशम् ।
 अतएवोक्तमेतद्यद् योगो नैव तपो विना ॥ ७२ ॥

टीका—संपन्नता की तुलना में प्रामाणिकता की गरिमा कहीं अधिक है। हे ऋषिवर इन सबके लिए मनुष्य के मन में उमंग तो रहती है, पर मार्ग में आने वाले कष्टों के भय से साधना की ओर प्रवृत्ति हो नहीं पाती। तपस्वी जीवन से कष्ट सहने की क्षमता बढ़ती है। इसीलिए कहा गया है कि तप के बगैर योग नहीं सधता ॥ ७०-७२ ॥

व्यक्ति भौतिक दृष्टि से संपन्न हो, पर यह आवश्यक नहीं कि वह प्रामाणिक भी हो। व्यक्तित्व की प्रामाणिकता संपदा से नहीं, चिंतन चरित्र और आचरण की उत्कृष्टता से आती है। यदि चरित्र और आचरण घटिया हो, और आर्थिक दृष्टि से व्यक्ति संपन्न हो, तो भले ही साधन-संपदा के बल पर वह बड़े-बड़े काम पूरा करने का कौतुक पूरा कर ले, पर उस स्तर के कार्य उससे कदापि नहीं बन पड़ेंगे, जो जनश्रद्धा उभार कर जनसमर्थन जुटा सके, जनसमुदाय के

अंतराल को उद्देलित कर सामयिक आवश्यकता के अनुरूप चलने और रीति-नीति अपनाने पर विवश करे। यह तो व्यक्तित्व और उसके उत्कर्ष का विषय है और उसी की उपलब्धि भी। महामानवों की यही विशेषता होती है। कथनी और करनी की एकरूपता, जीवन की समस्वरता, विचारणा-भावना की उदात्तता और वाणी की मधुरता उनके ऐसे गुण हैं जो व्यक्तित्व की प्रामाणिकता को और प्रखरता प्रदान कर सोने में सुगंध जैसी भूमिका संपन्न करते हैं। भौतिक दृष्टि से तो वे प्रायः उतने ही समर्थ होते हैं, जिससे कि निर्वाह भर की आवश्यकताएँ पूरी होती रह सकें। इतने पर भी देखा यह जाता है कि दूसरों पर वे इतनी गहरी अनुकरणीय छाप छोड़ते हैं कि उनके एक इशारे पर विशाल जनबल हर प्रकार के त्याग-उत्कर्ष के लिए तैयार हो जाता है।

यह सब कुछ धन-दौलत की वरिष्ठता से नहीं व्यक्तित्व की प्रामाणिकता से ही प्राप्त किए जा सकते हैं जो कि मानवी गरिमा के अनुरूप भी है। अस्तु, भौतिक संपन्नता की तुलना में आंतरिक संपन्नता ही कहीं अधिक श्रेयस्कर व गरिमामयी है और इसी का संपादन भी किया जाना चाहिए ऋषि यहाँ इसी बात पर बल देते हैं।

व्यवस्था बुद्धिमाश्रित्य स्वल्पैरपि च साधनैः ।

प्रयोजनानि पूर्याणि बृहन्त्यपि न नाञ्जसा ॥ ७३ ॥

सावधानत्व - भावस्य परीक्षा कौशलस्य च ।

निकषे हि भवत्यस्मिन् कलात्वं सुव्यवस्थितिः ॥ ७४ ॥

अस्तव्यस्तत्व भावस्तु कुरूपत्वस्य बोधकः ।

यददृष्ट्वा व्यक्तिमानस्य हेयत्वं तु प्रतीयते ॥ ७५ ॥

मनसः कर्मणोऽथापि वचनस्य गभीरता ।

शालीनत्वं व्यवस्था च निकृष्टोत्कृष्टबोधकाः ॥ ७६ ॥

टीका—व्यवस्था बुद्धि के सहारे स्वल्प साधनों से भी बड़े प्रयोजन पूरे किए जा सकते हैं। जागरूकता और कौशल की परीक्षा इसी कसौटी पर होती है। सुव्यवस्था ही सच्ची कलाकारिता है। अस्तव्यस्तता ही कुरूपता है, उसे देखकर व्यक्ति के स्तर का घटियापन प्रतीत होता है। मन, कर्म और वचन की गंभीरता, सुव्यवस्था और शालीनता को देखकर ही किसी के स्तर की श्रेष्ठता-निकृष्टता का भान होता है ॥ ७३-७६ ॥

सुव्यवस्था को कला के अंतर्गत रखा गया है जो कलाकार स्तर के होते हैं, सुव्यवस्था उन्हीं से बन पड़ती है। हर व्यक्ति प्रस्तर के अनगढ़ खंड को प्रतिमा का रूप कहाँ दे पाता है। यदि कोई छात्र लायब्रेरियन की भूमिका संपन्न करना चाहे तो वह उसके बूते की बात नहीं होगी। इसी प्रकार घर की व्यवस्था यदि कोई पुरुष सँभालना चाहे, तो संभवतः वह उसमें उतना सफल नहीं हो जाएगा, जितना कि महिलाएँ।

तात्पर्य यह कि व्यवस्था चाहे किसी भी क्षेत्र की हो, इसके लिए बुद्धिकौशल, जागरूकता के सतर्कता की आवश्यकता पड़ती है। इनके अभाव में वह बात नहीं बन पड़ती, जिससे अस्त-व्यस्तता की कुरूपता मिटने और श्रेय लाभ मिलने जैसा सुयोग बने।

यह तो भौतिक क्षेत्र का संदर्भ हुआ। सामान्य लोगों में आत्मिक क्षेत्र में भी ऐसी ही अस्त-व्यस्तता देखी जाती है। जिस प्रकार मूर्ति की सुगढ़ता-अनगढ़ता के आधार पर कलाकार के स्तर का अनुमान लगाया जाता है, उसी तरह व्यक्ति की दिनचर्या, आहार, व्यवहार, गुण-कर्म स्वभाव, मन, वचन-कर्म और समय का उपयोग इनमें पारस्परिक सामंजस्य को देखकर यह अंदाज लगाया जाता है कि व्यक्ति किस कोटि का है और जीवन में कितना सफल हो सकता है। जन सामान्यों में प्रायः इस क्षेत्र में व्यतिक्रम ही दिखाई पड़ता है, जिससे न तो वे अपने जीवन में कोई कहने लायक सफलता अर्जित कर पाते हैं, न अनुकरणीय-अभिनंदनीय ही बन पाते हैं।

सुव्यवस्थित जीवन में इन्हीं की उपलब्धि की जाती है। व्यवस्थित जीवन के तीन मुख्य आधारों में नियमितता, समय और विचार संयम प्रमुख हैं। यदि जीवन में नियमितता का समावेश न हो, तो वह प्रखरता और प्रतिभा विकसित नहीं हो पाती, जो व्यवस्थित जीवन में दिखाई पड़ती है। इसीलिए नियमितता को जीवन का पारस कहा गया है। समय इसका दूसरा पक्ष है। यदि जीवन में समय का ध्यान न रखा जाए उसके सदुपयोग की बात न सोची जाए, तो नियमितता निभ नहीं पाएगी। इस प्रकार यदि जीवन में नियमितता और समय दोनों की उपेक्षा हो, तो किसी प्रकार की सफलता की आशा नहीं की जा सकती। नियमितता और समय की ही तरह विचारों का भी व्यक्तिगत जीवन में बड़ा महत्व है। विचार संयम न बन पड़े, वह इधर-उधर भटकता रहे, तो किसी भी काम को मनोयोगपूर्वक नहीं किया जा सकता। और जब कार्य में तत्परता न हो, गुणवत्ता न हो, तो उसके परिणाम भी उसी स्तर के मिलेंगे।

अस्तु उपरोक्त तीन गुण ऐसे हैं जो जीवन को सुगठित, सुव्यवस्थित बनाते हैं। सुव्यवस्था ही जीवन देवता की सच्ची आराधना है। जो यह आराधना सफलतापूर्वक कर पाते हैं, वही जीवनकला के सच्चे कलाकार कहलाने के श्रेयाधिकारी बनते हैं। ऋषि यहाँ यही स्पष्ट करना चाहते हैं।

न्यायाप्ताजीविकायास्तु वर्धने गौरवं वरे ।

अर्जितं विनियोक्तव्यं प्रज्ञा सदुपयोगके ॥ ७७ ॥

श्रेयः पथस्य ये संति साधकास्ते प्रदर्शने ।

स्वेभ्योऽतिरिक्त वित्तस्य सञ्चयेऽस्युर्गतेषणाः ॥ ७८ ॥

५.३० प्रज्ञोपनिषद्

टीका—न्यायोपार्जित आजीविका बढ़ाने में गौरव है, किंतु बुद्धिमानी इस बात में है कि उपार्जन का एक-एक कण मात्र श्रेष्ठतम सदुपयोग में ही नियोजित होता रहे। श्रेयपथ के साधकों को चाहिए कि आडंबरों में खरच करने अथवा मोहवश अपनों के लिए अतिरिक्त धन छोड़ जाने के मोह से बचें ॥ ७७-७८ ॥

विधाता ने मनुष्य में बुद्धि का समावेश इस आशा से किया है कि वह समझदारी से काम कर सके और अपनी गरिमा बनाए रख सके। मानवेतर प्राणियों में इसका सर्वथा अभाव है। वे प्रकृति-प्रेरणा पर आश्रित रहते हैं। जीवनचर्या संबंधी उन्हें किसी तरह की छूट नहीं रहती और ढर्रे की जिंदगी जीते हैं, पर मनुष्य के साथ ऐसी कोताही नहीं की गई है। उसे स्वतंत्र स्वच्छंद जीवन जीने की पूरी छूट है, पर यह छूट मानवी गरिमा की परिधि तक में ही सीमाबद्ध है। इससे आगे बढ़ जाना उच्छृंखलता हुई और मानवी गरिमा के प्रतिकूल भी।

उपार्जन और संचय के संबंध में भी यही बात लागू होती है। भगवान ने अनेक प्रकार की स्वतंत्रता के साथ ही उपार्जन और संचय की भी मनुष्य के साथ उदारता बरती है। उसे पूरी स्वतंत्रता दी है, चाहे वह कितना भी उपार्जन और संचय करें, किंतु साथ में एक अनुबंध भी है कि उस उपार्जन और संचय का श्रेष्ठतम सदुपयोग हो। स्वयं पर मनुष्य उतना ही खरच करे जितना सामान्य स्तर की जिंदगी के लिए आवश्यक है और शेष विराट ब्रह्म की सेवा में लगाए सृष्टि की ओर से मानवी-गरिमा के अंतर्गत उपार्जन और उसके व्यय का ही निर्धारण है। परंतु हम में से अधिकांश इस क्षेत्र में उपेक्षा ही बरतते देखे जाते हैं। हम उपार्जन तो करते हैं, संग्रह भी करते हैं, परंतु उसका सदुपयोग हमसे नहीं बन पड़ता। उपार्जन का उपयोग हम अपनी ही साधन-सुविधा बढ़ाने में करते हैं और संचय को भावी-पीढ़ी के लिए छोड़ करते हैं। यह विशुद्ध स्वार्थ हुआ निम्नस्तरीय स्वार्थ। उच्चस्तरीय स्वार्थ उसे कहते हैं जो परमार्थ परक हो। साधन-सुविधा की दृष्टि से, उन्नति-प्रगति की दृष्टि से जितना ध्यान हम स्वयं पर देते हैं, उतना ही अन्यो पर भी दिया जाए, यही उच्चस्तरीय स्वार्थ हुआ और इसका क्रियान्वयन उपार्जन का श्रेष्ठतम सदुपयोग। ऋषि यह तथ्य यहाँ स्पष्ट करना चाहते हैं।

सत्प्रवृत्त्युदयायास्ते स्नेह आवश्यको यथा।

दुष्प्रवृत्तिं निरोद्धुं प्रखरताऽपेक्ष्यते तथा ॥ ७९ ॥

अनर्हेण ममत्वेन विकारो जायते तथा।

सुसंस्कारधिया न दुर्व्यवहारोऽपि चेष्टदः ॥ ८० ॥

स्नेहसंस्कारहेतोर्त्यः व्यवहारः स सर्वदा।

संयतश्च विवेकेन युक्तः कार्यो नैर्मृने ॥ ८१ ॥

इदं सन्तुलनं लोकजीवनस्यास्ति निश्चितम् ।

श्रेष्ठाऽथ सार्थकी चापि साधना शास्त्रसम्मतता ॥ ८२ ॥

चिन्तनस्य चरित्रस्य दृष्ट्वा व्यवहृतेस्तथा।

एतस्यां साधनायां स्वं पक्वं संसाधयेत्सदा ॥ ८३ ॥

मार्गेऽस्मिन् योऽभियात्यग्रे यावत्तस्यानुपातिकम्।

गौरवं वैभवं चापि लभते मंगलोन्मुखम् ॥ ८४ ॥

टीका—हे साधको सत्प्रवृत्ति उभारने के लिए स्नेह तथा दुष्प्रवृत्ति निरोध के लिए प्रखरता की आवश्यकता है। अनुचित प्यार से बिगाड़ होता है और सुधार के नाम पर किया गया दुर्व्यवहार भी अभीष्ट उद्देश्य पूरे नहीं करता। प्यार और सुधार के निमित्त किए जाने वाले व्यवहार में विवेक और संतुलन बनाकर रखा जाए। यह संतुलन लोक जीवन की श्रेष्ठ और सार्थक साधना है, साथ ही शास्त्र-सम्मत भी। चिंतन, चरित्र और व्यवहार की दृष्टि से अपने आपको इस साधना में खरा सिद्ध करने की हर किसी को चेष्टा करनी चाहिए। इस मार्ग पर जो जितना आगे बढ़ सकेगा उसे उसी अनुपात में मंगलमय गौरव एवं वैभव की प्राप्ति होगी ॥ ७९-८४ ॥

वीणा के तार को जब अधिक कस दिया जाता है, तो उसकी आवाज बिगड़ जाती है, एवं और अधिक कस देने पर उसके टूटने का भय रहता है। इसी प्रकार यदि उसे आवश्यकता से अधिक ढीला कर दिया जाए, तो भी उसमें वह मधुरता नहीं आ पाती है, जो अभीष्ट होती है। इसके लिए आवश्यक है कि तार को न तो अधिक कसा जाए, न ढीला ही रहने दिया जाए, अर्थात् ऐसी स्थिति में रखा जाए कि जिसमें तनाव और ढीलापन दोनों का समन्वय बना रहे। यह मध्यम स्थिति हुई। इसी स्थिति में उसके स्वर ठीक बने रहते हैं।

यह मानवी जीवन में भी अक्षरशः लागू होता है। बच्चों में सत्प्रवृत्तियों उभारने के लिए प्यार और दुलार का सहारा लेना पड़ता है। उन्हें स्नेहपूर्वक उसके लाभ समझाने पड़ते हैं और यह बताना पड़ता है कि इससे जीवन में महानता आती और सफलता मिलती है। यदा-कदा इसके लिए उन्हें छोटे स्तर के लोभ-लालच भी दिए जाते हैं। पौधों की वृद्धि जब रुक जाती है, तो उन्हें खाद के रूप में अतिरिक्त पोषण देना पड़ता है, किंतु यह पोषण इतना अधिक न हो जाए कि पौधा समय से पहले ही इतना बढ़ जाए कि वह अपना भार ही न सँभाल सके और गिर पड़े। बच्चों के मामले में भी इसका ध्यान रखना पड़ता है। लाड़-प्यार इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि वह निरंकुश हो जाए और अपनी मनमर्जी चलाए।

इसी प्रकार यदि उसके अंदर दुष्प्रवृत्तियाँ पनपने लगें, तो कड़ाई आवश्यक हो जाती है। पौधों में जब अनावश्यक

शाखाएँ निकल पड़ती हैं, तो उसकी शोभा बिगड़ जाती है, अस्तु उन्हें काट-छाँटकर निकालना पड़ता है, पर ऐसा करते वक्त ध्यान यह रखना पड़ता है कि कतर-व्योत इतना अधिक न हो जाए कि पौधा टूट जैसी स्थिति में पहुँच जाए। बालकों के साथ भी इसका ध्यान रखना पड़ता है। अधिक शासन, पाबंदी व कड़ाई रखने से बालक टूटने लगते हैं, उनकी आंतरिक वृद्धि रुक सी जाती है। फिर वे किसी कार्य में स्वतंत्र निर्णय लेने से कतराने लगते हैं और दबू प्रकृति के बन जाते हैं, अथवा कभी-कभी उस बंधन को तोड़कर बाहर आ जाते हैं एवं अभिभावक की चिंता न कर बगावत कर बैठते हैं। अतः कड़ाई तभी होनी चाहिए जब उसकी आवश्यकता महसूस हो। इमरजेंसी और राष्ट्रपति शासन हर वक्त नहीं लगाए जाते। जब स्थिति नियंत्रण से बाहर हो जाती है, तभी इनका प्रयोग किया जाता है। शासन को इससे दोहरा लाभ होता है स्थिति भी सँभल जाती है तथा इनकी गरिमा भी बनी रहती है, किंतु यदि लंबे काल तक ऐसे शासन लगे रहें तो संभवतः लोग फिर इनकी परवाह किए बिना अपने पुराने ढर्रे पर आ जाएँगे।

अतः ऐसे प्रकरणों में सदा संतुलन जैसी स्थिति बनाए रखनी पड़ती है। स्नेह और कड़ाई के पलड़ों को बराबर रखना पड़ता है। किसी भी ओर का पलड़ा झुकने पर कार्यसिद्धि संदेहास्पद बन जाती है ऋषि इसी का संकेत इन पंक्तियों में कर रहे हैं।

साधनास्ता व्यक्तिगामिस्तैरैभि - नियोजयेत्।

पारिवारिकगैश्चापि मुने सामाजिकैः स्तैरैः॥ ८५॥

संघस्तरेण चैतानि योक्तुं वृत्तिरपेक्ष्यते।

सहयोगस्य सर्वेषां योगपादस्तु यः स्मृतः॥ ८६॥

यो न दातुं न वा प्राप्तुं सहयोगं नरोऽर्हति।

असाध्यस्तस्य योगोऽस्ति निश्चितं ज्ञायतां मुने॥ ८७॥

टीका—इन साधनाओं को व्यक्तिगत स्तर पर भी चलाना चाहिए तथा पारिवारिक-सामाजिक स्तर पर भी। सामूहिक स्तर पर इन्हें चलाने के लिए सहयोग वृत्ति की आवश्यकता पड़ती है। हे जिज्ञासुओ सहयोग को योग का ही प्राथमिक चरण माना गया है। जिसे सहयोग पाना या देना कठिन लगता है, उसके लिए योग भी असाध्य है, हे मुनिवर यह निश्चित समझ लें॥ ८५-८७॥

सह अर्थात् साथ और योग अर्थात् जोड़ना अर्थात् स्वयं को दूसरों के साथ जोड़ना ही सहयोग है। योग इससे आगे की स्थिति है। इससे आत्मसत्ता को परमात्मसत्ता से जोड़ा जाता है, अतः बड़े स्तर का पराक्रम करना पड़ता है, आत्मपरिष्कार जैसी भूमिका संपादित करनी पड़ती है, तभी यह सफल हो पाता है। किंतु सहयोग में उदारता और करुणा

जैसे मानवी गुणों के विकास से भी काम चल जाता है। परिवार के सदस्यों की सहायता तो अपना सगा-संबंधी होने के नाते आवश्यक कर्तव्य मानकर करना पड़ता है अतः इन गुणों के न भी रहने से पारस्परिक सहयोग सहकार अजस्र रूप से चलता रहता है, परंतु अपने परिकर से बाहर भी यदि यह क्रम चलाना हो, तो इसके लिए अपने भीतर उन मानवोचित गुणों को विकसित करना आवश्यक होता है, जिससे परदुःख कातरता बन पड़े, जिसका अंतराल सूखा होता है, दुखितों-पीड़ितों को देख कर भी नहीं द्रवित होता, उससे सहायता भी कहाँ बन पड़ती है। चोर-डाकू आए दिन लोगों का नुकसान करते रहते हैं, नृशंसतापूर्वक रक्तपात और हत्याएँ करते हैं, ऐसे दृश्यों का उन पर कहाँ कुछ प्रभाव पड़ता है, अस्तु दैनिक जीवन में उनसे किसी की मदद भी नहीं बन पड़ती। इसीलिए करुणा उदारता को सहयोग का पर्याय माना गया है और सहयोग को योग का प्रारंभिक चरण, क्योंकि सहयोग में क्षेत्रीय स्तर पर आदान-प्रदान चलाना पड़ता है, जबकि योग में यह आत्मविस्तार बढ़कर विराटब्रह्म के स्तर तक जा पहुँचता है। इसी कारण ऋषि कहते हैं कि जो सहयोग का सफल संपादन कर लेता है, योग उसी के लिए सरल-साध्य पड़ता है।

महर्षिर्याज्ञवल्क्यः स चर्चा कुर्वन् समाप्तिगाम्।

उवाच साधकाः नृणां मार्गमार्गणतंत्रता॥ ८८॥

सैवं तपोयोगयोश्च साधना वरणाय हि।

प्रयोक्तव्येत्थमर्हत्स आत्मकल्याण हेतवे॥ ८९॥

लोकस्यापि हितायेशानुदानानि बलादिव।

आकर्षितानि कर्तुं हि याति चादर्शतां ततः॥ ९०॥

सत्प्रवृत्तिरुपादाय सुखी चापि समुन्नतः।

भवेद् यात्यध एवायं दुष्प्रवृत्तिरतो यदि॥ ९१॥

जगदेतत्समाकीर्णमशुभैश्च शुभैरपि।

तत्त्वैर्योगस्य मार्गस्य पथिकस्तत्र तत्र ते॥ ९२॥

सहायकाः प्रकृत्यैव समाकृष्टाः सदाञ्जसा।

मिलन्तीत्थं नरा यांति सीमामुत्थानपातजाम्॥ ९३॥

टीका—महर्षि याज्ञवल्क्य ने चर्चा का समापन करते हुए कहा हे साधक श्रेष्ठ मनुष्य को अपने मार्ग निर्धारण की जो स्वतंत्रता प्राप्त है, उसे इस प्रकार की तप और योगसाधना के वरण के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिए। ऐसा करके वह अपने लोककल्याण और लोकहित के लिए ईश्वरीय अनुदानों को बलात् आकर्षित कर सकता है तदंतर जगत का आदर्श बन जाता है। सत्प्रवृत्तियाँ अपनाकर वह सुखी समुन्नत बन सकता है और दुष्प्रवृत्तियों की दिशा में चल पड़े तो वह अपने अधःपतन का मार्ग भी स्वयं ही प्रशस्त करता है। यह संसार भले-बुरे तत्वों से भरा पूरा है। जो जिधर चलता है, उसे उस

५.३२ प्रज्ञोपनिषद्

मार्ग में सहायता करने वाले भी स्वभावगत आकर्षण से प्रेरित होकर अनायास ही मिलते रहते हैं और मनुष्य उत्थान-पतन की पराकाष्ठा तक जा सकता है ॥ ८८-९३ ॥

ऋषि कहते हैं कि मनुष्य को जो मार्ग निर्धारण की स्वतंत्रता मिली है, उसका वह दुरुपयोग न करे। वह स्वयं को पहचानें, लक्ष्य जाने और उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्न-प्रयास करे। वह आत्मा है और आत्मा एक लक्ष्य परमात्मा से मिलन का है, किंतु इस मार्ग में एक बाधा आती है वह है जन्म-जन्मांतरों के संचित कुसंस्कार। जैसे संस्कार होते हैं, मन उसी ओर प्रवृत्त होता है। अतः उस परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि मन को अंतःकरण को कुसंस्कारों से मुक्त किया जाए। इसके लिए तप और योग स्तर की साधनाएँ बताई गई हैं। तप से अंतःकरण को सुसंस्कारी बनाया जाता है और योग से मन को नए ढाँचे में ढाला जाता है। इतना सब संपन्न कर अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के बाद ही ईश्वरीय अनुदानों की साधक पर वर्षा होती है, जिससे उसका आत्मकल्याण तो होता ही है, उपलब्ध विभूतियों से लोककल्याण करते रहकर दुहरा प्रयोजन पूरा करने में वह

सफल होता है। किंतु जो ऐसा नहीं कर पाते, अधोगामी प्रवाह में बह जाते हैं, वह पतन-पराभव के गर्त में जा गिरते हैं, और यह दुर्लभ मनुष्य जन्म गँवा देते हैं।

तृतीयस्य दिनस्येदं पीयूषपरिवर्षणम् ।

यत्तेन सत्रसंस्थास्ते तोषं जिज्ञासवो ययुः ॥ ९४ ॥

भ्रातिनाशे रहोज्ञाने मनः स्वास्थ्यं कियद्भवेत् ।

इति ज्ञातं समैस्तत्र प्रत्यक्षज्ञानसत्रके ॥ ९५ ॥

सायं सन्ध्यां विलोक्याथ समाप्तिं सत्रमभ्यगात् ।

जिज्ञासवो नमंतश्च कुटीराभिमुखा ययुः ॥ ९६ ॥

टीका—तीसरे दिन की इस अमृत वर्षा से सत्र में सम्मिलित सभी जिज्ञासुओं को बहुत संतोष मिला। भ्रातियाँ मिटने और तथ्यों की यथार्थता विदित होने पर मन कितना हल्का और प्रसन्न होता है इसका प्रत्यक्ष अनुभव उस ज्ञान-सत्र में उन सभी ने किया। सायंकाल का उपासना-काल निकट आया देखकर नियत समय पर सत्र विसर्जित हुआ और जिज्ञासु वर्ग अभिवंदन प्रक्रिया को पूर्ण करते हुए अपने-अपने कुटीर-पक्षों की ओर चला गया ॥ ९४-९६ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युग दर्शन युग साधना प्रकटीकरणयोः,
महर्षि जरत्कारु याज्ञवल्क्य संवादे व्यावहारिक तपोयोग इति प्रकरणो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

आत्मबोध-प्रकरणम्

यथाक्रमं समारब्धं ज्ञानसत्रं समागताः ।

समये नियतस्थाने तत्त्वार्थमृषयः समे ॥ १ ॥

चतुर्थे दिवसे तत्र प्रज्ञासत्रस्य सोंऽगिराः ।

ब्रह्मविद्यारुचिर्नम्रः सत्राध्यक्षमथाब्रवीत् ॥ २ ॥

टीका—यथाक्रम ज्ञान सत्र आरंभ हुआ। ऋषि-मनीषिणः यथासमय नियत स्थान पर तत्त्वचर्चा के लिए एकत्रित हुए। प्रज्ञा सत्र के चौथे दिन ब्रह्मविद्या में अगाध अभिरुचि रखने वाले अंगिरा ने सत्राध्यक्ष से विनयावनत् हो पूछा ॥ १-२ ॥

अंगिरा उवाच-

मान्या विगतकाले यदमृतं प्राप्तुमुत्सुकैः ।

अस्माभिः कृतकृत्याश्च वयं शंकाकुलाः पुनः ॥ ३ ॥

ज्ञानमात्रेण चैतेषां लाभान् मर्त्योऽतिदुर्लभान् ।

प्राप्तुमर्हति किं ? ज्ञात्वा नो पथिश्रेयसा चलेत् ॥ ४ ॥

तथ्यं किञ्चिदविज्ञातं मन्ये तत्रावशिष्यते ।

यतो नैतद् भवत्येषां ग्रंथिर्नश्छिद्यतां मुने ॥ ५ ॥

टीका—अंगिरा बोले, मान्यवर आपने पिछले दिनों जो अमृत पान कराया, उससे हम कृतकृत्य हुए लेकिन एक शंका हमें अभी भी व्यग्र कर रही है कि क्या यह सब जान लेने मात्र से ही मनुष्य उन दुर्लभ लाभों को पा सकेगा ? देखा यह जाता है कि जानकार भी मनुष्य श्रेय पथ पर गतिशील नहीं हो पाता। लगता है कोई ऐसा तथ्य अविज्ञात रह गया है जिसके कारण वह सुयोग नहीं बन पाता। कृपया इस उलझन को और भी सुलझावें ॥ ३-५ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच-

गहनं मार्गणं ये तु भवतामिव कुर्वते ।

सत्यमुच्चस्तरं ब्रह्मन् सत्यं द्रष्टुमीश्वराः ॥ ६ ॥

ब्रह्मवेत्तुत्वाभं ते पूर्णतां लक्ष्यमां तथा ।

प्राप्नुवन्ति न चान्येऽत्र सफलाः संभवन्ति हि ॥ ७ ॥

टीका—तत्त्वज्ञानी याज्ञवल्क्य जी बोले, ब्रह्मविज्ञान में अनुसंधानरत हे ब्रह्मचारी आप जैसी गहरी खोज करने वाले ही उच्चस्तरीय सत्य का दर्शन कर पाते हैं। उन्हें ही ब्रह्मवेत्ता होने का लाभ मिलता है और वे ही पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त

करते हैं, अन्य लोग इसमें सफल नहीं हो सकते ॥ ६-७ ॥

अध्यात्मदर्शन का सूत्र जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ अक्षरशः सही है। जो ढूँढ़ता है, वही पाता है, किंतु जो परिश्रम करने से जी चुराता है, उसे कहाँ कुछ हस्तगत हो पाता है।

तैरने की इच्छा रखने वाले तैराक को गहरे पानी में उतरना पड़ता है, तभी उसे उसका आनंद मिल पाता है, पर जो गहराई में जाने से डरते हैं, वे उस आनंद से वंचित रह जाते हैं।

गोताखोर के लिए यह आवश्यक है कि वह समुद्र की अतल गहराई में डुबकी लगाए, तभी मूँगा-मोती जैसे बहुमूल्य रत्न मिल पाने का सुयोग बन पाता है। जो यह साहस नहीं सँजो पाते, उथले प्रयास भर करते हैं, उन्हें निराशा ही हाथ लगती है।

आत्मक्षेत्र में भी यही बात लागू होती है। जो निरंतर अनुसंधानरत रहते हैं, वही इस क्षेत्र के मणि-माणिक्य उपलब्ध कर ब्रह्मपरायण बनने का लाभ हस्तगत कर पाते हैं, मगर जो तैराक, गोताखोर की भाँति गहराई में जाने से कतराते हैं, उथले प्रयास करते और ढूँढ़ खोज के नाम पर लकीर भर पीटते हैं, उन्हें करतलगत कुछ नहीं हो पाता और सदा छूँछ रहते हैं। इसी तथ्य को ऋषि ने यहाँ स्पष्ट करते हुए जिज्ञासु साधकों की तथ्यान्वेषी बुद्धि को सराहा है।

महत्ता ज्ञानजा तात ! शास्त्रैः सत्पुरुषैरपि।

एकस्वरेण गीतोक्ता विश्वश्रेष्ठोपलब्धि का ॥ ८ ॥

ज्ञानं तत्केवलं नैव ज्ञानमात्रे तु सीमितम्।

ज्ञातं बोधस्तरं यावद् विकास्यं ज्ञानमुच्यते ॥ ९ ॥

प्रशंसितमिदं सर्वैर्मुक्तकंठेन निश्चितम्।

बोधस्य विविधा धारा विज्ञानेनान्वयति तत् ॥ १० ॥

अंतःक्षेत्रविशिष्टानि ज्ञानान्येव मतानि तु।

स्वस्वक्षेत्रस्य तान्यत्र विज्ञानानि महामुने ॥ ११ ॥

एतादृशस्य ज्ञानस्योपार्जनं सौभगं नृणाम्।

पुरुषार्थः परः प्रोक्तो जगन्मंगलकारकः ॥ १२ ॥

प्राप्तुं ज्ञानामृतं सर्वे भवन्तो यादृशं सदा।

तत्त्वचर्चा विचाराणां मन्थनं कुर्वते तथा ॥ १३ ॥

ताभ्यां तथोपलब्धींश्च करिष्यन्त्यर्जिता यथा।

आदिकाले समुद्रस्य मन्थनेनार्जिताः सुरैः ॥ १४ ॥

टीका—हे तात् ज्ञान की महत्ता शास्त्रों और सत्पुरुषों ने एक स्वर से गाई है, उसे विश्व की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि कहा है, किंतु वह ज्ञान मात्र जानकारी तक ही सीमित नहीं है। जानकारी को बोध के स्तर तक विकसित किया जाए तभी वह ज्ञान बनता है, जिसकी प्रशस्ति मुक्त कंठ से की जाती रही है। बोध की अनेकों धाराएँ हैं जो मात्र जानकारी को उनसे संबंधित विज्ञान से जोड़ देती हैं। अंतःक्षेत्र के विशिष्ट

ज्ञान अपने-अपने स्तर के विज्ञान कहे जाते हैं—ऐसा ज्ञान उपार्जन ही मनुष्य का सर्वोपरि पुरुषार्थ और सौभाग्य है, जो जगत का कल्याण करने वाला है। आप लोग ज्ञानरूपी अमृत प्राप्ति के लिए जिस प्रकार तत्व चर्चा और विचार मंथन कर रहे हैं, उससे वैसी ही उपलब्धियाँ अर्जित करेंगे जैसी कि आदिकाल में देवताओं द्वारा समुद्रमंथन से उपार्जित की गई थीं ॥ ८-१४ ॥

ज्ञान का मोटा अर्थ जानकारी है। कामचलाऊ ज्ञान-जानकारी तो प्रायः सभी को होती है, पर जिस ज्ञान की चर्चा यहाँ ऋषि कर रहे हैं, उसका तात्पर्य बाह्य जानकारी भौतिक ज्ञान से नहीं है। अध्यात्म तत्त्वज्ञान में इस ज्ञान को विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया गया है और उसकी विरुदावली गाते हुए यहाँ तक कहा गया है कि न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते अर्थात् ज्ञान से बढ़कर पवित्र इस संसार में और कुछ नहीं है। इसीलिए ऋषि ने भी यहाँ उस ज्ञान को उपलब्ध कर उसका अमृत पान करने पर जोर दिया है।

अध्यात्म में ज्ञान सत्य को कहा गया है। विभिन्न स्तोत्रों से हम जो जानकारी अर्जित करते हैं, वह ज्ञान सत्य नहीं है। वह तो अवास्तविक है बाह्य है, अज्ञान है। इसी अज्ञान के कारण हमें यह संसार उसके प्राणी, वस्तुएँ कुछ के कुछ भासते हैं, हम स्वयं को भी हाड़-माँस का पुतला भर मानते हैं, पर वस्तुतः ऐसा है नहीं। सत्य वह है, जो नहीं बदलता, न नष्ट होता न मरता और न क्षय होता है। इसी शाश्वत सत्य को, यथार्थ को जान लेना ही वास्तविक ज्ञान है।

शास्त्रों में ज्ञान की तुलना सूर्य से की गई है। सूर्य जब उदित होता है, तो अंधकार के साम्राज्य को नष्ट कर देता है, तो उसका अज्ञानांधकार स्वतः समाप्त हो जाता है, फिर उसे जो कुछ दीखता है वह सत्य होता है और उसकी यह स्थिति कल्याणकारी, सर्वसमर्थ, सर्ववेत्ता जैसी होती है। इसीलिए ऋषि ने तमसोमा ज्योतिर्गमय कहकर उस दिव्य ज्ञान को प्राप्त करने की आकांक्षा परमसत्ता से प्रकट की है। मनुष्य के इसी स्वरूप का उद्घोष शास्त्रकार ने य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति के रूप में किया है। ऋतंभरा प्रज्ञा के रूप में इसी ज्ञान को अर्जित करने की प्रेरणार्थ ग्रंथों में दी गई है।

इस आत्मिक ज्ञान, आत्मबोध की लक्ष्य सिद्धि ही मनुष्य जीवन का उद्देश्य है। इसी का विवेचन अनुसंधान आत्मिकी की ज्ञानयोग धारा के अंतर्गत किया जाता है।

जिज्ञासवः समस्ता हे अंगिरः प्रमुखा इह।

स्थूलः परिचयो नृणां शरीरेणैव प्राप्यते ॥ १५ ॥

दृश्यत्वान्नामरूपाभ्यां युक्तः कायोऽभिमन्यते।

कर्मकर्ता तदाश्रित्य दंड्यतो पूज्यतेऽपि च ॥ १६ ॥

नेयं श्रेष्ठा मता लोकमान्यता बुधसत्तमैः।

५.३४ प्रज्ञोपनिषद्

करणं तु शरीरं हि मनः स्वामिनिदेशगम् ॥ १७ ॥

मनुष्यत्वस्य रूपं तत्सत्यं मानवचिंतने ।

चेतनायां च प्रच्छन्नं तस्यैव स्तर एष च ॥ १८ ॥

शोभनोऽशोभनः स्वस्य प्रकृत्याऽऽकांक्षयापि च ।

सन्मार्गे वा कुमार्गे वा चलितुं प्रेरयत्यलम् ॥ १९ ॥

अत एव विनिर्मेयश्चेतनायाः स्तरः सदा ।

ऊर्ध्वगाः कर्मणीहस्यानैष्कृत्यं संसृतेः स्तरात् ॥ २० ॥

टीका—हे अंगिरा सहित समस्त जिज्ञासुओ मनुष्य का स्थूल परिचय उसके शरीर से मिलता है। दृश्यमान होने के कारण नामरूपधारी काया ही कर्मकर्ता मानी जाती है और इसी आधार पर उसे दंड-पुरस्कार की उपलब्धि भी होती है, किंतु विद्वानों का मत है कि यह लोकमान्यता सही नहीं है। वस्तुतः शरीर उपकरण मात्र है, उसे वाहन की तरह मनरूपी स्वामी का निर्देश पालना पड़ता है। मानवी सत्ता का वास्तविक रूप तो उसकी चिंतन-चेतना में छिपा होता है। उसी का भला-बुरा स्तर अपनी आदतों और आकांक्षाओं के अनुरूप सन्मार्ग-कुमार्ग पर चलने की प्रेरणा उत्पन्न करता है। इसी कारण चेतना के स्तर को ही ऊर्ध्वगामी बनाया जाना चाहिए। ऐसा न बन पड़े तो कर्म में विश्व प्रवाह के अनुरूप निकृष्टता ही बनी रहेगी ॥ १५-२० ॥

सर्वविदित है, हर प्राणी के क्रिया-कलाप उसके चेतनात्मक स्तर के अनुरूप ही होते हैं। कई बार देखा जाता है कि मानवी शिशु बिछुड़कर जब जंगली जानवरों के झुंड में सम्मिलित हो जाता है, तो अपना व्यवहार, चाल-ढाल उसी के अनुरूप बना लेता है। यह चेतनात्मक अधोगमन हुआ। आम जीवन में भी आदतों-आकांक्षाओं, वासनाओं, तृष्णाओं के रूप में जो निकृष्टता-क्षुद्रता दिखाई पड़ती है, वह भी उसी अधोगामी चेतना का ही परिणाम है, किंतु गहराई से विचारें तो ज्ञात होगा कि मनुष्य का चेतनात्मक स्तर प्रकृतितः इतना निम्न है नहीं, वह उसे जान-बूझकर क्षुद्र प्राणियों जैसा बना लेता है।

ज्ञातव्य है, प्राणियों का जिस क्रम में उद्भव-विकास होता गया, उनका चेतनात्मक स्तर भी तदनुसार ऊँचा उठता गया। चींटी जैसे छोटे जीव-जंतु में चेतना का स्तर काफी निम्न होता है। वे प्रकृति प्रेरणा से ही अपना काम चलाते हैं। उनसे कुछ विकसित जीव बंदर, कुत्ते, बिल्ली आदि हैं। इनका भी काम प्रकृति प्रेरणा से ही होता है, पर उनमें कुछ सीखने-समझने की भी सामर्थ्य होती है। चिम्पांजी इनसे भी विकसित है, अस्तु उसमें कुछ हद तक सोचने की भी क्षमता पाई जाती है।

इस चेतना का चरमोत्कर्ष मनुष्य में हुआ है, क्योंकि इसे सर्वांगीण प्राणी बनाकर इस धरित्री पर भेजा गया है। उसमें

सोचने-समझने से लेकर भूल सुधारने-ऊँचा उठाने स्वभाव संवेदना की गहराई तक की क्षमताओं का समावेश स्पष्टा ने किया है और उसे सर्वोपरि बनाया है, पर इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि मनुष्य इतनी समर्थ स्थिति में पहुँचकर भी निम्न योनि के जीवों जैसा ही अपने क्रियाकलाप रीति-नीति चिंतन चरित्र बनाए रखता और दीन-हीन स्थिति में पड़ा रहता है। वह चाहे तो अधोगामी दिशाधारा अपनाते हुए, क्षुद्र अहमक बन सकता है अथवा ऊर्ध्वगमन करके सर्वसमर्थ सर्वज्ञ स्थिति तक पहुँच सकता है। महामानव, महापुरुष इसी चेतना को परिष्कृत कर, उसके स्तर को ऊँचा उठाकर, ऊर्ध्वगामी बनाकर ऊँचा उठते और महान बनते हैं। इसी स्थिति में उनके अंतःप्रवाह के विपरीत मछली जैसा चल पड़ने का सत्साहस जगता और वह पराक्रम प्रस्तुत करने का सुयोग बन पड़ता है, जो एकाकी प्रयास से सामान्यजन प्रस्तुत नहीं कर पाते।

आदर्शवादिनी शिक्षा याति नान्तर्यदि स्वयम् ।

व्यवहारे न साऽऽयाति श्वासवत्क्रियते बहिः ॥ २१ ॥

बाह्या ये ह्युपदेशास्ते ज्ञानमात्रं ददत्यदः ।

निर्भरं मानवे कं स उपदेशं समाश्रयेत् ॥ २२ ॥

अन्यथा कर्तुमिच्छायाः स्तरं सहमतं मनः ।

कर्तुं तदिष्यते कार्यं चेदं संभवमस्ति च ॥ २३ ॥

चित्तोद्बोधनयोग्याभिः साधनाभिस्तपोबलैः ।

पूर्णो ब्रह्मज्ञ एतद्वा प्रेरयेत्सरलं भवेत् ॥ २४ ॥

गहनेनात्ममन्थेनाप्येतत् संभवति स्वतः ।

ज्ञानस्य स्वप्रकाशयत्वाज्ज्ञानवत्त्वमथात्मनः ॥ २५ ॥

टीका—आदर्शवादी शिक्षण अंतराल तक न पहुँचने पर जीवन में उतर नहीं पाते और कुछ ही क्षणों में श्वाँस-प्रश्वाँस की तरह बाहर निकालकर फेंक दिए जाते हैं। बाह्य उपदेश तो मनुष्य को जानकारी भर देते हैं। उनमें से कौन किसको, कितनी मात्रा में हृदयंगम करे यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। इस इच्छा का स्तर बदलने के लिए अंतःकरण को सहमत करना पड़ता है। यह कार्य या तो अंतराल को जगाने वाली साधना-तपश्चर्या द्वारा संभव है या फिर कोई पारंगत ब्रह्मज्ञानी अपनी पुण्य-प्रेरणा देकर उस प्रयोजन को सरल बनाता है। गहन आत्म-मंथन से भी यह कोई संभव हो सकता है, क्योंकि आत्मा ज्ञानवान होता है। और ज्ञान स्वप्रकाश भी है ॥ २१-२५ ॥

ऋषि यहाँ अंतःकरण को सुसंस्कारी बनाने के तीन उपाय सुझाते हैं।

(१) साधना तपश्चर्या द्वारा ।

(२) ब्रह्मज्ञानी की पुण्य-प्रेरणा द्वारा ।

(३) गहन आत्म-मंथन द्वारा ।

साधना-तपश्चर्या का प्रयोग आरंभ से ही आत्मशोधन-आत्मपरिष्कार के रूप में किया जाता रहा है। साधना कहते हैं जीवन साधना को। जीवन में जो भी अनुपयुक्त ताँ-अवांछनीयताएँ हेय स्तर की इच्छाएँ-आकांक्षाएँ घुस पड़ी हों, उन्हें बलपूर्वक निष्कासित कर जीवन को अनुशासित बनाना यह साधना है। तपश्चर्या अर्थात् तप। तप का अर्थ होता है तपाना। जिस प्रकार धातु शोधन के लिए उसे अग्नि से संस्कारित करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार मनुष्य को भी अपने कुसंस्कारों को घटाने-मिटाने के लिए स्वयं को संयम रूपी तपश्चर्या में तपाना पड़ता है। इससे उत्पन्न ऊर्जा से ही अंतःकरण की कुसंस्कारिता का निष्कासन और सुसंस्कारिता अभिवर्द्धन शक्य-संभव हो पाता है।

यह कार्य तत्त्वज्ञानी-ब्रह्मज्ञानी के संपर्क सान्निध्य से भी संपन्न किया जा सकता है। सर्वविदित है, अध्यात्म क्षेत्र में श्रद्धा को आधारभूत तत्त्व कहा गया है। इसी के माध्यम से गुरु-शिष्य के मध्य संपर्क-मार्गदर्शन का प्रेरणा-प्रवाह चलता है। ज्यों-ज्यों श्रद्धा का आरोपण घनीभूत होता जाता है, यह प्रवाह भी तदनुरूप संपर्क जैसी कोई बात नहीं होती, फिर भी चेतना-प्रवाह इतना तीव्र होता है, कि यदि व्यक्ति उसे आत्मसात् करता रहे, तो आत्मशोधन-सुसंस्कारिता अभिवर्द्धन की प्रक्रिया उसके लिए सरल-सहज बन जाती है।

अंतराल को सुसंस्कारी बनाने के तीसरे उपाय के रूप में ऋषि आत्ममंथन की प्रक्रिया समझाते हैं। प्रायः इस क्षेत्र में जनसामान्य से जो आम भूल होती है, वह यह कि वह स्वयं को आत्मा न मानकर शरीर मान बैठता है और उसी की सेवा-सुश्रूषा, उन्नति-प्रगति, साज-सँभाल में निरत रहने लगता है। वस्तुतः यही वह मौलिक भूल है, जिसके कारण उससे अनैतिकताएँ-अवांछनीयताएँ बन पड़ती हैं और कषाय-कल्मषों के रूप में वे उसके अंतराल को घेर लेती हैं। इससे बचने का एक ही उपाय है कि हम अपना सही स्वरूप-आत्मस्वरूप समझें और उसे जानने प्राप्त करने का प्रयत्न करें। इसके लिए जिस साधना अनुशासन का आश्रय लिया जाता है वह है आत्ममंथन, आत्मचिंतन, आत्ममनन। कहा भी गया है आत्मा वाऽरै ज्ञातव्य श्रोतव्यः मंतव्यो अर्थात् आत्मा सुनने और मनन करने योग्य है। इसी के द्वारा उसकी अनुभूति और प्राप्ति संभव है। विद्वज्जन उसी अक्षय, अविनाशी, अजर, अमर, आत्मा का चिंतन करते हैं। लौकिक जीवन से उतना ही संबंध रखते हैं, जिससे समाज और शरीर का काम चलता रहे, अन्यथा आत्मा के गुणों और उसे समुन्नत बनाने का चिंतन ही उनका स्वभाव होता है। उसी में उन्हें असीम तृप्ति मिलती है।

प्रभावितं नरं कर्तुं चत्वारो हेतवो मताः।

पूर्वसञ्चित-संस्काराः स्वाभ्यासाः स्वजनाग्रहाः ॥ २६ ॥

समीपवर्त्ति यच्चैतद्वातावरणमस्ति तु।

चत्वारिमानिबध्नन्ति बन्धनेऽवाञ्छिते नरम् ॥ २७ ॥

एतादृशा नराः संति पाषाणहृदयास्ततः।

ज्ञानशिक्षावर्षणेन नार्द्रता तत्र जायते ॥ २८ ॥

टीका—हे तात मनुष्य को प्रभावित करने वाले चार कारण हैं पूर्वसंचित संस्कार, वर्तमान में पाले गए अभ्यास, प्रियजनों का आग्रह और समीपवर्ती वातावरण। ये चारों ही मनुष्य को अवांछनीयता के बंधन में जकड़ लेते हैं। ऐसे मनुष्य उस चट्टान जैसे कठोर हो जाते हैं, जिस पर सद्ज्ञान शिक्षण की वर्षा से भी कोई नमी नहीं आती ॥ २६-२८ ॥

यहाँ व्यक्ति को प्रभावित करने वाले चार कारक बताए गए हैं पूर्वजन्मों के संस्कार, इस जीवन के आदत-अभ्यास, स्वजन-संबंधियों का अनुरोध और स्थानीय वातावरण।

संस्कारों के बारे में कहा जाता है कि वह जीव से छाया की तरह चिपके रहते हैं और अपने बुरे-भले प्रभाव छोड़ते हैं। जीव के पिछले संस्कार जैसे रहते हैं, उसकी झलक इस जन्म में भी दिखाई पड़ती है। मनुष्य के पिछले जन्म की इच्छाएँ-आकांक्षाएँ, आस्थाएँ, मान्यताएँ विचारणा-भावना जैसी रहती है, उसका वर्तमान जीवन भी उसी के अनुरूप बन जाता है। इसी कारण व्यक्तित्व बनाने-बिगाड़ने में संस्कार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, क्योंकि जीव उस पूर्व के अभ्यास को पूरी तरह भुला नहीं पाता और स्वतः उन आदतों-अभ्यासों की ओर आकृष्ट हो जाता है। इस संदर्भ में भगवान बुद्ध के एक शिष्य की वह कथा ध्यातव्य है, जिसमें वह बार-बार मठ के समीपवर्ती आम्रवृक्ष की ओर आकृष्ट हो जाता था और दिन-रात उसी के नीचे जप-ध्यान किया करता, जबकि अन्य सभी आश्रम परिसर में रहते। शिकायत जब तथागत तक पहुँची, तो उनसे कारण स्पष्ट करते हुए रहस्य उद्घाटित किया और बताया कि पिछले जन्म में इसे शुक्योनि प्राप्त थी और वह उसी पेड़ पर निवास करता था। उस पूर्व संचित संस्कार के कारण ही उसका मोह उस तरुवर से टूट नहीं पाया है, जिससे स्वभावतः उधर आकर्षित हो जाता है।

ऐसी होती है संस्कार की प्रबलता की वह जीव को उसकी पुरानी प्रवृत्ति की ओर घसीट ले जाती है और वह करने पर विवश कर देती है, जो आदर्शवादिता और न्यायनिष्ठा के विपरीत हो।

इसी प्रकार अवांछनीयता अभ्यास जब आदत में उतर आता है, तो वह व्यावहारिक जीवन का एक अभिन्न अंग बन जाता है और फिर जाने-अनजाने उसकी आवृत्ति होने लगती है।

५.३६ प्रज्ञोपनिषद्

जुआरी को जब जुए में रस आने लगता है, तो धीरे-धीरे यह एक व्यसन का रूप धारण कर लेता है, फिर उसे जुआ खेले बिना चैन नहीं आता।

मादक द्रव्यों, नशों का सेवन करने वालों को जब एक बार चस्का लग जाता है तो फिर वे इसके चंगुल से निकल नहीं पाते। व्यभिचारियों की भी यही गति होती है। वे दिन-रात वेश्यालयों की खाक छानते फिरते हैं। ऐसे ही जब कोई अश्लील शब्द आदतवश वाणी में उतर आता है तो जाने-अनजाने उसकी पुनरावृत्ति होने लगती है। ऐसी ही अनेकानेक वर्जनाएँ हैं, जो अभ्यासवश मनुष्य अपने जीवन में उतार लेता है और उसका आदी बन जाता है। यदि व्यक्ति इन अवांछित अभ्यासों से बचा रहे, तो इनके कुप्रभावों से बचा रहना सहज संभव हो जाता है तथा जीवन में ऊँचा उठना भी सरल पड़ता है।

बंधु-बांधवों के आग्रह-अनुरोध भी मनुष्य को कोई कम प्रभावित नहीं करते। देखा जाता है कि बच्चा न्यूनाधिक उन्हीं प्रवृत्तियों में ढल जाता है जैसी उसके अभिभावकों की होती है। इसमें उनके लाड़-प्यार, डाँट-फटकार की ही मुख्य भूमिका रहती है। फिर जब बच्चा बड़ा होता है, तो उनके बीच का मोहपाश इतना सघन होता है कि उचित-अनुचित जैसे भी प्रस्ताव आते हैं, उसे नकारते नहीं बनता और इच्छा-अनिच्छा से पूरा करना पड़ता है। क्रिया जब आदत में परिवर्तित होती है, तो फिर व्यक्तित्व का एक अंग बन जाती है।

मनुष्य को प्रभावित करने वाला चौथा और सबसे महत्वपूर्ण कारण है वातावरण। वातावरण की समर्थता सर्वविदित है। इसमें बनाने और बिगाड़ने की चुंबकीय व्यक्ति त्वों जैसी क्षमता होती है। बालकों को जैसा वातावरण मिलता है, उनके गुण, कर्म, स्वभाव वैसे ही ढल जाते हैं, भौंरा, झींगुर को एक विशेष वातावरण में रख अपनी बिरादरी का बना लेता है, ऋषिकाल में गाय और शेर के एक ही घाट में पानी पीने की कथा प्रसिद्ध है। सामान्य-सा व्यक्ति भी जब पुलिस का अदना सा सिपाही बन जाता है, तो उसी प्रकार का रौब-दाब दूसरों पर दिखाने लगता है। मुरगी के अंडे जब उसकी छाती के नीचे पकते हैं, तभी चूजे के रूप में विकसित हो पाते हैं। मैसूर के चंदन के बारे में प्रसिद्ध है कि उसमें विशिष्ट सुगंध पायी जाती है।

प्रकारांतर से यह सब संसर्ग और वातावरण के ही प्रभाव हैं, जो मनुष्य में भी अक्षरशः लागू होते हैं। संत-सज्जनों की संगति से उसमें श्रेष्ठता का अभिवर्द्धन होता है, पर दुष्ट-दुर्जनों का कुसंग उसे पतनजन्य पराभव में पहुँचा देता है। कलार की दुकान और नशेबाजी के अड्डों का अपना एक चुंबकीय क्षेत्र होता है, उसके प्रभाव से व्यक्ति अनायास उधर

खिंचने लगता और दुर्मतिजन्य दुर्गति उठाता है। यह सब सामान्यजनों के प्रकरण हुए।

वरिष्ठ व्यक्तियों का मनोबल इससे भिन्न होता है। उनकी निज की प्रतिभा एवं प्रखरता इतनी पैनी और तीखी होती है कि स्वयं वातावरण के प्रभाव में न आकर वातावरण को अपने प्रभाव में ले आते व उसे अपने अनुरूप बना लेते हैं। रस्सी खींचने के खेल में जिस ओर ताकत अधिक होती है, उसी ओर खिंचाव बढ़ता जाता है और वही पक्ष विजय प्राप्त करता है। मनस्वी ऐसे ही स्तर के होते हैं।

उपरोक्त के ये चारों ही प्रकरण ऐसे हैं, जो सामान्य व्यक्ति पर बड़े अमिट छाप छोड़ते हैं। इनमें ढला व्यक्तित्व फिर फौलाद की भाँति ऐसा कठोर हो जाता है कि किसी शिक्षण-उपदेश का कोई असर नहीं पड़ता। पका बाँस कहाँ झुक पाता है। पके घड़े को मिटाकर खिलौना कैसे बनाया जा सकता है। सामान्यजनों पर भी इनके प्रभाव ऐसे ही दिखाई पड़ते हैं।

चक्रव्यूहाद् बहिर्गन्तुं ज्ञानलोकं च दीपितुम्।

श्रेयोऽर्थी विविधानत्र विधीन्नुनं समाश्रयेत्॥ २९॥

अभ्यस्ताया वृतेर्गत्वा प्रेरणाप्रदसंवृतौ ।

निवासः कार्य एतस्मिन् संगतिः प्रभवत्यलम्॥ ३०॥

वातवृत्तिर्न चायाति परिवर्तनतां यदि।

कठिनं दृश्यते दृष्टौ स्वभावे परिवर्तनम्॥ ३१॥

तीर्थसेवनधर्मानुष्ठानादीन्यत एव तु।

कुर्वति स्म, लभते च प्राणतां महतां ततः॥ ३२॥

सत्संगति - समग्रत्वं परामर्शेन वा पुनः।

प्रवचनैर्न परं सिद्ध्येतत् तत्त्वतिसन्निधौ ॥ ३३॥

टीका—इस चक्रव्यूह से निकलने और आत्मज्ञान का आलोक जगाने के लिए श्रेयार्थी को कई उपाय अपनाने होते हैं। अभ्यस्त वातावरण से हटकर कहीं प्रेरणाप्रद वातावरण में निवास करना पड़ता है। संगति का प्रभाव पड़ता ही है। वातावरण न बदले तो दृष्टिकोण और स्वभाव का बदलना कठिन है। तीर्थसेवन जैसे धर्मानुष्ठान इसी उद्देश्य के लिए किए जाते हैं। महामानवों के सान्निध्य से उनकी प्राण ऊर्जा का लाभ मिलता है। सत्संग की समग्रता प्रवचन-परामर्श से नहीं, घनिष्ठ सान्निध्य से उपलब्ध होती है ॥ २९-३३ ॥

आत्मज्ञान का आलोक जगाने और प्रखरता उभारने की प्रक्रिया समझाते हुए ऋषि कहते हैं कि इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति को अभ्यस्त वातावरण से हटकर कहीं उत्तम स्तर की परिस्थितियों में रहने और प्रेरणाप्रद वातावरण में ढलने का अवसर दिया जाए, अन्यथा पुस्तकीय ज्ञान वाली शिक्षा मनुष्य के चरित्र को उत्कृष्ट ढाँचे में न ढाल सकेगी। पुस्तकों में व्यक्तित्व निर्माण-आत्मोत्थान की नागरिकता

और सामाजिकता की शिक्षा का उल्लेख हो सकता है, विद्यार्थी उसे रट भी सकते हैं, किंतु उसे वे जीवनचर्या में भी उतार लें यह आवश्यक नहीं।

खेत को जोतने और बोने की प्रक्रिया आवश्यक है, किंतु खाद-पानी के बिना बात पूरी नहीं होती। फसल काटने और सुसंपन्न बनने का अवसर नहीं आता। मनुष्य का चिंतन सज्जनोचित होना चाहिए, उसमें आदर्शवादिता के तत्वों का समावेश होना चाहिए। यह मानसिक शिक्षण, स्वाध्याय, सत्संग के माध्यम से पठन और परामर्श द्वारा होता है। यह आवश्यक चिंतन को सही दिशा देने के लिए है फिर भी यह नहीं मान बैठना चाहिए कि व्यक्तित्व को प्रखर बनाने में इतना भर कर लेने से काम चल जाएगा। साथ ही यह भी आवश्यक है कि विचारों के अनुरूप वातावरण में रहने और निर्धारणों को चरित्र एवं व्यवहार में उतारने का अवसर मिले। व्यक्ति वैसे ही वातावरण में भी रहे। संपर्क क्षेत्र के लोगों को वैसे ही आचरण करते देखे, ताकि वैसे ही अनुकरण करने की प्रेरणा मिले।

पुरातन काल में गुरुकुलों की शिक्षण पद्धति यह थी कि बच्चों को ऋषि-आश्रमों में निवास करने के लिए भेज दिया जाता था, वहीं वे पढ़ते भी थे और साथियों का, आचार्यों-गुरुओं, ऋषियों का आचरण प्रवाह देखते हुए, उसी ढाँचे में ढलते भी थे। प्रकृति के सान्निध्य में वे वन्य क्षेत्र में बने हुए गुरुकुलों में सुविधाएँ कम थीं। फिर भी निर्धन और संपन्न लोग साथ-साथ रहकर एक विशिष्ट जीवन पद्धति में रहने की सुविधा प्राप्त करते थे। नगरों के साधारण जनों में सभी स्तर के लोग होते थे, उनके संपर्क-प्रभाव से वे छात्र सहज ही बच जाते थे। कुविचारों और कुकर्मों को अपनाने वाले लोग धिच-पिच ग्राम-नगरों में प्रायः अधिक संख्या में रहते हैं, उनकी उत्तेजक गतिविधियाँ कच्ची आयु के लोगों को अधिक प्रभावित करती हैं। उनसे बचाव रखा जाना आवश्यक समझा जाता था, इसलिए पाठ्य-विधि की अपेक्षा जीवनचर्या को अधिक महत्व दिया जाता था। यही कारण था कि बड़े नगरों में विद्यालय बनाने की अपेक्षा, वे ऐसे स्थानों में बनाए जाते थे, जहाँ विद्यार्थी वांछनीय वातावरण और उपयुक्त परिस्थितियों में बने रहें। अध्यापन के विषयों की तुलना में छात्रावास की निवास निर्वाह शैली को अधिक महत्व दिया जाता था। यही कारण था कि जब छात्र कच्ची आयु, किशोरावस्था गुरुकुलों में व्यतीत करने के उपरांत यौवन की परिपक्वता में प्रवेश करते हुए घर वापिस लौटते थे, तब न केवल वे जीवनोपयोगी सभी प्रसंगों का अध्ययन कर चुके होते थे, वरन् व्यक्तित्व की दृष्टि से भी वे इस स्तर के होते थे कि दूसरों का अनुपयुक्त प्रभाव ग्रहण करने के खतरे से दूर

रहते हुए, अपनी विशिष्टता की छाप संपर्क में आने वालों पर छोड़ सकें।

प्राचीनकाल में इसी प्रयोजन की पूर्ति तीर्थसेवन की पुण्य प्रक्रिया द्वारा संपन्न की जाती थी।

आत्मनश्च शरीरस्य स्वस्व पक्षौ तु लाभकौ।

आत्मने श्रेयसोदातृकार्यं निर्धारणं सदा॥ ३४॥

शरीरं साधनं विश्वं क्रीडाक्षेत्रं समर्थितुम्।

आत्मानं स्वगरिम्ण्येव योक्तुं यत्नो रहो भवेत्॥ ३५॥

शरीरसुख - संसारविनोदं द्वयतोऽपि च।

आत्मकल्याणसंबद्धा विभूतिर्बहुमन्यताम्॥ ३६॥

टीका—शरीर और आत्मा के अपने-अपने पक्ष और अपने-अपने लाभ हैं। आत्मा को श्रेय प्रदान करने वाला निर्धारण ही करना चाहिए। शरीर को उपकरण और संसार को क्रीडाक्षेत्र समझने की आस्था उगाने और आत्मा को उसकी गरिमा में अपने अस्तित्व की अनुभूति करने का निरंतर एकांत अभ्यास करना चाहिए। शरीर सुख और संसार विनोद की तुलना में आत्म-कल्याण के साथ जुड़ी हुई महान् विभूतियों को अधिक महत्वपूर्ण मानना चाहिए॥ ३४-३६॥

यहाँ ऋषि जीवन की ऐसी रीति-नीति अपनाए जाने पर जोर देते हैं, जो आत्मा की गरिमा का बोध कराने के साथ आत्मकल्याण की भी भूमिका संपन्न कर सके।

शरीर और आत्मा के अपने-अपने लाभ हैं, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। शरीर नहीं हो तो यह संसार-यात्रा कैसे हो? भौतिक उपाजन और श्रम-साधन कैसे बन पड़े? यह सब क्रियाएँ शरीर द्वारा ही संभव हो सकती हैं। इतने पर भी यह नहीं मान लिया जाना चाहिए कि हम शरीर हैं। शरीर तो साधन मात्र है, उपकरण जैसा है। इसका संचालक तो अंतर्निहित आत्मा ही है, अस्तु प्रधानता साधन को नहीं साध्य को आत्मा को दिया जाना चाहिए। उसी की उन्नति-प्रगति की बात सोचनी व ऐसे निर्धारण अपनाए जाने चाहिए, जो आत्मा को श्रेय प्रदान कर सके। ऐसा तभी संभव हो सकता है, जब हम शरीर को गौण और आत्मा को प्रधान मानें, अन्यथा शरीर की प्रमुखता की स्थिति में तो हमारे सारे क्रिया-कलापों का निर्धारण शरीर के अनुरूप होगा, उसी धुरी में हमारी गतिविधियाँ चलेंगी और फिर उसे सजाने-सँवारने के लिए औंधे-सीधे जैसे भी कृत्य बन पड़ेंगे, उससे हम बाज नहीं आएँगे।

ऐसी संभावना उपस्थित न हो, आत्मा का अस्तित्व सदा स्मृति में बना रहे, उसकी गरिमा का ध्यान रहे, इसके लिए उसका एकांत चिंतन-मनन आवश्यक है। हम परमात्मा के अंशधर आत्मा हैं। आत्मा शुद्ध, बुद्ध, नित्य, पवित्र, सत्-चित्-आनंद स्वरूप है, अतः हमारी प्रवृत्तियाँ भी इन्हीं के

५.३८ प्रज्ञोपनिषद्

अनुरूप होनी चाहिए। गाड़ी का इंजन जैसा होता है, गाड़ी वैसी ही चलती है। उन्नत किस्म का इंजन गाड़ी को तीव्र गति प्रदान करता है। आत्मा को इंजन के समतुल्य माना जा सकता है। जब हमारी आत्मा इतनी शुद्ध पवित्र है तो हमारे क्रियाकलाप इतने निम्नस्तरीय क्यों होने चाहिए। हमारी विचारणाएँ-भावनाएँ, आस्थाएँ, मान्यताएँ, इच्छाएँ-आकांक्षाएँ इतनी हेय क्यों हों? इन्हीं के एकांत चिंतन से दैनिक जीवन में वैसी निर्धारणाएँ संभव बन पड़ती हैं, जिसमें आत्मा की गरिमा और इस जीवन की महिमा के साथ आत्मकल्याण जैसा उच्चस्तरीय प्रयोजन शक्य हो पाता है। मनुष्य का गौरव उसके शरीर के कारण नहीं, वरन आत्मा की विभूतियों-विशेषताओं के कारण है, अस्तु महत्ता इन्हीं को दिया जाना चाहिए और इन्हें ही हस्तगत करने का प्रयत्न-उपक्रम चलना चाहिए।

सुरदुर्लभमेतच्च जीवनं तस्य सौभगम्।

उद्देश्यं चोपयोगं च सन्ततं चिन्तयेन्नरः ॥ ३७ ॥

साहसं चार्जितव्यं तद् येन मूढाश्च मान्यताः।

त्यक्त्वाऽसीम्नि च संबुद्धं स्वातन्त्र्यं प्राप्यतां मुने ॥ ३८ ॥

पुरुषार्थः परश्चैष यः स्वरूपं परं स्वकम्।

यद्रूपेऽनुभवेद्यावच्छ्रेष्ठां दृष्टिं तथा भजेत् ॥ ३९ ॥

अस्मिन् लोकेस्थितोऽप्येष परलोकस्य साधनाम्।

करोति साधनैर्लब्धैश्चात्मभूतिः समर्जयन् ॥ ४० ॥

पूर्णां लक्ष्यां याति कर्तव्या अस्य कारणात्।

आत्मबोधस्य चैकांतसाधनाः साधकैः सदा ॥ ४१ ॥

अभ्यस्तां प्रकृतिं भिन्नां कर्तुं कार्यं तु साहसम्।

प्रवाहाद् वैपरीत्ये च यातुं मत्स्यस्यवद् यथा ॥ ४२ ॥

टीका—सुरदुर्लभ जीवन सौभाग्य के स्वरूप, उद्देश्य और सदुपयोग पर निरंतर विचार करना चाहिए, साथ ही ऐसा साहस जुटाना चाहिए जिससे कुसंस्कारी मान्यताओं के मायाजाल को तोड़कर असीम के साथ जुड़ने की स्वतंत्रता मिल सके। यही परम पुरुषार्थ है। जिसे अपने वास्तविक स्वरूप की जितनी सघन अनुभूति होती है वह उसी अनुपात से उत्कृष्ट दृष्टिकोण अपनाता है। उपलब्ध साधनों के सहारे आत्मिक विभूतियों का संपादन करते हुए वह पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचता है। इसके लिए आत्मबोध की एकांत चिंतन साधना करनी पड़ती है। अभ्यस्त ढर्रे को उलटने के लिए प्रवाह से विपरीत चल सकने का मछली जैसा साहस करना पड़ता है ॥ ३७-४२ ॥

मनुष्य को ईश्वर ने इस सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी बनाया है, उसे सुरदुर्लभ जीवन प्रदान किया है, ताकि वह अन्य प्राणियों की ही तरह गई बीती स्थिति में न पड़ा रहकर जीवन की गरिमा समझे और उसी के अनुरूप रीति-नीति

अपनाए। क्षुद्र आस्थाओं, मान्यताओं, परंपराओं, प्रचलनों, भावनाओं-कल्पनाओं को त्यागें और ससीम से असीम की ओर कदम बढ़ाएँ, क्षुद्र से महान बनने की तैयारी करें, नर से नारायण की अभीप्सा सँजोए, परंतु ऐसा तभी संभव है, जब हम अपना जीवनोद्देश्य समझें, स्वरूप पहचानें, लक्ष्य जानें और सदुपयोग की बात सोचें। उद्देश्य और लक्ष्य के ज्ञान न रहने पर भटकाव ही हाथ लगता है। जंगल में भटक जाने वाले पथिक को यदि रास्ता न मालूम हो तो, वह उसी में भूलता-भटकता मर खप जाता है। मनुष्य भी स्वयं को इसी स्थिति में पाता है। स्वरूप और उद्देश्य की जानकारी न होने की स्थिति में वह इस महान जीवन को तुच्छ समझता व लोभ-मोह के, वासना-तृष्णा के भवबंधनों में खपा कर समाप्त कर देता है। इस प्रकार जो एक अच्छा अवसर उपलब्ध हुआ था, उसे गँवा देता है।

इस स्थिति से उबरने का एक ही उपाय है कि हम सदा मानव जीवन की गरिमा को ध्यान में रखें, इसके स्वरूप एवं उद्देश्य पर विचार करते रहें, तभी वह सब निर्धारणाएँ बन पड़ती हैं, जो परम लक्ष्य तक पहुँचा सकें, अन्यथा अज्ञानता की स्थिति में हनुमान जैसी आत्मविस्मृति ही बनी रहती है और वैसा कुछ करते नहीं बन पड़ता है, जो किया जाना चाहिए। हाथी संभवतः मनुष्य के वशीभूत इसलिए हो जाता है कि उसे अपना आकार-प्रकार, डील-डौल देख नहीं पड़ता। यदि वह अपने विशालकाय को देख सके तो शायद मनुष्य के नियंत्रण में न रहे। मनुष्य के साथ भी यही स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इससे उबरना ही आत्मबोध है।

संकीर्णस्वार्थतायाश्च नाशकं महदाहृतम्।

उदात्तं दृष्टिकोणं तं स्वीकर्तुं यत्नमाचरेत् ॥ ४३ ॥

आत्मकल्याणमेवापि सन्तोषं परमात्मनः।

श्रेयो ददति ये ते नु वासनासक्तिकर्मदे ॥ ४४ ॥

कीटव्याकुलतायास्तु भगवत्प्राप्तिजं मुने।

मकरन्दं पिबन्तं तं मन्यन्ते मधुपं बहु ॥ ४५ ॥

टीका—संकीर्ण स्वार्थपरता के विचारों को काटने वाले महामानवों द्वारा अपनाए जाने वाले उदात्त दृष्टिकोण को समझने और अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए। आत्मकल्याण और परमात्मा के संतोष को जो महत्व देते हैं, वे वासना, तृष्णा की सड़ी कीचड़ में कृमि-कीटकों की तरह कुलबुलाते रहने की अपेक्षा सुसंस्कारी भौरों की तरह परमात्म प्राप्ति का मकरंद पान करते हैं ॥ ४३-४५ ॥

पिता की हार्दिक आकांक्षा होती है, कि बेटा उसकी इच्छा के अनुसार चले, कार्य करे और भविष्य की ऐसी रीति-नीति निर्धारित करे, जिससे आगे चलकर वह परिवार-संस्था का दायित्व अपने कंधों पर उठाकर जिम्मेदारी पूर्वक

उसका निर्वाह करे, सजाए-सँवारे और अपने सहोदरों का सहयोग-सहकार करते हुए उसे भी अपनी ही जैसी समर्थ स्थिति तक पहुँचा दे। इसी में पिता को संतोष होता है और परिवार कल्याण भी।

यह संसार भी परिवार जैसा ही है। हम उसके उद्धारक-सुधारक हैं और परमेश्वर के ज्येष्ठ पुत्र भी। निराकार व सूक्ष्म होने के नाते इस विश्व को सजाने-सँवारने की जिम्मेदारी उनसे हम पर सौंप रखी है, और आशा की है कि बड़े पुत्र होने के निमित्त हम इस बड़े उत्तरदायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह करेंगे, पर ऐसा हम कर नहीं पाते। अपनी जिम्मेदारी को भुलाकर अपने को ही सजाने-सँवारने, समुन्नत-सुविकसित बनाने की संकीर्ण स्वार्थपरता में निरत हो जाते हैं, जिससे सही अर्थों में न तो हम अपनी उन्नति प्रगति कर पाते हैं और न इस विश्व परिवार को आगे बढ़ाने, ऊँचा उठाने में ही किसी प्रकार का सहयोग-सहकार करते हमसे बन पड़ता है। आत्मकल्याण और विश्वकल्याण का कोई भी प्रयोजन न सध पाने की स्थिति में हमारी गति त्रिशंकु व उस धोबी के कुत्ते जैसी हो जाती है, जो न तो घर का रह पाता है, न घाट का ही। न तो हम अपना जीवन सुधार पाते हैं, न तो ईश्वर के इस विराट् परिवार को ही कुछ योगदान दे पाते हैं और कृमि-कीटकों जैसी हेय जिंदगी जीते हुए मर जाते हैं, पर जो इस विश्व-वसुधा को समुन्नत बनाने का सत्साहस जुटा पाते हैं, पराक्रम दिखा पाते हैं, वे इस जीवन को तो धन्य बना ही लेते, अपना परलोक भी सुधार लेते हैं। इसी में उसका कल्याण है और परम पिता परमेश्वर का संतोष।

वसुधैव कुटुम्बं च नीतिरेव च धुर्यताम्।

गता धर्मस्य चक्रस्याध्यात्मनश्चापिनिश्चितम् ॥ ४६ ॥

आत्मानं ये तु सर्वेषु भूतेष्व्वात्मनि तान्यपि।

पश्यन्ति प्रथितास्ते तु वस्तुतस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ४७ ॥

विराड्विश्वे तदात्मत्वं यांति ये ब्रह्मपारगाः।

उच्यन्ते स्वार्थकार्यैः परकार्याणि मानवाः ॥ ४८ ॥

प्रियाणि मन्वते ते वै साधनैः सीमितैरपि।

प्रसन्नतां भजन्तोऽत्र जीवनं यापितुं क्षमाः ॥ ४९ ॥

आदर्शैश्च महत्यस्ता आकांक्षा यर्हि हे मुने।

युज्यन्ते, वैभवं दर्पा उपेक्ष्यन्ते शनैः समे ॥ ५० ॥

तथ्यान्येतानि सन्त्यत्र स्वर्ग्यमन्तः प्रकुर्वते।

यानि निर्माणमेतच्च नरस्यास्ति कलाऽतिगा ॥ ५१ ॥

टीका—वसुधैव कुटुम्बकम् की नीति ही धर्म और अध्यात्म रूपी दो पहियों की मध्यवर्ती धुरी है। जो सबमें अपने को, अपने में सबको देखते हैं, वे ही तत्त्वदर्शी हैं। विश्व-विराट् में अपने को घुला देने वाले ही ब्रह्मपरायण कहे जाते हैं। स्वार्थ-साधना की तुलना में जिन्हें परमार्थ प्रिय लगने लगे, समझना

चाहिए कि वे सीमित साधनों में प्रसन्नतापूर्वक जीवनयापन कर सकेंगे। महत्वाकांक्षाएँ जब आदर्शों के साथ जुड़ती हैं तो वैभव-बढ़प्पन सबकी उपेक्षा होने लगती है। यही हैं वे तथ्य जो अंतर्जगत को स्वर्गोपम बनाते हैं। यह निर्माण मनुष्य का सर्वोपरि कला कौशल है ॥ ४६-५१ ॥

सामान्यतया मनुष्य की स्वार्थपरता ही प्रधान होती है। वह अपने ही वैभव, विलास, पराक्रम, यश, सम्मान एवं स्वर्ग-मुक्ति की बात सोचता है। परंतु जिस व्यक्ति का स्व सीमित न रहकर असीम बन जाता है, वह जो सोचता है, जो करता है उसमें विश्व व्यवस्था को समुन्नत श्रेष्ठ बनाना ही लक्ष्य होता है। जिसने आत्मवत् सर्वभूतेषु की वसुधैव कुटुम्बकम् की धारणा परिपक्व कर ली, वह अपनी महत्वाकांक्षी कामनाओं एवं चेष्टाओं को विश्व कल्याण के निमित्त ही केंद्रित कर देता है। उसका अपना कहने योग्य कुछ रहता ही नहीं। जिसने द्वैत को अद्वैत में विसर्जित कर दिया अपने एकाकीपन को समष्टिगत चेतना में घुला दिया, कामना को भावना बना लिया, चिंतन और कर्तव्य को विश्व विराट् के लिए समर्पित कर दिया, वही ब्रह्मपरायण कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति ही सच्चे धर्मपरायण और अध्यात्मवादी कहे जाते हैं।

अन्तरंगं निजं यस्तु सत्संस्कार - समुज्ज्वलम्।

सज्जितं विदधात्यस्य जगद् वै नन्दनायते ॥ ५२ ॥

एतादृशा नरा ये तु तेषां नृणां क्रियास्वलम्।

सत्प्रवृत्तय एतास्तु यांति दृष्टिपथं सदा ॥ ५३ ॥

कषायैः कल्मषैर्मुक्तचित्तं तद् विद्यते यदि।

बाह्योपचारजा सारहीना सद्भावना मता ॥ ५४ ॥

वात्यया मन्द्याप्येषा तृणानीव क्षणान्मुने।

इतस्ततो व्रजन्ती न कल्याणं भजते क्वचित् ॥ ५५ ॥

साधना ऽवसराऽ प्राप्तिवशादग्निर्विनेन्धनम्।

इव शांता भवन्त्येता दुष्प्रवृत्तय आहताः ॥ ५६ ॥

छिन्नमूलास्तदैवैता जायन्तेऽन्तर्यदा भवेत्।

आध्यात्मिक्यास्तु दृष्टेः स आरोहोमंगलोन्मुखः ॥ ५७ ॥

भयदान् परिणामान् ये दृष्टप्रवृत्त्युदितान् नराः।

सद्वृत्तिपरिणामांश्च जानन्त्ये तैर्विचार्यताम् ॥ ५८ ॥

कायाकल्पसमं योगं लब्धुं तद्धृदयं तथा।

परिष्कर्तुं निमित्तं तद् बाह्यस्योक्तं च वस्तुतः ॥ ५९ ॥

टीका—जिसने अपने अंतरंग को सुसंस्कारिता से सुंदर-सुसज्जित कर लिया उसे सर्वत्र नंदनवन जैसी सुविधा भरी पूरी दृष्टिगोचर होगी। ऐसे लोगों के समस्त क्रियाकलापों में सत्प्रवृत्तियाँ ही दृष्टिगोचर होंगी। अंतःकरण कषाय-कल्मषों से भरा रहे तो बाह्योपचार से उत्पन्न की गई सदाशयता खोखली होती है और वह तनिक सी हवा चलने पर हल्के तिनके की तरह कहीं से कहीं जा पहुँचती है तथा कल्याणयुक्त

५.४० प्रज्ञोपनिषद्

नहीं हो पाते। साधन एवं अवसर न मिलने की विवशता होने पर भी बिना ईंधन के आग बुझ जाने की तरह दुष्प्रवृत्तियाँ पीड़ित हो स्वयं शांत हो जाती हैं, पर उनकी जड़ तभी कटती है जब अंतराल में उत्कृष्टता भरे आध्यात्मिक दृष्टिकोण का आरोपण हो। अतः जो दुष्प्रवृत्तियों के भयावह परिणामों को समझते हैं जो सत्प्रवृत्तियों के परिणामों से परिचित हैं, वे कायाकल्प जैसे सुयोग की प्राप्ति के लिए अंतराल के परिष्कार की बात सोचें। भीतर का सुधार ही बाहरी सुधार का वास्तविक निमित्त बनता है ॥ ५२-५९ ॥

अंतरंग जिस स्तर का होता है, दृष्टिकोण भी उसी के अनुरूप बनता है और दृष्टिकोण जैसा हो, मनुष्य को संसार वैसा ही दीखता है। पीलिया के मरीज को सर्वत्र पीलापन बिखरा नजर आता है। कुएँ की मेंढकी समझती है कि दुनिया कुएँ तक में ही सिमटी है। वस्तुतः यह दृष्टिकोण का अंतर है दृष्टिभ्रम है। दृष्टिकोण यदि उच्चस्तरीय हो, तो वह बुराई में भी अच्छाई ढूँढ़ निकालता है, किंतु अगर अंतराल घटिया स्तर का रहा, तो वह बाल की खाल निकालने से भी नहीं चूकता। चोर सभी को शक की निगाह से देखता है। टिटहरी समझती है कि आकाश यदि टूटकर गिरे, तो वह उसे अपनी टाँगों में थाम लेगी। इन सब प्रकरणों में अंतरंग की ही भूमिका रहती है। वह जिस प्रकार के उपादानों से बना होता है, बाह्य वस्तुएँ हमें वैसी ही नजर आती हैं। व्यक्ति जिस रंग का चश्मा चढ़ा लेता है, हर चीज उसे उसी रंग की दीखने लगती है। इसमें दोष चश्मे का नहीं, उसे लगाने वाले का है। अस्तु दृष्टिकोण बदलने का एक ही उपाय है कि हम अपने अंतःकरण को सुसंस्कारी बना लें, कषाय-कल्मषों, दोष-दुर्गुणों को नियमित रूप से धोते रहें। वृक्षों की बोन्साई पद्धति में पेड़ों की वृद्धि रोकने के लिए उनकी जड़ों को समय-समय पर काटते रहना पड़ता है। इससे उनकी बाढ़ रुक जाती है और पेड़ ठिगने बौने स्थिति में ही आजीवन पड़े रहते हैं। जब पर्याप्त पोषण ही न मिले, तो वृद्धि कहाँ से हो।

जीवन में भी दुष्प्रवृत्तियों को निकालने के लिए इसी प्रक्रिया को अपनाना पड़ता है। दुष्प्रवृत्तियों की जड़ें प्रयासपूर्वक काटनी पड़ती हैं और सत्प्रवृत्तियों को उभारना पड़ता है, तभी अंतरंग और बहिरंग में एकरूपता आ पाती है। इतना नहीं बन पड़े, तो बाह्योपचार की सदाशयता ढोल की पोल ही साबित होती है।

अंतर्जीवनं यच्च परिवर्तनमदभुतम् ।

परिष्कारश्चबाह्योऽस्मिन् जीवने प्रतिभां पराम् ॥ ६० ॥

प्राख्यं कौशलं निष्ठां प्रतिष्ठां च विशिष्टिताम् ।

संपन्नतादिलाभास्तानर्जितुं प्रभवत्यलम् ॥ ६१ ॥

जीवनस्य क्रमे बाह्ये कर्मकौशलजं बलात् ।

परिवर्तनमाश्रित्योपाय आदर्शचारिता ॥ ६२ ॥

द्वितीयश्चान्तरंगं तदाविभूतं विधाय तु ।

ज्ञानचेतनयाप्युच्चस्तरया वपुरुद्भवाः ॥ ६३ ॥

प्रवृत्तीरञ्जसा चोच्चस्तरगा भविता मुने ।

उभयोः सुविधायुक्तं रुचियुक्तं स्वमाश्रयेत् ॥ ६४ ॥

टीका—अंतर्जीवन का परिवर्तन-परिष्कार बाह्य जीवन में प्रतिभा, प्रखरता, कौशल, निष्ठा, विशिष्टता, संपन्नता, प्रतिष्ठा जैसे अनेकों लाभ उपार्जित करता है। बाह्य जीवन क्रम में बलपूर्वक कर्म-कौशल से परिवर्तन करके आदर्शवादी प्रक्रिया में ढल जाना एक उपाय है। दूसरा उपाय है अंतरंग को उच्चस्तरीय ज्ञान चेतना से आविर्भूत करके शरीरगत प्रवृत्तियों को अनायास ही उच्चस्तरीय बना देना। दोनों में से जो जिसे सुविधाजनक, रुचिकर लगे उसे अपनाए ॥ ६०-६४ ॥

अंगारे में जब राख की परत चढ़ जाती है, तो उसका स्वरूप ही बदल जाता है। उसकी प्रखरता, उष्णता, रोशनी सभी कुछ विलुप्त हो जाती है और वह मात्र एक ठंडा पिंड-सा प्रतीत होता है, किंतु जैसे ही वह परत हटती है, अंगारा अपनी समस्त विशिष्टताओं के साथ प्रखर अग्नि-पिंड के रूप में प्रकट होता है।

मनुष्य के साथ भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वह अद्भुत क्षमता संपन्न है, मगर कषाय-कल्मषों की परत के पीछे उसकी प्रतिभा, क्षमता, विशिष्टता, योग्यता सब कुछ छिप जाती है और अन्य प्राणियों की ही तरह वह निरीह और सामान्य प्रतीत होने लगता है। जो इन कषाय-कल्मषों को, दुष्प्रवृत्तियों-अवांछनीयताओं को निकालने में सफल होते हैं, वे सामान्य से असामान्य, अक्षम से सक्षम, और मलीन से प्रखर बन जाते हैं। महापुरुष-महामानव इसी विधि से विशिष्ट बनते देखे जाते हैं। ऋषि यहाँ क्षुद्र से महान बनने वाले इसी प्रसंग की चर्चा करते हैं।

श्रेयोमार्गस्य पान्था हे ब्रह्मविद्यासु धारणाः ।

क्रियान्विता विधातुं द्वावुपायौ परिकीर्तितौ ॥ ६५ ॥

ज्ञानयोगः कर्मयोगः पूर्णौ च स्वत एव यौ ।

अत्रापि प्रथमं ज्ञानं द्वितीयं कर्म चादृतम् ॥ ६६ ॥

धारा भक्तेस्तृतीया सा याऽनयोश्च समन्वयात् ।

जाताऽध्यात्मन एषोऽस्ति तीर्थराजस्त्रिसंगमः ॥ ६७ ॥

टीका—हे श्रेयमार्ग के पथिकजनों! ब्रह्मविद्या की तात्त्विक धारणाओं को क्रियान्वित करने के ये दो उपाय-ज्ञानयोग और कर्मयोग स्वयं में पूर्ण हैं। इतने पर भी ज्ञान को प्रथम और कर्म को द्वितीय कहा गया है। तीसरी धारा भक्तियोग की है, जो इन दोनों के समन्वय से आविर्भूत होती है। अध्यात्म क्षेत्र का तीर्थराज त्रिवेणी संगम इन तीनों धाराओं के सम्मिलन से बनता है ॥ ६५-६७ ॥

भक्तियोग ज्ञान और कर्मयोग का सम्मिलित स्वरूप है, क्योंकि ज्ञानयोग में आत्मा से प्रेम करना पड़ता है और कर्मयोग में अपनी कार्यकुशलता सिद्ध करनी पड़ती है, जबकि भक्ति योग में उस प्रेम को अपने तक, अपनी आत्मा तक सीमित न रखकर उसे विराट्ब्रह्म के स्तर तक विस्तृत करना पड़ता है और उसी की उन्नति-प्रगति, सेवा-सहायता में अपनी तत्परता दिखानी पड़ती है। उसे कर्तव्य मानकर चलना पड़ता है तथा जिस प्रकार कर्तव्य की उपेक्षा नहीं हो सकती उसी प्रकार स्वयं को उसी के लिए जीना और उसी में समर्पित कर देना पड़ता है। इस प्रकार भक्तियोग में ज्ञान और कर्म दोनों धाराओं का समावेश हो जाता है, क्योंकि यदि विराट् ब्रह्म के प्रति प्रेम नहीं हुआ, तो ज्ञानयोग का संपादन नहीं हो सकेगा और जब प्रेम नहीं हो, तो किसी की सेवा-सहायता, सहयोग-सहकार कैसे हो। इसीलिए भक्ति योग के अवलंबन से ज्ञान और कर्मयोग दोनों के संपादन हो जाते हैं।

भक्तेरर्थो महान् स्नेहः सर्वेष्व्वात्मानमात्मनि ।
सर्वान् द्रष्टुं स्वतोऽवाप्तिर्भक्तेः परिणतिर्मता ॥ ६८ ॥
संकीर्ण - स्वार्थतामुक्तिर्विराड्ब्रह्मैक्यमेव च ।
समाजनिष्ठता बोधो भक्तेः परिणतिर्मता ॥ ६९ ॥
सा निर्झरसमानित्यं सरतीह समन्ततः ।
वातावृतिश्च तेनेयं लाभमाप्नोति मुक्तिदम् ॥ ७० ॥
कासारयोर्द्वयोर्मध्ये जलमार्गं विनिर्मिते ।
स्तरमेकमुभौ तौ तु यात एषाऽत्र संस्थितिः ॥ ७१ ॥
भक्तिभावनयाऽऽयाति जीवस्येह तु कर्मणि ।
गुणस्वभावे चेशस्योत्कृष्टतायाः समागतिः ॥ ७२ ॥
सम्पादनं तु सर्वेषामेतेषां जीवनस्य च ।
कर्मक्षेत्रे सतां संगैः स्वाध्यायैः क्रियते मुने ॥ ७३ ॥

टीका—भक्ति का तात्पर्य है प्यार। सबमें अपने को और अपने में सबको देखने वाली सुविस्तृत आत्मीयता सघन उपासना की ही परिणति है। संकीर्ण स्वार्थपरता के भव-बंधनों से छुड़ाने और विराट् ब्रह्म के साथ घुल-मिलकर समाजनिष्ठ बनने की प्रेरणा भक्ति भावना की ही परिणति है। वह निर्झर की तरह निरंतर झरती रहती है उसका मुक्ति दायक लाभ समूचे वातावरण को मिलता है। दो तालाबों के बीच नाली बनाने पर दोनों की सतह समान हो जाती है। उसी प्रकार भक्ति-भावना अपनाने पर जीव के गुण, कर्म, स्वभाव में ईश्वरीय उत्कृष्टता का अधिकाधिक समावेश होता है। इन सभी का संपादन जीवन रूपी कर्म क्षेत्र में सत्संग, स्वाध्याय के माध्यम से किया जाता है ॥ ६८-७३ ॥

भक्ति कहते हैं प्रेम को, प्यार को, वह प्रेम जो विशुद्ध हो, वह प्यार जो स्वार्थहीन हो। इस स्तर का प्रेम-प्यार भक्ति की ही परिणति है। इसके लिए ईश्वर को प्रथम उपकरण

मानकर अभ्यास आरंभ करना पड़ता है और फिर उस अभ्यास द्वारा विकसित प्रेम को विराट् ब्रह्म के स्तर तक लाना पड़ता है। पानी जब आग के संपर्क में आता है, हवा का जब ताप से संसर्ग होता है तो वे अपने सीमित-संकीर्ण बंधनों को तोड़कर विकास-विस्तार कर लेते हैं।

उपासना से मनुष्य में यही स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उपासना अर्थात् भगवान के निकट बैठना। भगवान आदर्शों के समुच्चय को कहते हैं, अतः ईश्वर भक्ति का अर्थ हुआ आदर्शवाद का पक्षधर। प्रेम के विकास का आधार भी यही है।

शास्त्रों के अनुसार उपासना में स्वर्ग की प्राप्ति का जो माहात्म्य बताया गया है, उसमें उपासना करने वाले को भक्ति मार्ग अपनाना पड़ता है। परमात्मा को, आत्मा को आदर्शवाद को जो भी प्यार करना सीख लेगा, अनिवार्यता प्राणिमात्र से प्रेम का अभ्यास उसी को हो पाएगा और इस कारण उसका निवास स्थान एवं समीपवर्ती वातावरण स्वर्गीय अनुभूतियों से भी भरपूर रहेगा।

उपनिषद् का वचन है—“रसो वैसः” अर्थात्-प्रेम ही परमेश्वर है। यह अक्षरशः सही है। ईश्वर से सच्चा तादात्म्य प्रेम से ही जुड़ सकता है। उपासना में हम इसी का अभ्यास करते हैं। निर्जीव निष्प्राण मूर्ति में गहन श्रद्धा, भक्ति, प्रेम का आरोपण कर भगवान को प्रकट होने के लिए विवश करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जहाँ भगवान हैं, वहाँ प्रेम-भक्ति है और जहाँ प्रेम है, वहाँ भगवान हैं। ‘एकोऽहम् बहुस्याम’ के आधार पर यह विराट् विश्व उसी भगवद् सत्ता का दृश्यरूप है। जीव सत्ता उसी की अंशधर है। उनमें वही चेतना विद्यमान है जो स्वयं ब्रह्म में है। अतः यदि भगवान से हमें सच्चा प्रेम है, तो संपूर्ण प्राणियों से भी होना चाहिए। उपासना का यही तत्त्वदर्शन है, और इसी की उपलब्धि हमें उससे होती है जिस समाज में, जिस समुदाय में ऐसा निश्छल प्रेम विकसित होगा निश्चित रूप से वहाँ का वातावरण स्वर्गिक होगा और देवतुल्य होंगे वहाँ के निवासी।

पतनं सरलं तत्रोत्थानं च कठिनं मतम् ।
सरलो व्यय उक्तो ऽ त्रोपार्जनं कठिनं बुधाः ॥ ७४ ॥
कुसंगः सरलो मृग्यः सत्संगो यत्नतो नरैः ।
पक्षं सहमतं कर्तुं परं काठिन्यमापतेत् ॥ ७५ ॥
अहंत्वं सरलं नूनं महत्ता कठिना मता ।
अल्पाभ्याससुसाध्यं तत्सभ्यताशिक्षणं मतम् ।
सुसंस्कारित्वभावार्थं साधनां श्रमतां व्रजेत् ॥ ७६ ॥
कठिनं कर्म गृह्णाति तत्परत्वं च संततम् ।
ये स्वीकृत्य प्रकुर्वन्ति पूर्णं मान्या मनीषिणाम् ॥ ७७ ॥
अंतर्महत्त्वसंपन्ना बाह्यक्षेत्रे ऽविलंबतः ।

५.४२ प्रज्ञोपनिषद्

लभन्ते गौरवं चान्तं परिष्कारे विनिर्मितौ ॥ ७८ ॥

यथा येषां प्रवृत्तिस्ते तथा भूतिमदुच्छताम्।

देवत्वं चार्जितुं श्रेयः सौभाग्यं ते भजन्त्यलम् ॥ ७९ ॥

टीका—हे मनीषियो यह समझ लेना चाहिए कि पतन सरल है, उत्थान कठिन। व्यय सरल है, उपार्जन कठिन। कुसंग सर्वत्र बिखरा पड़ा है, सत्संग के लिए भारी खोज करनी पड़ती है और दूसरे पक्ष को कठिनाई से ही सहमत किया जाता है। बड़प्पन सरल है, महानता कठिन। सभ्यता का प्रशिक्षण तो थोड़े से अभ्यास से हो सकता है, किंतु सुसंस्कारिता संपादन के लिए तो साधना पुरुषार्थ करना पड़ता है जो कठिन कार्य को हाथ में लेते हैं व उन्हें अनवरत तत्परता अपनाकर पूर्ण कर दिखाते हैं, उन्हें ही महान कहते हैं। जिनमें आंतरिक महानता है उन्हें बाह्य क्षेत्र में गौरव गरिमा प्राप्त करते देर नहीं लगती। अंतराल के परिष्कार और निर्माण में जिनकी जितनी प्रवृत्ति होती है, उन्हें उसी अनुपात में विभूतिवान् देवत्व अर्जित करने का श्रेय-सौभाग्य मिलता है ॥ ७४-७९ ॥

आत्मिक प्रगति का राजमार्ग कंटकों से भरा है। यदि महानता अर्जित करना इतना ही सरल होता तो हर कोई देवदूत, महापुरुष, अवतार बन गया होता। बाह्य प्रगति, रहन-सहन की सुगढ़ता, बोलचाल में मिठास व शालीनता आदि तो प्रशिक्षण से संभव भी है, पर अंतर्जगत का विकास इतना सरल नहीं है। किसी की आकृति बदली जा सकती है, प्रकृति सहज ही नहीं बदली जा सकती।

यहीं पर सामान्य व असामान्य पुरुषों में अंतर देखा जा सकता है। सामान्य व्यक्ति वे, जो चकाचौंध में विश्वास रखते हैं व बड़ा कहलाना चाहते हैं, कहलाने के लिए एक भीड़ भी खड़ी कर लेते हैं पर असामान्य व्यक्ति अंतः की उत्कृष्टता व सुसंस्कारिता के आधार पर महान बनते हैं। उन्हें सहज ही सम्मान मिलता है व दैवी अनुग्रह उन पर अनवरत बरसता है। यह श्रेय उन्हें सहज ही नहीं मिल जाता। पतन-पराभव की ओर ले जाने वाले आकर्षणों से स्वयं को विरत रख वे सदैव श्रेष्ठ ही सोचते हैं, श्रेष्ठता ही जीवन में उतारते व स्वयं प्रवाह से उलटे चलते हुए स्वयं को ऊँचा उठाते हैं।

विद्वांसो! वेदितव्यं च भविद्भिः साधनारतैः।

व्यक्तित्वस्यांतरंगं तं पक्षं बाह्यं समुन्नतम् ॥ ८० ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युग दर्शन युग साधना प्रकटीकरणयोः

महर्षि याज्ञवल्क्य प्रतिपादिते आत्मबोध इति प्रकरणो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

कर्तुमुच्चास्थिरादृष्टिः स्वीकार्या च तथा सदा।

आत्मबोधस्य तज्ज्योतिरुत्पाद्यं भवति ध्रुवम् ॥ ८१ ॥

संस्कारस्यात्मनो नूनं बाह्यसिद्धिस्थितौ तथा।

अंतर्बुद्धिस्वरूपेषु लब्धिर्भवति कीर्तिदा ॥ ८२ ॥

टीका—हे साधनारत विद्वज्जनो आप सबको समझना चाहिए कि व्यक्तित्व के अंतरंग और बहिरंग पक्ष को श्रेष्ठ समुन्नत बनाने के लिए उच्चस्तरीय दृष्टिकोण अपनाना पड़ता है तथा अंतराल में आत्मबोध का आलोक उत्पन्न करना होता है। इस आत्म परिष्कार की परिणति भीतरी ऋद्धियों और बाहरी सिद्धियों के रूप में उपलब्ध होती हैं ॥ ८०-८३ ॥

साधनाओं में सर्वश्रेष्ठ है व्यक्तित्व की साधना। साधा किस प्रकार जाए, यह व्याख्या विस्तार से पूर्व में हो चुकी है। सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि चिंतन की श्रेष्ठता व अंतः के जागरण की प्रतिक्रिया व्यवहार रूप में जीवन में उतरी अथवा नहीं? आत्मपरिष्कार की सबसे बड़ी कसौटी यही है उस व्यक्ति ने किस अनुपात में कितनी विविधता से भरी विभूतियाँ अर्जित कीं। जो स्वयं को विकसित कर इस समुन्नत स्थिति तक पहुँचा देता है, वह ऋद्धि-सिद्धियों का अधिकारी बन जाता है। विभूतिवान् ही, सिद्धियों के धनी ही महामानव कहलाते हैं। वे ही जीवन संग्राम में प्रतिकूलताओं से जूझने, उन्हें निरस्त कर अन्य अनेकों के लिए प्रगति का पथ प्रशस्त करते हैं। महामानव सदैव अपनी विभूतियों का सुनियोजन परहितार्थ करते हैं। आत्मबोध का प्रकाश अपने अंदर जगाकर वे स्वयं एक प्रकाशस्तंभ बन जाते हैं जो अंधकार में भटकते जहाजों को दिशा दिखाते व सही मार्ग बताते हैं।

चतुर्थस्य दिनस्यायं प्रसंगः सत्रसंभवः।

समाप्तः पूर्ववत्तस्मिन् दिने सर्वेऽपि साधकाः ॥ ८४ ॥

व्यवस्थामनुसृत्याथ नित्यकर्माणि तानि ते।

कर्तुं ययुर्निवासान् स्वान् प्रणमंतो महर्षयः ॥ ८५ ॥

टीका—चौथे दिन का सत्र-प्रसंग समाप्त हुआ और नित्य की तरह सभी उस दिन भी निर्धारित नियम-व्यवस्था के अनुसार शारीरिक-आध्यात्मिक नित्य कर्मों के निमित्त अभिवादन पूर्वक अपने-अपने निवास स्थानों को चले गए ॥ ८४-८५ ॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

धर्म-धारणा-प्रकरण

पञ्चमे दिवसे प्रज्ञासत्रस्याथ मनीषिणः ।
ब्रह्मचारिणाः पुण्ये त्रिपुरारण्यके समे ॥ १ ॥
पूर्ववत् पुण्यवेलायां प्रभातस्य समागताः ।
तत्त्वचर्चा विधातुं ते धर्मसारसमुद्भवाम् ॥ २ ॥
टीका—पाँचवें दिन प्रज्ञासत्र के मनीषी ब्रह्मचारीगण त्रिपुरारण्यक में गत दिनों की भाँति प्रभात की पुण्यवेला में धर्म की सारभूता तत्त्वचर्चा के लिए एकत्रित हुए ॥ १-२ ॥
ब्रह्मचारिण उवाच—
आयोजनेन पुण्यस्य ज्ञानसत्रस्य चास्य तु ।
भवतानुगृहीताः स्म महाभाग! वयं समे ॥ ३ ॥
गतिशीलानुकम्पेयं विधेयाऽग्रेऽपि संततम् ।
पायं पायं तु पीयूषमेतत्तृप्तिर्न जायते ॥ ४ ॥
टीका—सभी ब्रह्मचारियों ने समवेत स्वर में कहा, हे महाभाग इस ज्ञान-सत्र का आयोजन कर आपने हम सबके ऊपर महान अनुग्रह किया है। इस अनुकंपा को अभी और गतिशील रखें। इस अमृत को पीते-पीते तृप्ति नहीं होती ॥ ३-४ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच—
विगतानां चतुर्णां तु दिनानां हि प्रसंगतः ।
प्रस्तोतव्याः स्वजिज्ञासा अनुरूपाः समा अपि ॥ ५ ॥
आधारं तमुपादाय समाधानमिह स्वयम् ।
विधातुं तु करिष्यामि प्रयासं क्रमशः पुनः ॥ ६ ॥
आह्वानेन महर्षेस्तु स्नेहे नोद्बोधितस्ततः ।
रोमाञ्चितः स्वजिज्ञासामृषिः कौण्डिन्य आह सः ॥ ७ ॥
टीका—सत्राध्यक्ष याज्ञवल्क्य जी ने कहा, आप लोग गत चार दिनों के प्रसंगों के अनुरूप अपनी सभी जिज्ञासा प्रस्तुत करें। उसी आधार पर मैं समाधान करने का क्रमशः प्रयास करूँगा। महर्षि के आह्वान पर उनके स्नेह-उद्बोधन से रोमाञ्चित ऋषि कौण्डिन्य ने अपनी जिज्ञासा प्रकट की ॥ ५-७ ॥

कौण्डिन्य उवाच—
देव! कर्मव्यवस्थेयमुच्चालब्धिस्तथाऽऽत्मनः ।
व्यावहारिकमेतच्च चित्रणं तपसस्तथा ॥ ८ ॥
योगस्यापि समक्षं नः कृतं गतदिनेष्वहो ।
तन्नास्ति कल्पनीयो नु इत्यस्माकं विनिश्चयः ॥ ९ ॥
जीवने योगतस्त्वेषां जनसाधारणस्य तु ।
आत्मनः प्रगतेर्मार्गः प्रशस्तः संभविष्यति ॥ १० ॥
आशंका पुनरप्येका मनसीयमुदेति नः ।

सनातने तु धर्मस्य रूपे चेश्वरसंस्थितौ ॥ ११ ॥
मतैक्यं नैव भिन्नेषु समुदायेषु दृश्यते ।
विभिन्ना मान्यताः संति समेषां तु निजा निजाः ॥ १२ ॥
विभिन्नमतसंग्रस्ताः संप्रदाय - जनाः समे ।
एषु प्रारंभिकेष्वेव जालेष्वालीन मानसाः ॥ १३ ॥
अधिगच्छन्ति नैवेते परमं सत्यमंततः ।
आत्मनः प्रगतेर्यात्रा तेषां रुद्धाभवत्यतः ॥ १४ ॥
टीका—कौण्डिन्य बोले हे देव आपने कर्म व्यवस्था, उच्चस्तरीय आत्मोपलब्धि एवं व्यावहारिक योग-तप का जो चित्रण हम सबके समक्ष विगत दिनों किया वह अकल्पनीय है, ऐसा हमारा विचार है। इन्हें जीवन में उतारने से निश्चित ही जनसाधारण की आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त होगा। एक आशंका फिर भी मन में उठती है वह यह कि धर्म के सनातन के वर्गों में मतैक्य नहीं दिखाई पड़ता। सबकी अपनी भिन्न प्रकार की मान्यताएँ हैं। विभिन्न मत-संप्रदाय को मानने वाले सांसारिक जन इन प्रारंभिक जंजालों में उलझकर रह जाते हैं, परम सत्य तक नहीं पहुँच पाते। इससे उनकी आत्मिक प्रगति की यात्रा अवरुद्ध हो जाती है ॥ ८-१४ ॥

ईदृशी परिभाषा किं मान्यता सार्वभौमिकी ।
विराट् सत्ता विधौ नैव विनिर्मातुं हि शक्यते ॥ १५ ॥
मतावलंबिनः सर्वे ज्ञात्वा यां भ्रांतितः स्वकान् ।
मुक्तान् कुर्युर्भवेद् येन जगन्निर्वैरविग्रहम् ॥ १६ ॥
धर्मशाश्वत रूपस्य सामान्याय जनाय चेत् ।
ज्ञानं दीयेत तन्नूनं भवत्प्रस्तुतमुत्तमम् ॥ १७ ॥
व्यावहारिकमध्यात्म - प्रतिपादनमाश्रिताः ।
बहुसंख्या - जना - धन्यजीवनाः स्युर्मतं हि न ॥ १८ ॥
ऋषेस्तत्कथनं पुण्यं श्रुत्वा मुदितमानसः ।
याज्ञवल्क्यो महर्षिः स बभाषे हर्षगदगदम् ॥ १९ ॥
टीका—हे देव क्या ऐसी कोई परिभाषा, सार्वभौम मान्यता उस विराट् सत्ता के संबंध में नहीं बनाई जा सकती जिसे जानकर-समझकर जिज्ञासु मतावलंबी जन भ्रांतियों से मुक्त हो सकें? जिससे संसार वैर-विग्रह से मुक्त हो जाए। यदि धर्म के शाश्वत रूप की जानकारी जन-सामान्य को करायी जा सके, तो हमारे विचार से आप द्वारा प्रस्तुत अध्यात्म के इन उत्तम व्यावहारिक प्रतिपादनों का आश्रय लेकर बहुसंख्य व्यक्ति अपना जीवन धन्य बना सकेंगे। ऋषि का वह सुंदर अनुकूल कथन सुनकर प्रमुदित मन से महर्षि याज्ञवल्क्य हर्ष से गदगद होकर बोले ॥ १५-१६ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच—
तात! अध्यात्मतत्त्वस्य दर्शनं सुगमं त्विह ।

५.४४ प्रज्ञोपनिषद्

सामान्यजन लाभाय कर्तुं संप्रस्तुता स्वयम् ॥ २० ॥
 भवता यातु जिज्ञासा तृप्तिदा हृदयस्य सा ।
 हृदि जागर्ति साधूनां लोककल्याणकामना ॥ २१ ॥
 गूढतत्त्वांतरालेषु निष्कर्षवाप्तिकाम्यया ।
 यानस्य भावना लोककल्याणी सार्थयेदिमान् ॥ २२ ॥
 तात! धर्मस्तु तां सत्तां परमां गंतुमुन्मुखान् ।
 मार्गानेकतमे सूत्रे बद्धं तंतुरिव स्थितः ॥ २३ ॥
 धर्मस्य लक्ष्यमस्येतन्मानवं प्रापयत्यसौ ।
 चरमं बिंदुसीमानं पूर्णताया युगे युगे ॥ २४ ॥
 शक्तिर्महत्तमा नूनमीश्वरोऽस्ति निराकृतिः ।
 नैकं स्थानं च तस्यास्ति व्याप्तः सर्वत्र स सदा ॥ २५ ॥
 स परोक्षतया चैतान् संचालयति संततम् ।
 ब्रह्मांडस्य समग्रस्य क्रियाश्चापि प्रतिक्रिया ॥ २६ ॥
 ईश्वरस्य समग्रा सा सत्ता प्राणिसुखावहा ।
 नरैर्विज्ञायते धर्म - मार्गं संचलनादिह ॥ २७ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले हे तात अध्यात्म तत्त्वदर्शन को जन साधारण के लिए सुगम बनाने हेतु प्रस्तुत की गई आपकी जिज्ञासा हृदय को तृप्ति देने वाली है। सज्जनों के हृदय में लोककल्याण कामना सदा जगी रहती है। गूढ़ तथ्यों की गहराई में उतरने तथा निष्कर्षों तक पहुँचने की लोक-कल्याणकारी भावना ही ऐसे समागमों को सार्थक बनाती है।

हे तात धर्म परमसत्ता तक पहुँचने के कई मार्गों को एक सूत्र में बाँधने वाला धागा है। धर्म का लक्ष्य मनुष्य को प्रत्येक युग में पूर्णता के चरम बिंदु तक पहुँचाना है। ईश्वर एक महानतम शक्ति है जिसका कोई आकार नहीं, कोई स्थान नहीं। वह तो सर्वत्र समान रूप से संव्याप्त है। वह परोक्ष रूप से समग्र ब्रह्मांड की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का संचालन कर्ता है। ईश्वरीय सत्ता, जो प्राणिमात्र को सुख देने वाली है, को धर्म के मार्ग पर चलकर ही जाना जा सकता है ॥ २०-२७ ॥

धर्मशब्दस्य संक्षिप्तः सारगर्भश्च विद्यते ।
 अर्थोऽभ्युदयनिःश्रेयः सिद्धिः प्राणिभूतां मुने ॥ २८ ॥
 उन्नतिलौकिकी पारलौकिकी चापि निश्छला ।
 सूत्र संकेतकस्यास्य विस्तृते हि विवेचने ॥ २९ ॥
 कृतेऽस्यान्तः स्थितानां हि स्वभावगुणकर्मणाम् ।
 श्रेष्ठानां सुसमावेश स्तेषां भवति विद्यते ॥ ३० ॥
 येषां जीवन संस्कारे संबंधो जीवनोन्नतौ ।
 दुर्गुणानां समेषां च तेषां निष्कासनं तथा ॥ ३१ ॥
 परिष्करणमप्यस्मिन् समाविष्टं च सूत्रके ।
 पतनस्य पराभूतेर्हेतवोऽत्र भवन्ति ये ॥ ३२ ॥
 जीवनं लौकिकं येन समृद्धिं तात गच्छति ।
 अध्यात्मप्रगतेर्लक्ष्यं सिध्येत्स धर्म उच्यते ॥ ३३ ॥
 सोऽपि धर्मो नरं कुर्यात्कर्मठं संयमान्वितम् ।

परायणं परार्थं सत्परामर्शो ध्रुवं मुने ॥ ३४ ॥
 शिक्षा सा धर्म एवास्ति मानवं मानवैस्तथा ।
 समष्टौ प्राणिमात्रेण कारयेत्प्रेम संततम् ॥ ३५ ॥
 यो वै यापयितुं व्यक्तिं जीवनं मानवोचितम् ।
 शिक्षयेद् वस्तुतः प्रोक्तं स धर्मो वेदसम्मतः ॥ ३६ ॥

टीका—हे ऋषिवर धर्म शब्द का अत्यंत संक्षिप्त प्रपंचरहित लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति। इस सूत्र संकेत का विस्तृत विवेचन करने पर इसके अंतर्गत उन सभी श्रेष्ठ गुण-कर्म, स्वभावों का समावेश हो जाता है, जिनका जीवन को समुन्नत और सुसंस्कृत बनाने से सीधा संबंध है। उन सभी दुर्गुणों का सुधार निष्कासन भी इसी सूत्र में समाविष्ट है, जो पतन पराभव का निमित्त कारण बनते हैं। हे तात जिससे लौकिक जीवन की समृद्धि एवं आत्मिक प्रगति की लक्ष्य सिद्धि होती है, वही धर्म है। हे मुनिवर जो व्यक्ति को संयमी, कर्तव्यनिष्ठ, परमार्थपरायण बनाए वही सत्परामर्श धर्म है। जो मानव को मानव एवं समष्टिगत प्राणिसत्ता से सदा प्रेम करना सिखाए, वही शिक्षा धर्म है। जो मानवोचित जीवन जीना सिखाए, वही सच्चा धर्म है ॥ २८-३६ ॥

यहाँ जीवन की उस प्रणाली को धर्म की संज्ञा दी गई है, जिसमें दुर्गुणों को निकालकर उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियों का अभ्यास किया जाता है, फिर उन्हें गुण, कर्म, स्वभाव में समाविष्ट कर जीवन को ऐसा उदात्त बना लिया जाता है, जिसमें छल-प्रपंच जैसे निकृष्ट स्तर के क्रियाकलाप की गुंजाइश ही न रहे। यही वह आधार है, जिस पर चलकर व्यक्ति आत्मिक जीवन में प्रगति करता हुआ पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचता है और भौतिक जीवन में सुख, समृद्धि, सफलता जैसी प्रसन्नतादायक स्थिति प्राप्त कर पाता है। इसी से व्यक्ति गत जीवन में सेवा-सहकार जैसे पुण्य परमार्थ एवं समाज निर्माण, व्यक्ति उत्थान जैसे कर्तव्य निभ पाते हैं। इसलिए ऋषि यहाँ उस तत्त्वदर्शन को ही सच्चा धर्म मानते हैं, जो ऐसे मानवोचित जीवन जीने की प्रेरणा देता और प्रेम-सौहार्द का पाठ पढ़ाता हो।

यथा प्राणैविना नैव जीव्यते क्षणमप्यहो ।
 नैति जीवनयात्रैवं धर्मधारणया विना ॥ ३७ ॥
 कारणं चेदमेवास्ति विद्वद्भिर्ममुत्तमम् ।
 व्याख्यातुं भिर्यापकं स नीतिकर्तव्यतोदितः ॥ ३८ ॥

टीका—हे तात धर्म मानव जीवन का प्राण है। प्राण वायु के बिना जिस प्रकार एक क्षण भी जीवित नहीं रहा जा सकता, उसी प्रकार धर्म-धारणा को जीवन में उतारे बिना जीवन यात्रा एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकती। यही कारण है कि धर्म की एक व्यापक व्याख्या करते हुए विद्वज्जनों ने उसे नीतिमत्ता एवं कर्तव्यपरायणता का ही एकरूप माना

है ॥ ३७-३८ ॥

जिस प्रकार प्राण के बिना कलेवर का कोई अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार धर्म-धारणा के बिना मनुष्य जीवन भी निष्प्राण-निरर्थक है। यदि प्राण न रहें, तो मृत कलेवर सड़न और बदबू ही पैदा करता है और जहाँ रहता है, वहाँ वातावरण दूषित करता है।

मानव जीवन के साथ भी यही बात लागू होती है। नीतिमत्ता, कर्तव्यपरायणता, सहयोग, सहकार, प्रेम-सद्भाव को मानव-जीवन का धर्म माना गया है। यदि व्यक्ति इनका परिपालन न करे और मानवी गरिमा के अनुरूप जीवन न जिए, तो वह ईर्ष्या-कलह, विग्रह, विद्वेष के रूप में दुर्गीध ही पैदा करेगा। दुर्गीध अर्थात् मौत और ऐसी स्थिति में जब काया ही निष्प्राण हो, तो उसका विकास-विस्तार कैसे संभव हो? प्राण की उपस्थिति में ही यह शक्य हो सकता है।

धर्मविहीन जीवन की भी यही गति होती है। जीवन-विकास होता रहे, इसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति धर्म धारणा को जीवन में अपनाए, अन्यथा इसके बिना तो उसकी भाव-संवेदनाएँ पशुतुल्य ही बनी रहेंगी। अस्तु धर्म मनुष्य को जहाँ एक ओर उसे उसकी गरिमा प्रदान कर सच्चे अर्थों में मनुष्य की श्रेणी में ला खड़ा करता है, वहीं दूसरी ओर उसके जीवन विकास को भी गतिमान बनाए रखता है। इस प्रकार एक धर्म के पालन से उसके दो उद्देश्य पूरे होते हैं। इसलिए ऋषि यहाँ धर्म को मानव-जीवन का प्राण की संज्ञा देते हुए प्राणवायु से उसकी तुलना करते हैं और कहते हैं कि जीवित रहने के लिए प्राणवायु की जितनी आवश्यकता महसूस की जाती है, मानव-जीवन के लिए धर्म की भी उतनी ही महत्ता है।

संस्कृतिः भारतीयेषा दैवीसंस्कृतिरुच्यते ।
महतासागरेणेयं विराजा तुल्यतां गता ॥ ३९ ॥
यस्यां विशन्ति निर्यान्ति यस्या भिन्नाः सदाभुवि ।
संप्रदायास्तथासर्वास्तास्ताः संस्कृतयः समाः ॥ ४० ॥
उदारा व्यापका धर्मव्याख्येयं देवसंस्कृतेः ।
यथैतैर्ऋषिभिः प्रोक्ता महत्ताबोधिनी तु सा ॥ ४१ ॥
धर्मस्य धारणायास्तु स्वीकृतेरुपयोगिता ।
वस्तुतोऽत्रास्तियन्त्राणां चिन्तनं प्रोन्नयेत्तु सा ॥ ४२ ॥
आत्मनो गौरवस्येमनुभूतिं तथैव च ।
सुजनतां व्यवहारस्य साहसं वितरेच्च सा ॥ ४३ ॥
धर्मस्य धारणा व्यक्तिमुच्चास्थां प्रतिनिष्ठितम् ।
आस्थायुक्तांकरोत्येवं विश्वं याति कुटुंबताम् ॥ ४४ ॥
यदि सा विग्रहे द्वेषे तथैव च दुराग्रहे ।
समुदेति न सा धर्मः परं विकृतचिंतनात् ॥ ४५ ॥
जाता सा हि मताऽनास्था जन्मदासंप्रदायगा ।

मनोवृत्तिर्यया विश्वं त्रस्तं संदृश्यतेऽभितः ॥ ४६ ॥

टीका—हे तात भारतीय संस्कृति देव संस्कृति है। यह एक विराट् महासागर की तरह है, जिसमें भिन्न-भिन्न धर्म संप्रदाय संस्कृतियाँ आकर मिलती हैं और समय पर निकलती भी रहती हैं। धर्म की व्याख्या जितने उदार एवं व्यापक अर्थों में देवसंस्कृति के पक्षधर ऋषिगणों द्वारा वर्णित की गई है, उससे इसकी महत्ता का बोध होता है। वस्तुतः धर्मधारणा को अपनाने की उपयोगिता इसी में है कि वह मानवी चिंतन का स्तर ऊँचा उठाए। उसे आत्मगौरव की अनुभूति कराने के साथ-साथ सज्जनता को व्यवहार में उतारने का साहस प्रदान करे। धर्म धारणा व्यक्ति को उच्चस्तरीय आस्थाओं के प्रति निष्ठावान बनाती है, जिससे सारा विश्व एक कुटुंब बन जाता है। यदि वह विग्रह, विद्वेष एवं दुराग्रह के रूप में प्रकट होती है, तो उसे धर्म नहीं, अपितु मानव के विकृत-चिंतन से जन्मी, अनास्था को जन्म देने वाली संप्रदायवादी मनोवृत्ति मानना चाहिए, जिससे पग-पग पर विश्व त्रस्त दिखाई देता है ॥ ३९-४६ ॥

भारतीय संस्कृति की सर्वोपरि विशेषता है जीवन और जगत को देखने का उसका आध्यात्मिक दृष्टिकोण। इसके पक्षधर ऋषियों ने जिन उच्चादर्शों की स्थापना की, वह इस संस्कृति की महानता के ही परिचायक हैं। आत्मवत् सर्वभूतेषु वसुधैव कुटुंबकम् निर्वैरिः सर्वभूतेषु, न पापे प्रति पापः स्यात्साधुरेव सदा भवेत्, सर्वे भवंतु सुखिनः आदि ऐसे आदर्श हैं जिन्हें उन्होंने सच्चा मानव धर्म बताया और जीवन पर्यंत इसका परिपालन करते रहे। इन्हीं उदात्तताओं के कारण भारतीय संस्कृति देव संस्कृति कहलाई और उसे अपनाने वाले ऋषि महानता की ऊँचाइयों को छू सके।

इसके विपरीत यदि उनका दृष्टिकोण इतना विशाल न होता, कूपमंडूक रहे होते, स्वार्थपरता अपनाते और हेय चिंतन में ही उलझकर विग्रह-विद्वेषपूर्ण जीवन जीते होते, तो शायद ऋषि कदापि नहीं बन पाते और न यह धरती स्वर्गादपि गरीयसी कहलाने का सौभाग्य प्राप्त कर पाती। निस्संदेह इन उपलब्धियों के पीछे उनके देवोपम व्यक्तित्व और धार्मिक कर्तृत्व की ही भूमिका है। उनसे सच्चे अर्थों में धर्म को जिया था और अध्यात्म को जीवन में उतारा था। अस्तु धर्मधारणा की सार्थकता तभी मानी जा सकती है, जब वह व्यक्ति के चरित्र, चिंतन, व्यवहार को ऊँचा उठाए, उच्चस्तरीय आस्थाओं के प्रति निष्ठा जगाए और सही अर्थों में मनुष्य जैसा जीना सिखाए।

संस्कृतिः सभ्यता भिन्नौ यथा शब्दावनर्थतः ।

रक्ष्योऽर्थो संप्रदायं तं भिन्नं मत्वा हि धर्मतः ॥ ४७ ॥

परिस्थितिगताः सर्वे मान्यताऽधिष्ठिताश्च ते ।

५.४६ प्रज्ञोपनिषद्

रीतिप्रचलनास्थाश्च संप्रदायाः सदा भुवि ॥ ४८ ॥

कालप्रभावाद् ये यांति परिवर्तनमंततः ।

धर्मस्तु शाश्वतं तथ्यमध्यात्मं हि सनातनम् ॥ ४९ ॥

टीका—जिस प्रकार संस्कृति और सभ्यता दो पृथक् शब्द हैं, उसी प्रकार धर्म और संप्रदाय को अलग-अलग मानकर अर्थ का अनर्थ होने से बचना चाहिए। संप्रदाय सदा परिस्थितियों, मान्यताओं, प्रचलन एवं रीति-रिवाज पर ही संसार में टिके होते हैं, जो कि समयानुसार बदलते रहते हैं, जबकि धर्म एक शाश्वत-सनातन तथ्य है, जो कि आत्मिकी का पर्याय है ॥ ४७-४९ ॥

विश्व में हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, ताओ, सिंटो, जैन, बौद्ध, यहूदी, पारसी आदि कितने ही मत-मतांतर हैं। इनके क्रिया-कर्मकांडों, प्रथा-प्रचलनों, रीति-रिवाजों में भी जमीन-आसमान जितना अंतर है। सभी के अपने-अपने भगवान और अलग-अलग आचार व नीतिशास्त्र हैं। संबद्ध मतालंबी इन्हीं नीति-नियमों की परिधि में चक्कर काटता हुआ इन्हें ही धर्म मानने का दुराग्रह कर बैठता है, पर वस्तुतः यह धर्म नहीं है, वरन इससे निकलने वाली शाखा-प्रशाखाएँ हैं, इन्हें संप्रदाय कहते हैं। यह समयानुसार बदलते रहते हैं। कपड़े जब जीर्ण-शीर्ण पड़ जाते हैं, तो उन्हें बदलकर नया वस्त्र धारण करना पड़ता है। संप्रदाय ऐसे ही होते हैं। जब ये देश, काल, पात्र और परिस्थिति के अनुकूल नहीं रह जाते, पुराने और प्रतिगामी पड़ जाते हैं, तो इन्हें परिवर्तित कर इनकी जगह नए सिद्धांत और आचार-शास्त्र निर्मित करने पड़ते हैं।

तात धार्मिकताऽऽस्तिक्यमध्यात्मं त्रयमेव हि ।

लौकिक्याः प्रगतेर्हेतोरनिवार्या मता मम ॥ ५० ॥

एषु चैकतमं नैव पृथग् द्रष्टुं हि शक्यते ।

परस्परं हि त्रीण्यत्र गुम्फितानीव संततम् ॥ ५१ ॥

प्रोक्ता धार्मिकता कर्मनिष्ठा कर्तव्यपालनम् ।

आस्तिक्यार्थो विराट्सत्ता पर ब्रह्मव्यवस्थितेः ॥ ५२ ॥

अनुशासनसम्मानस्तस्मिन् विश्वस्य स्वं सदा ।

सत्कर्मणामनुष्ठाने योजयेच्च निरंतरम् ॥ ५३ ॥

आध्यात्मिक्यं तथैवात्मसत्ता सामर्थ्य उत्तमे ।

दृढविश्वस्य मानव्यां स्थिता संजीवयत्यमून् ॥ ५४ ॥

कर्मयोगी नरो यः स परब्रह्मानुशासने ।

विनिर्माति स्वकीयां तु श्रेष्ठां जीवनपद्धतिम् ॥ ५५ ॥

आत्मावलंबनं चैव करोत्यस्मै तु यः सदा ।

आस्तिकः स नरः सत्यं मतो धर्मपरायणः ॥ ५६ ॥

टीका—हे तात धार्मिकता, आस्तिकता एवं आध्यात्मिकता। तीनों ही आत्मिक एवं सांसारिक प्रगति हेतु अनिवार्य हैं। इनमें से किसी एक को अलग नहीं देखा जा सकता। तीनों

परस्पर एक दूसरे से गुँथे हैं। धार्मिकता कर्तव्यपरायणता का कर्मनिष्ठा का नाम है। आस्तिकता का अर्थ है उस विराट सत्ता-परब्रह्म की व्यवस्था के अनुशासन को मानना, उस पर विश्वास रखते हुए सदैव स्वयं को सत्कर्मों में नियोजित रखना। आध्यात्मिकता आत्मसत्ता की सामर्थ्य पर दृढ़ विश्वास रख मनुष्यों को मानवी गरिमा के अनुरूप जीवन जीना सिखाती है। जो कर्मयोगी है, परब्रह्म के अनुशासन के अंतर्गत अपनी जीवन की रीति-नीति बनाता है। इसके लिए जो आत्मावलंबन का आश्रय लेता है, वही सच्चे अर्थों में धर्मपरायण है आस्तिक है ॥ ५०-५६ ॥

परिस्थितय आयाताः परिवर्तनमद्य तु ।

ऋषे धर्मस्वरूपं तु विकृतिं प्रापितो नरैः ॥ ५७ ॥

श्रेष्ठः स्वकीयो धर्मस्तु निकृष्टश्च परस्य सः ।

स्वकीया मान्यताः सत्या असत्या अपरस्य च ॥ ५८ ॥

दुराग्रहोऽ संव्याप्तश्चतुर्दिक्षु जना अपि ।

सामान्यास्तुच्छमूलेषुविषमेषु परस्परम् ॥ ५९ ॥

धर्ममर्मानभिज्ञत्वाद् विग्रहस्य पृथक् स्थितेः ।

विषवल्लरिका पुष्टौ जायंते दृष्टिगोचराः ॥ ६० ॥

एको धर्मस्तथैकः स ईश्वरोऽस्तीति मान्यताम् ।

मत्वा मिथ्यां स्वकीयां च श्रेष्ठतां घोषयत्यहो ॥ ६१ ॥

दुराग्रहः पक्षपातः सत्यस्य स्वीकृतिस्सदा ।

निषेधत इहैतीत्यं संप्रदायोऽविवेकताम् ॥ ६२ ॥

टीका—हे ऋषिवर आज परिस्थितियाँ बदल गई हैं। धर्म का स्वरूप विकृत कर दिया गया है। अपना धर्म श्रेष्ठ दूसरे का निकृष्ट, अपनी मान्यता सच्ची, दूसरे की झूठी। यह दुराग्रह ही चारों तरफ संव्याप्त है। सामान्यजन छोटी-छोटी बातों पर धर्म का मर्म न समझ पाने के कारण परस्पर झगड़ते, विग्रह एवं अलगाव की विषवेलि का पोषण करते दृष्टिगोचर होते हैं। धर्म एक है, इस मान्यता को झुठला कर सभी अपनी श्रेष्ठता की दुहाई देते नजर आते हैं। पक्षपात और दुराग्रह सत्य को समझने से इंकार कर देता है और ऐसी स्थिति में समुदाय विवेक ही खो बैठता है ॥ ५७-६२ ॥

जिस प्रकार समस्त विश्व के लिए सूर्य-चंद्र एक हैं और अपनी उत्पत्ति के आरंभ से अब तक एक जैसी स्थिति में बने हुए हैं, उसी प्रकार समस्त मानव का एक ही धर्म है। वह चाहे किसी भी देश अथवा समय से संबद्ध हो सदा एक जैसा रहता है, और प्रेम-सद्भाव, सहयोग-सहकार की ही शिक्षा देता है, किंतु दुर्भाग्यवश आज इसने अपना सार्वभौम स्वरूप ही खो दिया है और जो स्वरूप अपनाया है, वह संप्रदायवाद का पक्षधर है। हम संप्रदाय को धर्म मान बैठे हैं। इतने पर भी विडंबना यह है कि हम उसके श्रेष्ठ व व्यावहारिक पक्ष को अपनाने की तुलना में कौन पंथ श्रेष्ठ कौन निकृष्ट

इसी उलझन में पड़े रहते हैं, जिससे न तो अपना कल्याण हो पाता है, न ही समाज का, उलटे इसके दुष्परिणाम भुगतने पड़ते हैं। यदि गंभीरतापूर्वक विचारा जाए तो पाएँगे कि सभी संप्रदायों के मूल सिद्धांत प्रायः एक ही हैं, पर धर्मध्वजी अपना बड़प्पन और स्वार्थ सिद्ध करने के लिए अपने-अपने पंथों की श्रेष्ठता का बखान करते और दूसरे मतों को नीचा दिखाने की हठधर्मिता अपनाते हैं, फलतः विग्रह पनपता है और मनोमालिन्य बढ़ता है, द्वेष उपजता है और दुराग्रह बढ़ता है, जिससे धर्म, धर्म न रहकर अधर्म का पृष्ठपोषण करता दिखाई पड़ने लगता है।

अद्य धर्मो विभिनैश्च समुदायैर्नरैरपि ।

गृहीतः साधनत्वेन पूर्तये तूदरस्य सः ॥ ६३ ॥

विस्मृत्य धर्ममर्मेते सर्वेऽकर्मठतां श्रिताः ।

पराश्रयं हि जीवति बाधन्तेऽज्ञांश्च शोषणैः ॥ ६४ ॥

धर्मोपदेशकानां च वेषेणाच्छन्नमूर्तयः ।

दृश्यन्तेऽसंख्यका धर्मधृतिर्येषां न जीवने ॥ ६५ ॥

वस्तुतत्त्वानभिज्ञास्ते धर्मबद्धादराः दृढाः ।

भावुकाः पुरुषाः प्रायो धर्मोन्मादिनृणामिह ॥ ६६ ॥

एतादृशानां तर्कैस्त्वैर्मान्यताभिर्वृता विषम् ।

वमन्तः संप्रदायेषु समाजं ध्वंसयन्ति ते ॥ ६७ ॥

समस्यास्ति वाञ्छेयं जनः साधारणस्तुतम् ।

धर्मस्यार्थं विजानीयान् मन्येतापि च शाश्वतान् ॥ ६८ ॥

सिद्धान्तानथसद्भावान्निवसन्तु तथैव च ।

व्यवहरन्तु च निःशंकं सर्वेऽप्येते परस्परम् ॥ ६९ ॥

सम्भवेच्च तदैवैतत्समुदायेषु समेषु ते ।

धर्मसंस्कृतिदूतास्तु कुर्युस्तामतिविस्तृताम् ॥ ७० ॥

टीका—आज धर्म को किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियों अथवा समुदायों ने उदरपूर्ति का साधन बना लिया है, इसमें जरा भी संदेह नहीं। धर्म का मर्म कर्तव्य-परायणता को भूलकर वे अकर्मण्य, परावलंबी जीवन जीते एवं दूसरे नासमझ व्यक्तियों का शोषण करते दिखाई देते हैं। धर्मोपदेशक का लबादा ओढ़े ऐसे अगणित व्यक्ति देखे जा सकते हैं, जिनके जीवन में धर्मधारणा का किंचित् मात्र भी अंश नहीं होता। वास्तविकता को न जान-पाने एवं धर्म के प्रति अपनी दृढ़ आस्था होने के कारण भावुक व्यक्ति बहुधा ऐसे धर्मोन्मादियों के तर्कों-मान्यताओं के चंगुल में फँसकर तथाकथित संप्रदायवाद का विष उगलते, समाजरूपी भवन को ध्वस्त करते दिखाई देते हैं। समय की माँग है कि जनसाधारण धर्म के सही अर्थ को समझें, धर्म के शाश्वत सिद्धांतों को मानें एवं परस्पर निःशंक होकर सद्भाव से व्यवहार करना सीखें। यह तभी संभव है, जब सारे समुदाय में धर्म संस्कृति के अग्रदूत सर्वधर्म समभाव की भावना का विस्तार करने का सत्साहस करें ॥ ६३-७० ॥

सार्वभौम धर्म में, धर्म का एक अर्थ कर्तव्य-परायणता-कर्मनिष्ठा भी है। जो मानवोचित जीवन के अनुकूल हो, उन कर्तव्यों का निर्वाह करना और सेवा-श्रमरत रहकर ही जीवन व्यतीत करना इसे सर्वोपरि धर्म माना गया है। इस दायित्व की अनदेखी करना और अकर्मण्य परावलंबी जीवन जीना व्यक्ति को धर्मच्युत बनाता है तथा ऐसी स्थिति में पहुँचाता है, जहाँ सिवाए चिंतन-प्रदूषण के और कुछ नहीं बन पड़ता है।

आज तथाकथित धार्मिकों और धर्मोपदेशकों की यही दशा है। धर्म का स्वांग तो वे बढ़-चढ़कर लेते हैं, पर जहाँ कथनी और करनी का, आचरण व व्यवहार का प्रश्न आता है, वहाँ उनकी अपनी स्थिति ढोल की पोल जैसी बन जाती है। ऐसे में जब उन्हें पद-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान नहीं मिल पाता, तो वे धर्म की आड़ लेकर तरह-तरह के ढोंग रचते और भोले-भाले लोगों को अपने कुचक्र में फँसाते एवं उनके नेता बन बैठते हैं। इस प्रकार इन धर्मभीरु लोगों द्वारा उनकी उदरपूर्ति होती रहती है, तथा बदले में वे सांप्रदायिकता का विष-बीज बोकर समाज में फूट-फसाद पैदा करते तथा अवसर का अनुचित लाभ उठाते हैं।

समाज को इस दुरावस्था से उबारने का एक ही उपाय है कि सभी मत-मतांतरों के जीवन जागरूक प्रतिनिधि उभरकर सामने आएँ और शाश्वत धर्म के तत्त्वदर्शन को अपने-अपने प्रकार से जनसामान्य को समझाएँ कि सभी धर्मों का सार एक ही है कर्तव्य-परायणता-न्यायनिष्ठा। इससे एक ही साथ दो उद्देश्य पूरे होंगे धर्म के सही मर्म को समझ सकेंगे तथा सर्वधर्म समभाव की भावना का विस्तार होने से वैमनस्य और कटुता का दुर्भाव मिटेगा तथा समाज में सौमनस्य का वातावरण बनेगा।

भवतः प्रतिपाद्यानि बुद्धियुक्तानि देव तु।

लाभा अपि न सन्दिग्धास्तथाप्येतत्तु दृश्यते ॥ ७१ ॥

अनेका व्यक्तयो राजमार्गं त्यक्त्वा तृणाकुलम्।

अपथं यांति शोचन्ति मन्यन्ते ऽयोग्यमान्यताः ॥ ७२ ॥

देव! धर्मस्य सिद्धान्तान् सार्वभौमान् वद प्रियान्।

समस्तानां च धर्माणां संप्रदायेषु सम्मतान् ॥ ७३ ॥

तेषामेव करिष्यामो विवक्तिं च प्रचारणम्।

संकीर्णा येन ज्ञास्यन्ति भिन्नतां सत्यरोधिनीम् ॥ ७४ ॥

सत्याविरोधिनीं चात्र वस्तुतत्त्वेकतां समे।

ब्रह्मज्ञो सुप्रसन्नोऽभूदुवाचार्थयुतं वचः ॥ ७५ ॥

टीका—ब्रह्मचारियों ने कहा भगवन आपके द्वारा व्यक्त किए गए सभी प्रतिपादन सर्वथा बुद्धि संगत दीखते हैं। उनके लाभ भी असंदिग्ध हैं इतने पर भी देखा जाता है कि अधिकांश लोग इस राजमार्ग को छोड़कर झाड़-झंखाड़ जैसी पगडंडियों पर भटकते हैं, उलटा सोचते और अनुपयुक्त मान्यताएँ अपनाते

५.४८ प्रज्ञोपनिषद्

हैं। हे देव उन धर्म सिद्धांतों को बताइए जो सार्वभौम हैं। हम उन्हीं का विवेचन और प्रचार करेंगे। इससे संकीर्णतावादी यह समझने में समर्थ होंगे कि भिन्नता अवास्तविक है और एकता वास्तविक। यह सुनकर ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य बहुत प्रसन्न हुए और सारगर्भित वाणी में बोले ॥ ७१-७५ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच-

सार्वभौमस्य धर्मस्य व्याख्येयमृषित्तम ।
दशभिर्धर्मसारैस्तैः शक्या कर्तुं हि लक्षणैः ॥ ७६ ॥
सर्वेषां प्राणरूपाश्च धर्माणां संति ते ध्रुवम् ।
धर्मतत्त्व विविक्तौ च स्वेनैव विधिना समे ॥ ७७ ॥
एतेषामेव शाखानां कुर्वते तु निरूपणम् ।
युग्मैः पञ्चभिरप्यत्र ज्ञातुं शक्यानि पूर्णतः ॥ ७८ ॥
लक्षणानि तु धर्मस्य सर्वाणीमानि मानवैः ।
युग्मेष्वन्यतमं वक्तुं शक्यते मुनिपुंगव ॥ ७९ ॥
समन्वयं तु सत्यस्य विवेकस्य परस्परम् ।
युज्यते संयमं वक्तुं कर्तव्यं च द्वितीयकम् ॥ ८० ॥
मर्यादापालनं सर्वं तृतीयमनुशासनम् ।
पराक्रमस्य तुर्येऽस्ति सौजन्यस्याथ मिश्रणम् ॥ ८१ ॥
सहकारं परार्थं च पञ्चमं मन्यतामिह ।
पञ्चस्वेतानि वक्तुं वा शक्यान्यथदशस्वपि ॥ ८२ ॥
न्यूनाधिकासु संख्यासु सामान्यानां हितेच्छया ।
दैवीसंपत्ति - नाम्नेमान् गीताकारो व्यभूषयत् ॥ ८३ ॥
समेषां सारसंक्षेपो वक्तुं शक्यत एव तु ।
कर्तव्यपालनं सामाजिकदायित्वनिर्वहः ॥ ८४ ॥
जीवनस्य परिष्कारः समुदायोदयस्य च ।
सारनिष्कर्ष एवास्ति लक्षणेषु दशस्वपि ॥ ८५ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले, हे ऋषिश्रेष्ठ सार्वभौम धर्म की व्याख्या-विवेचना धर्म के सार तत्व दस लक्षणों से की जा सकती है। वे ही सब धर्मों के प्राण हैं। इन्हीं की शाखा-प्रशाखाएँ धर्मतत्व विवेचना में अपने-अपने ढंग से निरूपित की जाती है। इन्हें मानव मात्र के द्वारा पाँच युग्मों के रूप में भी जाना जा सकता है। हे मुनिवर इन युग्मों में से एक को सत्य और विवेक का समन्वय कह सकते हैं। दूसरे को संयम और कर्तव्य कहा जाना चाहिए। तीसरे को मर्यादापालन और अनुशासन निर्वाह कहते हैं। चौथे में सौजन्य और पराक्रम का सम्मिश्रण है। पाँचवें को सहकार-परमार्थ कहना चाहिए। इन्हें सामान्य व्यक्तियों की बोध दृष्टि से पाँच-दस या न्यूनाधिक संख्या में भी कहा जा सकता है।

इन्हीं को गीताकार ने दैवी संपत्ति के नाम से विभूषित किया है। इन सबका सार-संक्षेप कहना हो तो उसे कर्तव्य पालन और सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह भी कह सकते हैं। जीवन के सर्वांगपूर्ण परिष्कार एवं समष्टिगत मानव समुदाय

के अभ्युदय का सार-निष्कर्ष धर्म के इन दस लक्षणों में सन्निहित है ॥ ७६-८५ ॥

यहाँ ऋषि सार्वभौम धर्म की व्याख्या सत्य, विवेक, संयम, कर्तव्य, मर्यादापालन, अनुशासन, सौजन्य, पराक्रम, सहकार, परमार्थ के दस प्रमुख लक्षणों के रूप में करते हैं और कहते हैं कि भिन्न-भिन्न धर्मों में यही पाँच युग्म अपने-अपने प्रकार से वर्णित हैं। इन्हें धर्म का सार माना गया है। मनुष्य के सारे कर्तव्य और दायित्व इन्हीं पाँच युग्मों के दायरे में आते हैं, अतः जो इनका परिपालन भली-भाँति कर लेते हैं, जीवन में धर्म का निर्वाह भी उन्हीं से बन पड़ता है और वैसे ही लोग आत्मपरिष्कार और आत्मोत्थान की कठिन परीक्षा उत्तीर्ण करने में सफल हो पाते हैं।

तात ! धर्म कर्मकांड पर्यन्तं रीतिसीमितम् ।
स्थितं प्रचलनेष्वत्र मन्यन्ते पुरुषास्तु ये ॥ ८६ ॥
कुर्वते हृदगतं ते नास्तिकता तत्त्वदर्शनम् ।
अतएव त्रसन्त्येते संक्षोभभरितं पुनः ॥ ८७ ॥
जीवनं यापयन्तस्ते दृश्यन्ते परितो भुवि ।
धर्ममर्माधिगता यस्तेन प्राप्तो हि वस्तुतः ॥ ८८ ॥
मार्गो यः प्रापयेन्मर्त्यं सीमानं परमात्मनः ।
धर्मो रक्षति तं यो वै धर्मं सम्मनुते स्वयम् ॥ ८९ ॥
न चलेद्धर्ममार्गं यस्तं स नाशान् त्रायते ।
सन्ति ये तु नरश्रेष्ठ ! सत्या धर्मपरायणाः ॥ ९० ॥
स्वानां भगवतां नैव विनिर्माणोन्मुखास्तु ये ।
तेषां नाम्ना न कुर्वन्ति विग्रहादिविडंबनाम् ॥ ९१ ॥
मन्यन्ते केवलं तस्याः सत्ताया अनुशासनम् ।
एतादृशास्तु सन्त्यत्र ये ये वै नरपुंगवाः ॥ ९२ ॥
आस्तिका वस्तुतः सर्वे ते हि धर्मपरायणः ।
सारगर्भं समाधानं श्रुत्वाऽपृच्छत्स्वयं नतः ॥ ९३ ॥

टीका—हे तात धर्म को कर्मकांड तक, प्रचलन-रीति रिवाजों तक सीमित मानने वाले व्यक्ति आस्तिकता के तत्त्वदर्शन को हृदयगम नहीं कर पाते। इसी कारण त्रास पाते, संक्षोभों-विक्षोभों से भरा जीवन जीते पृथ्वी पर चारों ओर देखे जाते हैं। जिसने धर्म का मर्म जान लिया, समझ लेना चाहिए कि उसने परमात्मसत्ता तक पहुँचने का सच्चा मार्ग खोज लिया। हे नरश्रेष्ठ धर्म उसी की रक्षा करता है, जो धर्म को मानता है। पर जो उसके कहे पर नहीं चलता, धर्म स्वयं उसे नाश से नहीं बचा पाता है। सच्चे धार्मिक व्यक्ति अपना भगवान स्वयं विनिर्मित करने, उस नाम पर भाँति-भाँति के विग्रह खड़े करने की विडंबना में न उलझकर उस एक परमसत्ता के अनुशासन को ही मानते हैं। ऐसे नर पुंगव ही सही अर्थों में आस्तिक, धर्मपरायण कहलाते हैं। अपनी जिज्ञासा का सारगर्भित समाधान सुनकर कृतकृत्य हृदय से ऋषि कौण्डिन्य

ने खड़े होकर विनम्र भाव से पूछा ॥ ८६-९३ ॥

यहाँ सच्चे आस्तिक और धर्मपरायण व्यक्ति की परिभाषा दी गई है। ऋषि कहते हैं कि सच्चा धार्मिक वह नहीं, जो धर्म को प्रथा-प्रचलन, रीति-रिवाज, विधि-विधान के रूप में देखता है, वरन् यह है, जो परब्रह्म के अनुशासन को सर्वोपरि मानकर चलता और उसका पालन करता है। मिलिट्री में सच्चा सैनिक उसी को माना जाता है, जो अनुशासन पूर्वक चलकर निष्ठापूर्वक कर्तव्यों का पालन करता हो। पदोन्नति ऐसे ही सैनिकों को मिल पाती है, किंतु जो अनुशासन भंग करने तथा कर्तव्यों की उपेक्षा बरतने की धृष्टता करते हैं वे तरह-तरह के दंड पाते और बरखास्त भी कर दिए जाते हैं।

धर्म को ईश्वरीय अनुशासन माना जा सकता है। जो इसे जीवन में सही-सच्चे ढंग से निभा लेता है, वही अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए जीवन-विकास कर पाता है, पर जो ऐसा नहीं कर पाता, वह तरह-तरह के त्रास पाता हुआ पतन-पराभव के गर्त में समा जाता है।

कौण्डिन्य उवाच-

देव ! धर्मस्तु व्याख्यातो यथाऽयं भवता वयम्।

धन्या जातास्तु तेनाथ यश्चैतन्मर्मजीवने ॥ ९५ ॥

धारयिष्यति सोऽवश्यमात्मनः प्रगतेः स्वतः।

दुर्लभां लक्ष्य-सिद्धिं तामञ्जसैव गमिष्यति ॥ ९६ ॥

टीका—कौण्डिन्य बोले हे देव धर्म की व्याख्या जिस

प्रकार आपने की है, उसमें हम सभी धन्य हुए हैं। जो भी इस मर्म को जीवन में उतारेगा, वह निश्चित ही आत्मिक प्रगति की दुर्लभ लक्ष्य सिद्धि को सरलता से प्राप्त कर लेगा ॥ ९४-९५ ॥

पूर्णतामद्य संप्राप्तः समयस्तु यतस्ततः।

गोष्ठीं समापयंस्तं स सत्राध्यक्ष उवाच यत् ॥ ९६ ॥

भद्राः धर्मधृतेः सोऽयं प्रसंगो जटिलस्तथा।

विस्तृतोऽस्ति दिनेनैव व्याख्यातुं नैव संभवम् ॥ ९७ ॥

उचितं तत एवैतत् प्रसंगेऽस्मिन् पुनस्त्वह।

भवेत्तन्मथनं मान्याः निष्कर्षं प्राप्तुमुत्तमम् ॥ ९८ ॥

महर्षयः समेऽप्यस्माद् याज्ञवल्क्यं प्रणम्य च।

प्रस्थिताः स्वकुटीरांस्ते चिंतनैकरतास्ततः ॥ ९९ ॥

टीका—चूँकि आज समय पूरा हो चुका था, अतः सत्राध्यक्ष ने ज्ञानगोष्ठी के समापन की घोषणा करते हुए कहा, उपस्थित भद्र जनो धर्मधारणा संबंधी प्रस्तुत प्रसंग काफी जटिल एवं लंबा है। एक दिन में इस विषय पर पूरी चर्चा हो पाना संभव नहीं है। अतः उचित होगा कि इस प्रसंग पर कल और मंथन किया जाए, ताकि हम अंतिम निष्कर्ष तक पहुँच सकें। सभी महर्षि याज्ञवल्क्य का अभिवादन कर वहाँ से संध्या-वंदन हेतु अपनी-अपनी कुटिया को चिंतन में संलग्न होते हुए प्रस्थान कर गए ॥ ९६-९९ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युग दर्शन युग साधना प्रकटीकरणयोः

महर्षि याज्ञवल्क्य प्रतिपादिते धर्म धारणा इति प्रकरणो नाम पंचमोऽध्यायः ॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

सर्वधर्म-समभाव-प्रकरण

प्रारब्धा ज्ञानगोष्ठी सा षष्ठस्याथ दिनस्यतु।

स्वस्तिवाचनपूर्वं च गायत्रीपाठपूर्वकम् ॥ १ ॥

ज्ञानविज्ञानयोः केंद्रमालोकस्य निधिं प्रभुम्।

ध्यात्वासवितृदेवं च संमिद्धिर्ज्ञानयज्ञजम् ॥ २ ॥

जिज्ञांसवस्तदालोकं ज्वालयामासुरुत्तमम्।

ओतप्रोता तदालोकैः सृष्टिरेषा समन्ततः ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्यस्य संकेतं सत्राध्यक्षस्य स ऋषिः।

प्राप्य कौण्डिन्य उत्थाय जिज्ञासां संन्यवेदयत् ॥ ४ ॥

टीका—छठे दिन की ज्ञान गोष्ठी मंगलाचरण पूर्वक आरंभ हुई। उपस्थित जिज्ञासुओं ने सस्वर गायत्री पाठ और ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश केंद्र सविता देव का ध्यान करते हुए

ज्ञान यज्ञ में समिधा डालकर आलोक प्रज्ज्वलित किया, जिस आलोक से यह समस्त सृष्टि ओतप्रोत है। सत्राध्यक्ष याज्ञवल्क्य जी का संकेत मिलते ही ऋषि कौण्डिन्य खड़े हुए एवं उन्होंने विनम्रभाव से अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा ॥ १-४ ॥

यहाँ ज्ञानयज्ञ से तात्पर्य सद्ज्ञान से, विवेक के संवर्द्धन से, महाप्राज्ञ के परिपोषण एवं सदाशयता के अभिवर्द्धन से है। परब्रह्म परमात्मा की चेतना, प्रेरणा, सक्रियता एवं समर्थता को ही मनीषियों में गायत्री कहा है। गायत्री छन्दसामहम और बुद्धिबुद्धिमतामस्मि कहकर गीता में भगवान ने गायत्री को अपना स्वरूप बताया है। गायत्री का देवता सविता है। आध्यात्मिक अर्थ में इसे ब्रह्मांड व्यापी चेतन ऊर्जा के रूप में माना गया है और कहा गया है सवितावा देवानाम् प्रसविता अर्थात् सविता ही देवों का प्रसविता है। वे मानों उस चेतन

५.५० प्रज्ञोपनिषद्

सूर्य की रश्मियाँ हैं। देवता प्राणस्वरूप माने गए हैं और उनके अभिवर्द्धन, परिपोषण तथा रक्षण करने वाली शक्ति ही गायत्री है। गायत्री महामंत्र में सूक्ष्म रूप से इन्हीं देव शक्तियों का समावेश है। लौकिक एवं पारलौकिक उत्कर्ष, जीवन की व्यक्तिगत तथा संपूर्ण विश्व की समष्टिगत समस्याओं का सर्वतोमुखी समाधान गायत्री महामंत्र में सन्निहित है। यही कारण है कि सृष्टि के आरंभ से लेकर अब तक ऋषि-मनीषियों, अवतारी, महामानवों की गायत्री आराध्य रही है। यहाँ भी ऋषियों ने उसी का आश्रय लिया और आगे बढ़े।

कौण्डिन्य उवाच—

देव ! धर्मस्य संबंधि ह्यस्तनं हि विवेचनम् ।
श्रुत्वा मन्थनमस्माभिर्विहितं विषये बहु ॥ ५ ॥
भवतः प्रतिपाद्यानि बुद्धियुक्तानि देव तु ।
असमञ्जसमेकं तु चित्तेऽस्माकमुदेति यत् ॥ ६ ॥
तत्त्वदर्शनरूपाया धर्मस्यास्य धृतेः समान् ।
जानन्तोऽपिमतान् भिन्नानाचरन्त्येषु नो कथम् ॥ ७ ॥
समागमेषु सर्वेषु धार्मिकेषु च पर्वसु ।
जपानुष्ठनयोः स्नानरात्रिजागरणेषु च ॥ ८ ॥
देवस्थानेषु सामान्यजनानां दृश्यते महान् ।
समर्द्धो धर्मचर्चा चाऽसंख्यां शृण्वन्ति ते सदा ॥ ९ ॥
दृश्यते च तथाप्यत्रानैतिकत्वं पदे पदे ।
आक्रामकत्वचौर्यादि विद्वेषा विग्रहास्तथा ॥ १० ॥
धर्मच्छायासु पुण्यासु धर्मनाम्ना कथं पुनः ।
भीषणो नरसंहारः पशुहत्यादिकं तथा ॥ ११ ॥
धर्मस्तु सार्वभौमोऽस्ति कथं तत्ते मतान्तराः ।
कल्पिताश्चनिजाव्याख्या दृश्यन्ते बाह्यडंबराः ॥ १२ ॥
धर्मस्य परिवृत्तौ ते जना धर्मपरायणाः ।
लग्ना व्यग्रतया देव ! दृश्यन्ते किमिदं कथम् ॥ १३ ॥
विसंगते रहोदरिन् कारणं नस्तु बोध्यताम् ।
अस्माद् विपर्ययान्मोक्तुमुपायो बोध्यतां प्रभो ॥ १४ ॥

टीका—कौण्डिन्य बोले हे देव धर्म संबंधी कल का विवेचन सुनने के बाद हम सबने उस विषय पर काफी मंथन किया है। भगवन् आपके द्वारा व्यक्त किए गए सभी प्रतिपादन सर्वथा बुद्धिसंगत दीखते हैं। एक असमंजस हमारे मन में और उठा है कि तत्त्वदर्शन, धर्मधारणा के इन विभिन्न पक्षों को जानते-समझते हुए भी सामान्यजन इस पर आचरण क्यों नहीं कर पाते? धार्मिक समागमों, पर्व-त्यौहारों, अनुष्ठानों, अखंड जप, सामूहिक स्नान, रात्रि जागरण में एवं देवस्थानों पर जन साधारण की अपार भीड़ दृष्टिगोचर होती है। धर्मोपदेशकों के संदेश भी अगणित व्यक्ति सुनते दिखाई देते हैं। फिर भी अनैतिकता, आक्रामकता, विग्रह-विद्वेष, चोरी-लूटमार एवं धर्म की आड़ में परस्पर मारकाट क्यों कर पद-

पद पर दिखाई देती है? सार्वभौम धर्म एक होते हुए भी अनेक मत-मतांतर, प्रत्येक की अपनी-अपनी अलग-अलग मनगढ़ंत विवेचनाएँ एवं बाह्यडंबर क्यों देखे जाते हैं? हे देव धर्म परिवर्तन की विडंबना में धर्म परायण कहे जाने वाले व्यक्ति ही उलझे दिखाई देते हैं, ऐसा क्यों? हे तत्त्वदर्शी इस विसंगति का कारण बताइए और साथ ही इस विपर्यय से बचने-छूटने का उपाय भी बताइए ॥ ५-१४ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच

जिज्ञासा शृङ्खलां श्रुत्वा मोदं याति मनस्तु नः ।
भवता पृच्छता प्रश्नमिमं मानवता समा ॥ १५ ॥
धन्यी कृता नवोत्साहो भविताऽस्य समाहितेः ।
भद्रा आकर्ण्यतामेतद्रहस्यमसमञ्जसम् ॥ १६ ॥
प्राणाः शरीरं हे तात ! मिलित्वा जायते यथा ।
पुरुषस्तथैव धर्मोऽस्ति घटकद्वयनिर्मितः ॥ १७ ॥
बाह्यरूपं तु तस्यैकं यत्पूजास्तवनादिषु ।
दीपनीराजनाख्येषु कर्मकांडेषु दृश्यते ॥ १८ ॥
परमाया हि सत्ताया ध्यानायात्र तु कर्हिचित् ।
प्रतीकानाश्रयन्त्येषा निराकारा यतः स्वतः ॥ १९ ॥
संप्रदायेषु भिन्नेषु देशकालादि कारणात् ।
प्रतीकाः संति भिन्नास्ते लक्ष्यमेकं तथापि तु ॥ २० ॥
समष्टौ व्याप्तया ब्राह्म्या तथा चैतन्यसत्तया ।
एकात्मता प्रतिष्ठा सा तद्गुणाचरणं तथा ॥ २१ ॥
उपासनाविधिभिन्नो रीतयः पर्वणामपि ।
भिन्ना भवन्ति सन्त्येता यतः पद्धतयः परम् ॥ २२ ॥
स्वीकृत्य पद्धतीर्यास्तु लक्ष्यमाप्नुं समेऽपि तम् ।
यतन्ते परमात्मानं सत्प्रवृत्तिसमुच्चयम् ॥ २३ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले, आपकी जिज्ञासा शृङ्खला सुनकर हमारा मन प्रमुदित होता है। आपने यह प्रश्न पूछकर सारी मानवता को धन्य किया है। इसके समाधान से शीघ्र ही नया उत्साह उत्पन्न होगा। हे भद्र जनो इस असमंजस भरे आश्चर्य का रहस्य सुनो। हे तात जिस तरह शरीर और प्राण दोनों मिलकर पूर्ण पुरुष बनते हैं, धर्म भी ऐसे ही दो घटकों से मिलकर बना है। एक उसका बाह्यरूप है, जो पूजा-अर्चा, स्तवन, दीप-आरती इत्यादि कर्मकांड के रूप में देखा जाता है। परमसत्ता का ध्यान करने के लिए कभी-कभी प्रतीकों का आश्रय लिया जाता है, वस्तुतः वह सत्ता स्वतः निराकार है। प्रत्येक समुदाय में इसके भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं, चूँकि प्रतीकों में देशकाल आदि कारण होते हैं, पर उन सबका लक्ष्य एक ही होता है समष्टि में संव्याप्त ब्राह्मी चेतना सत्ता से एकात्मता स्थापित करना, उस भगवत्सत्ता के गुणों को अपने जीवन में उतारना। उपासना के विधि-विधान, पर्वों के रीति-रिवाज भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, पर गहराई से देखा

जाए, तो ये सभी मात्र पद्धतियाँ हैं, जिन्हें अपनाकर सभी एक ही लक्ष्य सत्प्रवृत्तियों के समुच्चय उस परमसत्ता के निकट पहुँचने का प्रयास करते हैं ॥ १५-२३ ॥

धर्मस्यास्यापरं रूपमान्तरंगं तु विद्यते ।

भावना प्रमुखं कर्मकांडे प्राणास्तु केवलम् ॥ २४ ॥

भावनायाः समावेशादागच्छति विना च ताम् ।

निर्जीवचिह्नमात्रं तन्मनो नोदि च साधनम् ॥ २५ ॥

प्राणिनां समुदायेन समष्ट्या प्रेम सर्वदा ।

अविशेषं नरश्चैषां सेवा, धर्मासवो मताः ॥ २६ ॥

धर्मस्य पूर्णता सेयं सार्थक्यं जीवनस्य च ।

सेवाप्रेममयं कृत्वैवात्मानं संभवत्यपि ॥ २७ ॥

टीका—धर्म का दूसरा अंतरंग रूप भावना प्रधान है। कर्मकांड इत्यादि में प्राण भावना के समावेश से ही आता है। उसके बिना तो वे निर्जीव मात्र चिह्न पूजा मन-बहलाव का साधन बनकर रह जाते हैं। समस्त प्राणि-समुदाय एवं मानव-मात्र से निर्विशेष प्रेम एवं सेवा-साधना को ही धर्म का प्राण मानना चाहिए। धर्म की पूर्णता जीवन की सार्थकता स्वयं को प्रेममय एवं सेवामय बनाने से ही संभव हो पाती है ॥ २४-२७ ॥

यहाँ ऋषि धर्म के अंतरंग पक्ष इष्ट के प्रति भावना और प्रेम की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इसके अभाव में पूजा-उपासना के सभी क्रियाकृत्य निर्जीव मात्र चिह्न-पूजा भर रह जाते हैं। मानसकार ने श्रद्धा भावना को भवानी शंकरौ वंदे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ। कहकर यह स्पष्ट किया है कि उसके बिना उपासना की सिद्धि या अंतःकरण में स्थित परमात्म देव के दर्शन संभव नहीं हो सकते। कहा जाता है कि भगवान् भाव के भूखे होते हैं। श्रद्धा भावना से पत्र पुष्प भी समर्पित करने पर वे उसे ग्रहण कर लेते हैं। मनुष्य का अपना अंतःदेवता भी श्रद्धा भावना के वश में है। भावना स्वयं अंतःकरण में इष्ट के प्रति प्रेम का उद्वेक करती है तो ऐसा आभास होता है कि अपनी प्रिय वस्तु अपने बहुत समीप, अपनी कल्पना में ही ओत-प्रोत है।

इष्ट के प्रति समर्पण को ही प्रेम कहते हैं। प्रेमयोग का साधक अपने अंतरंग में भावनात्मक और बहिरंग में क्रियात्मक प्रेममय की दिव्य संवेदनाओं का परिचय देता है। यही धर्मधारणा का प्राण है। भगवान् से प्यार करने का तात्पर्य है उसकी दुनिया के पीड़ित पक्ष की सेवा करना। इसी में जीवन की सार्थकता है।

अनगढ़ चेतना को सुगढ़ और सुसंस्कृत बनाने में धर्म-धारण ही महती भूमिका संपन्न करती है। चेतना का परिशोधन, परिष्कार एवं व्यक्तित्व का निखार धर्मधारणा के सहारे ही संपन्न होता है। पूर्णता प्राप्ति की सहज प्रवृत्ति मानव अंतःकरण

में विद्यमान है पर धर्म धारणा के अभाव में वह ईश्वर सान्निध्य प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाता, क्योंकि नियामक सर्वव्यापी सत्ता निराकार है, अनादि और अनंत है। उस निराकार ब्रह्म से संपर्क स्थापित करने का माध्यम क्या बने? इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए धर्म के बाह्य स्वरूप उपासनात्मक कर्मकांड के विधि-विधानों को दैनिक जीवन में नित्य कर्म की तरह अपनाने का निर्धारण किया गया है। उपासना में अपनी श्रद्धा को दृढ़ आधार प्रदान करने के लिए किसी न किसी प्रतीक को चित्र अथवा मूर्ति को एक अनिवार्य माध्यम माना गया है। प्रतीक जीव और ब्रह्म के मिलन में सहायक भूमिका निभाते हैं। हिंदुओं के मंदिर, देवी-देवताओं के चित्र अथवा मूर्ति, गीता आदि, वेदांतियों का सोऽम्, सविता और अग्नि के तेज का ध्यान, तथा ईसाइयों का गिरजा, बाइबिल तथा क्रूस, मुसलमानों का काबा और कुरान, पारसियों का अग्नि का ध्यान, साम्यवादियों का मार्क्स और लेनिन की कब्रों पर पुष्प चढ़ाना, महापुरुषों के चित्रों सद्ग्रंथों के प्रति श्रद्धा का होना आदि सभी उपासना की ही पूर्ति करते हैं।

उपासना वाला परमेश्वर ससीम है। इसे सुपर चेतना तथा परम ज्योति कहा गया है। विभिन्न धर्म संप्रदायों में इसे ही ईश्वर, खुदा, अल्लाह, गाड आदि नाम से संबोधित किया गया है। ससीम परमात्मा को उन सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय समझना चाहिए जो मानवी गरिमा का स्तर ऊँचा रखने की प्रेरणा देती है साथ ही पात्रता के अनुरूप प्रतिफल, अनुग्रह, अनुदान प्रदान करती है। वस्तुतः परब्रह्म अससीम है। निराकार और सर्वव्यापक होने के कारण वह न तो एक देशीय हो सकता है और न सीमित कहा गया है कि उसकी कोई प्रतिमा नहीं न तस्य प्रतिमा अस्ति और न स्वरूप न छवि आप्त वचनों भी कहा गया है एकं सद्ब्रह्म बहुधा वर्दति, एको विश्वस्य भुवनस्य राजा अर्थात् एक ही परब्रह्म को विद्वानों ने अनेक नामों से संबोधित किया है। उसे ही सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय बताते हुए ऋषि यहाँ कहते हैं कि पूजा उपासना से लेकर रीति-रिवाजों तक के क्रियाकृत्य अपनाकर मनुष्य अपने व्यक्तित्व को पवित्र एवं प्रखर बनाने का अभ्यास करता है और आत्म परिष्कार करते हुए ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करता है।

परमात्मप्रेम संयुक्ता जना ये शुद्धचेतसः ।

सृष्टेः कणेषु पश्यन्ति छायां तस्याभितो मुने ॥ २८ ॥

वनस्पतिषु पश्यन्ति चराचरगतं प्रभुम् ।

जीवेषु भिन्नवर्णादियुतेष्वेते नरेष्वपि ॥ २९ ॥

योजना उच्चनीचानां धनिनिर्धनानां तथा ।

लघूनां महतां भेदं विस्मृत्येह तु प्राणिनः ॥ ३० ॥

प्रेमदृष्ट्यैव पश्यन्ति धर्मात्मानस्तु तेऽर्थतः ।

५.५२ प्रज्ञोपनिषद्

परमेशप्रियाः प्रेमाऽसीमाऽनन्तं हि वस्तुतः ॥ ३१ ॥

यदा मनुष्यः सेवायां साधनायां रतः सदा ।

मत्वा पूजां निजं कर्म कुरुतेऽहंकृतिस्ततः ॥ ३२ ॥

नाशमेति स्वयं हेतुरस्ति याऽपूर्णतास्थितेः ।

परमात्मसत्तया चैक्यं पूर्णतामनुयाति च ॥ ३३ ॥

टीका—हे ऋषिश्रेष्ठ परमात्मसत्ता से सच्चे हृदय से प्रीति रखने वाले मुमुक्षुजनों को सृष्टि के प्रत्येक कण में चहुँ ओर उन्हीं की छाया दिखाई देती है। वृक्ष-वनस्पति, जीव-जंतु, विभिन्न वर्ण, वर्ग, जाति व लिंग के नर-समुदाय में उन्हें एक ही चराचर सत्ता के दर्शन होते हैं। जो व्यक्ति धनी-निर्धन, छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का भेदभाव भुलाकर प्राणिमात्र को प्रेम की दृष्टि से देखते हैं, वही सच्चे अर्थों में धर्मपरायण हैं, परमेश्वर को प्यारे हैं। वस्तुतः प्रेम की परिधि असीम है अनंत है। जब मनुष्य सेवा-साधना में निरत हो हर काम को पूजा मानकर करता है, तो उसका अहंकार, जो अपूर्णता का कारण है, स्वयमेव मिटता चला जाता है एवं उसे परमात्म सत्ता से एकत्व की पूर्णता की अनुभूति होने लगती है ॥ ३१-३३ ॥

यहाँ महर्षि प्रेम की असीम और अनंतता को स्पष्ट करते हैं। वस्तुतः प्रेम को ही परमेश्वर कहा गया है। देवर्षि नारद का कथन है कि सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा। ईश्वर से प्रेम करने का अर्थ है उसके प्रति, उसकी संरचना के प्रति समर्पण। सच्चे ईश्वर भक्त की यही पहचान है। उसे सर्वत्र आत्मवत् सर्वभूतेषु की अनुभूति होती रहती है। विश्वात्मा की वसुधैव कुटुंबकम् की सजीव अनुभूति तभी संभव होती है जब मनुष्य मात्र से, प्राणी मात्र से स्नेह सद्भाव का सघन संबंध होता है। सच्चे धर्मपरायण के लिए आत्मीयता मात्र सिद्धांतों तक सीमित नहीं रहती वरन वह सरस संवेदना बनकर अंतःकरण से फूट पड़ती है। सबके कल्याण की भावना जग पड़ती है। ईश्वरीय प्रेम अपने आप में सामर्थ्य का पुंज है और उस प्रेम भावना से ओत प्रोत मनुष्य जब अपने क्षुद्र स्व को लाँघकर दिव्य प्रेम की अनंतता में प्रवेश करता है तब वह परमसत्ता से एकत्व स्थापित कर लेता है। यही अद्वैत अनुभूति धर्म की अध्यात्म की पूर्णता है।

दुर्भाग्यादेष मर्त्यानां समुदायस्तु वर्गशः ।

बाह्ये धर्मस्वरूपे हि दत्तचित्तस्तु तिष्ठति ॥ ३४ ॥

अस्याविडंबनायाश्च मोक्तव्या जनता समा ।

सर्वधर्मसमं भावं कर्तुं तु हृदयंगमम् ॥ ३५ ॥

परेषामनिवार्य तु संस्कृतेरूपदेशकाः ।

धृतिं धर्मस्य स्वीये ते जीवने विदधत्विमाम् ॥ ३६ ॥

प्रमाणैर्ब्रह्मणः सत्तां प्रतिपाद्येश्वरास्थया ।

तस्यास्तैः फलितार्थैश्च विज्ञान् कुर्वन्तु ते जनान् ॥ ३७ ॥

दृढेष्वास्तिक्यमूलेषु धर्मगे संप्रदायगे ।

भेदे ज्ञाते स्वयं भ्रांतेर्नीहारो नाशमेष्यति ॥ ३८ ॥

टीका—दुर्भाग्यवश विभिन्न वर्गों के मनुष्य समुदाय धर्म के बाह्य स्वरूप में उलझकर रह जाता है एवं उसी को सब कुछ मानते हुए पूर्वाग्रहों से ग्रसित हो जाता है। इस विडंबना से जन समुदाय को मुक्ति दिलानी चाहिए। सर्वधर्म समभाव के स्वरूप को हृदयंगम कराने हेतु यह अनिवार्य है कि संस्कृति के उपदेष्टा धर्मधारणा को स्वयं जीवन में उतारें एवं परब्रह्म की सत्ता को विभिन्न प्रमाणों द्वारा प्रतिपादित कर ईश्वर विश्वास एवं उसके फलितार्थों से सबको परिचित कराएँ। आस्तिकता की जड़ें मजबूत होने पर एवं धर्म-संप्रदाय का अंतर समझ में आ जाने पर भ्रांतियों का कुहासा स्वयमेव मिटता चला जाएगा ॥ ३४-३८ ॥

यहाँ ऋषि उस विडंबना की ओर इंगित करते हैं जिसमें हर धर्म-संप्रदाय के लोग भोलेपन में कर्मकांडों को क्रिया-कृत्यों को ही सब कुछ मान लेते हैं और भावनाओं के परिष्कार को भूल जाते हैं। वस्तुतः भजन पूजन से लेकर तीर्थ यात्रा तक के क्रिया-कृत्यों के पीछे छिपा मूलभूत उद्देश्य एक ही है कि मानवी चिंतन पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों से विरत होकर पवित्रता और प्रखरता अपनाएँ, संयमी और उदारचेता बने, चरित्रनिष्ठ और समाजनिष्ठ बने। पर लोग पूजा पाठ के लोकाचार मात्र से यह समझ बैठते हैं कि भगत भक्ति का प्रयोजन पूरा हो गया। जप, पाठ, कीर्तन, सजदा, अजान आदि के बाह्य कृत्यों से संतोष कर लेते हैं कि देवता की भगवान की प्रसन्नता अर्जित कर ली। मंदिरों में देवदर्शन, नदी सरोवरों में स्नान, ब्रह्मभोज आदि के क्रिया-कृत्यों से अपनी धर्मश्रद्धा पूर्ण कर लेते हैं। यह परख नहीं करते कि हमारी भावनाएँ कितनी गहरी या उथली हैं। धर्म के ठेकेदार भगवान के एजेंट, महंत, कथावाचक, उपदेशकगण भी जो उपदेश देते हैं उसमें भी क्रिया-कृत्यों की ही प्रधानता होती है और इसी के आधार पर मनोकामना से लेकर स्वर्गमुक्ति तक का अनुपम माहात्म्य बताया जाता है। धर्मक्षेत्र की यह सबसे बड़ी विडंबना है। इससे मुक्ति दिलाने और सर्वधर्म समभाव के स्वरूप को जन-जन तक पहुँचाने के लिए ऋषि का यहाँ कथन है कि धर्माचार्य उपदेष्टा स्वयं धर्म को धारण करे और जीवन में उतारे। प्रत्यक्ष आचरण द्वारा ही किसी को सिखाया जा सकता है। आस्तिकता का पक्षधर बनने पर ईश्वर का अडिग विश्वास होने पर ही धर्म और संप्रदाय का वास्तविक स्वरूप समझ में आता है और तब विग्रह की कहीं कोई गुंजाइश नहीं रह जाती।

कृतं निष्कामभावेन कर्म धर्मोऽस्ति वस्तुतः ।

स्वार्थहेतुकृतं कर्म भौतिकाध्यात्मबाधकम् ॥ ३९ ॥

स्वतः सिध्यति स्वार्थस्तु सेवते प्राणिनो नरः ।
यहिं मत्वा निजं धर्मं परमार्थं रतो भवेत् ॥ ४० ॥
विक्रये गोरसस्यात्र हरेर्मिलनमुत्तमम् ।
एकस्मिन् पथि लाभोऽयं कर्मणोऽस्तु द्वयोरपि ॥ ४१ ॥
साधनायां च सेवायां नियुक्ता व्यक्तयस्तु याः ।
लभन्ते सहयोगं ताः सम्मानमनुदानकम् ॥ ४२ ॥
अतोऽस्माभिरिदं बोध्यं परमार्थो हि वस्तुतः ।
स्वार्थो यतः समष्टौ तु व्यष्टिराविशति स्वयम् ॥ ४३ ॥

टीका—वस्तुतः निष्काम भाव से किया गया कर्म ही धर्म है। जो कार्य अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु किया जा रहा हो, वह मनुष्य की भौतिक एवं आत्मिक दोनों ही प्रगति में बाधक बनता है। स्वार्थ तो स्वतः ही सधने लगता है, जब मनुष्य प्राणिमात्र की सेवा को अपना धर्म मानकर परमार्थ में जुट जाता है, यह तो गोरस बेचन हरि मिलन एक पंथ दो काज की तरह लाभ ही लाभ है। सेवा-साधना में नियोजित व्यक्ति स्वतः जन सम्मान, सहयोग एवं भौतिक अनुदान पाता रहता है। वस्तुतः परमार्थ ही सच्चा स्वार्थ है, चूँकि समष्टि में व्यक्ति (व्यष्टि) स्वतः ही आ जाता है ॥ ३९-४३ ॥

यहाँ महर्षि ने उच्चस्तरीय स्वार्थ को ही परमार्थ बताया है। स्वार्थ और परमार्थ में संघर्ष तब होता है जब वे प्रथक रहते, भिन्न दिशा अपनाते, विवादों में फँसते और परस्पर टकराते हैं। परंतु जब कर्म निष्काम भाव से किया जाता है तब स्वार्थ और परमार्थ दोनों में पति-पत्नी की तरह, आग ईंधन की तरह पूर्ण एकात्मता रहती है एवं उनकी सम्मिलित प्रक्रिया ऐसी होती है जिससे लौकिक संपदाओं और आत्मिक विभूतियों की उपलब्धि साथ-साथ होती चलती है। परमार्थ का तात्पर्य है सत्प्रवृत्तियों का संवर्द्धन, सदाशयता का प्रचलन, पीड़ा और पतन का उन्मूलन। परमार्थ अपने आप में एक उच्चस्तरीय तप है जिसके साथ सूर्य की सप्तवर्णी किरणों की तरह उत्कृष्टता, आदर्शवादिता, श्रमशीलता, जागरुकता, मितव्ययता, सुसंस्कारिता, मर्यादा के सात सद्गुणों की शृंखला साथ रहती है। जिन्हें अपनाकर कोई भी अपनी क्षुद्र संकीर्ण स्वार्थपरता से विरत होकर महामानव बन सकता है।

परमार्थ परायणता की पृष्ठभूमि में सज्जनता की चरित्रनिष्ठा अविच्छिन्न रूप से जुड़ी रहती है। परमार्थ करते-करते बाटन हारे के लगे ज्यों मेंहदी को रंग की तरह स्वार्थ स्वयमेव निभ जाता है। इस रहस्य को जानने वाले कभी घाटे में नहीं रहे। इतिहास साक्षी है कि स्वार्थ परायणों ने जो कमाया, उसकी तुलना में परमार्थ-परायणों का उपार्जन हर दृष्टि से हजारों-लाखों गुना अधिक रहा। सम्मान, सहयोग से लेकर दैवी अनुग्रह तक उनके पीछे छाया की तरह लगी रहती है।

धर्मो वक्तव्य एषोऽत्र कार्यशैली करोति या ।
जीवनं मानवानां तु सफलं सार्थकं तथा ॥ ४४ ॥
व्यक्तित्वस्य च सर्वांगपरिष्कारविधायिका ।
अस्या विवेकशीलैस्तत्कर्तव्यमनुशासनम् ॥ ४५ ॥
बाह्यं रूपं सदाचारो धर्मस्यास्ति यथा तथा ।
रूपमांतरिकं तस्य सद्भावो विद्यते ध्रुवम् ॥ ४६ ॥
धर्मबाह्यप्रवृत्तीर्या व्यक्तिः सेवां श्रमादिकम् ।
आदायाथ च धर्मस्य रूपमांतरिकं पुनः ॥ ४७ ॥
शालीनतां च सौजन्यं सारल्यं शांतजीवनम् ।
संवेद्यतां तथौदार्यं दयां मैत्रीं तथैव च ॥ ४८ ॥
जीवनं यापयन्तस्तु शान्तिं संतोषमुत्तमम् ।
अनुभवन्ति तु ये संति ते वै धर्मपरायणाः ॥ ४९ ॥

टीका—धर्म को, मानव जीवन को सफल, सार्थक बनाने एवं व्यक्तित्व का सर्वांगपूर्ण परिष्कार कर दिखाने वाली एक कार्यशैली कहा जाना चाहिए। हर विवेकशील व्यक्ति को इसका अनुपालन करना चाहिए। धर्म का बाह्य स्वरूप जहाँ सदाचार है, वहाँ सद्भाव उसका आंतरिक स्वरूप है। जो व्यक्ति श्रम-सेवा आदि धर्म की बहिरंग प्रवृत्तियों एवं सज्जनता, शालीनता, सरलता, सादगी, संवेदनशीलता, उदारता, करुणा, मैत्री जैसी अन्तरंग सत्प्रवृत्तियों को अपनाकर जीवनक्रम चलाते हुए दैनन्दिन जीवन में शान्ति एवं संतोष की अनुभूति करता है, वही सच्चे अर्थों में धर्मपरायण है ॥ ४४-४९ ॥

यहाँ ऋषि स्पष्ट करते हैं कि धर्म एक महान् तथ्य और जीवन चेतना का यथार्थ विज्ञान है जिसके बाह्याभ्यंतर दोनों ही स्वरूप व्यक्ति और समाज दोनों के लिए कल्याणकारी हैं। आचरण की श्रेष्ठता, विचारों की उत्कृष्टता तथा भावनाओं की पवित्रता ही धर्म का व्यावहारिक लक्ष्य है, जिसका परिपालन समस्त मानव समुदाय को करना चाहिए। शालीनता और नीतिमत्ता को धर्म की धुरी माना गया है। जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं जो इसकी परिधि में न आता हो। धर्म का वास्तविक तात्पर्य ही है मानवी चेतना में ऐसी सत्प्रवृत्तियों का समावेश जो सदाचरण, सद्भावना और कर्तव्यपालन के रूप में वातावरण को उल्लासपूर्ण बनाने में समर्थ हो सकें। सहिष्णुता, विनम्रता, मैत्री, दया, करुणा, उदारता, प्रेम, विवेक, संयम, सेवा जैसे सद्गुणों में सच्ची धर्मनिष्ठा का परिचय मिलता है। धर्म को धारण करने वाले अपने जीवन में आचरण करने वाले, धर्म के आधार पर अपने जीवन को जीने वाले, कर्तव्य परायणता को प्रमुखता देने वाले व्यक्ति ही सही अर्थों में धर्मात्मा, धार्मिक, धर्मपरायण कहे जाते हैं। धर्म का पालन और पोषण करने वाले मनुष्य के जीवन में एक विशेष प्रकार का विलक्षण आह्लाद भरा रहता है, वह सर्वत्र सौरभ बिखेरता चलता है और वातावरण को उल्लास और उमंग से भर देता

५.५४ प्रज्ञोपनिषद्

है। निर्जीव को भी सजीव बना देने की सामर्थ्य धार्मिक प्राणवत्ता से ही आती है।

तात मानवधर्मे ये त्वास्थावन्तो नरा न ते।
मान्यतासु स्वकीयासु कुर्वन्ते हि दुराग्रहम्॥५०॥
सत्यान्वेषणयुक्तास्तु कर्मयोगिन एव च।
जिज्ञासुस्तरकानूनं साधकाः संति ते ध्रुवम्॥५१॥
एतादृशं हि सद्भावं स्वांतःकरण उत्तमम्।
विकासयन्ति ते विश्वे वैविध्यभरिते स्थिताः॥५२॥
मान्यता या विभिन्नानां वर्गाणां वा परंपराः।
मानयन्ताः समान् बंधून् मन्यन्ते सहयोगिनः॥५३॥
तर्कतथ्यप्रमाणानां भाषायां ब्रह्मवर्णनम्।
कृत्वा कुर्वन्ति चाश्वस्तानन्या-नास्तिकपक्षगान्॥५४॥
एतादृशा उदारा ये धार्मिकाः संति ते ऽर्थतः।
अध्यात्मवादिनो धर्मरता धर्मोपदेशकाः॥५५॥
विपरीतानि येषां तु नृणामाचरणानि वै।
तात्कालिकं परं लाभं प्राप्नुयुस्ते तु चान्ततः॥५६॥
तेषां यथार्थताऽऽयाति समेषां सम्मुखे ततः।
भर्त्सना पात्रतां यान्ति कोपभाजनतां प्रभोः॥५७॥

टीका— हे तात मानवधर्म में आस्था रखने वाले कभी अपनी मान्यता के प्रति दुराग्रही नहीं होते। वे सत्यान्वेषी, कर्मयोगी एवं जिज्ञासुस्तर के साधक होते हैं। वे इस स्तर की सदाशयता अपने अंतःकरण में विकसित करते हैं कि विविधता से भरी इस सृष्टि में विभिन्न वर्गों की मान्यताओं-परंपराओं का सम्मान भले ही पा लें, अंततः उनकी यथार्थता सबके सम्मुख आ ही जाती है। वे भर्त्सना के पात्र एवं ईश्वरीय सत्ता के कोप भाजन बनते हैं॥ ५०-५७॥

मानवधर्म आत्मा की एकता, समता, शुचिता, शालीनता और उदार सहकारिता की आस्था पर आधारित है। उसमें विग्रह-विद्वेष की कहीं कोई गुंजाइश नहीं। अड़चन तब पैदा होती है, जब विभिन्न धर्म संप्रदायों के बीच पाई जाने वाली भिन्नताओं तथा प्रथा परंपराओं को ही लोग सब कुछ मानकर दुराग्रहपूर्वक यह कहते सुनते पाए जाते हैं कि हमारी मान्यताएँ एवं प्रथा परंपराएँ ही सही हैं। इसके अतिरिक्त सब झूठे हैं। अपनी धर्मपुस्तकों में जो कहा गया है वही ईश्वर का वचन है और जिसकी मान्यता इससे भिन्न है उसे इस धरती पर रहने का कोई हक नहीं है। यह मान्यता ही विग्रह-विद्वेष का कारण बनती है। विवेकवान उदारचेता धर्मपरायण इससे बचते और आन्यायों को भी इसका पक्षधर बनाते हैं कि ईश्वर और धर्म एक हैं। धर्म की मूल आत्मा, न्याय, कर्तव्य एवं औचित्य का समर्थन करती है। सांप्रदायिक प्रथा परंपराएँ, विभिन्न वर्गों के दर्शन, तत्त्वज्ञान, धर्मशास्त्र की भिन्नताएँ ऐसी ही हैं जैसा कि एक उद्यान में उगे हुए विभिन्न रंग और गंधों की

पुष्पों की भिन्नता। उसके कारण बगीचे की शोभा ही बढ़ती है, घटती नहीं। विभिन्न रंग के विशेषताओं वाले पुष्प एक दूसरे के शत्रु नहीं होते वरन आपस में गले लिपटते और सुगंध एवं सौंदर्य बिखेरते हैं। विभिन्न प्रकार की पोशाकें पहनने वाले एक रेलगाड़ी में सफर कर सकते हैं तो मजहबों की भिन्नता रहते भी कोई कारण नहीं कि सदाशयता की एकता समता की उपेक्षा की जाए।

यहाँ ऋषि स्पष्ट करते हैं कि मानवी गरिमा के अनुरूप श्रेष्ठ आचरण करने वाले ही सच्चे धर्मात्मा कहलाते हैं। किंतु समय विचित्र है, इसमें भीतर और बाहर के स्तर में भारी अंतर दिखाई पड़ता है। धर्मोपदेशकों का जीवन सार्वजनिक लोकसेवा का जीवन है। किंतु देशभक्ति के नारे लगाने वाले, धर्म के नाम पर लोक सेवा का आवरण पहनने वाले जब कपटमुनि के रूप में छद्म ओढ़े विपरीत आचरण करते और जनता का शोषण करते हैं, तो आश्चर्य होता है। ऐसे लोगों की वास्तविकता का जब पर्दाफाश होता है तो सर्वत्र उनकी भर्त्सना होती है। इस विसंगति से धर्मोपदेशक को बचा जाना चाहिए और बाहर तथा भीतर का स्तर एक रखना चाहिए।

कौण्डिन्य उवाच—

धर्माः कतिविधा मुख्या संति विश्वेऽधुना तु ते।

ब्रूहि तेषां स्वरूपं नः प्रभो मानवमंगलम्॥५८॥

टीका—कौण्डिन्य बोले, हे देव इन दिनों संसार भर में प्रमुख धर्म कितने हैं? उनके स्वरूप बताएँ जो मनुष्य के लिए मंगलकारी हैं॥ ५८॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

मनीषिणोऽधुनालोके भाषा बह्व्यः समुद्गताः।

असंख्याः संप्रदायाश्च प्रादुर्भूताः पदे पदे॥५९॥

विभिन्नानां मतानां च बाहुल्ये विद्यतेऽधुना।

संख्या येषां समुल्लंघ्य सहस्रमति वद्धते॥६०॥

अधुनोदयन्ति ते नित्यमुद्भिजा इव वार्षिकाः।

देवीनामथ देवानां संख्याऽप्येवं विवर्द्धते॥६१॥

गणना संभवा तेषां नैव नावश्यकं तथा।

संक्षेपादद्य चत्वारः संप्रदायास्तु धर्मजाः॥६२॥

अन्ये शाखा प्रशाखाश्च तेषामेवेति मन्यताम्।

एषु भारतमूलौ द्वौ मानवोत्कर्षसाधकौ॥६३॥

हिंदूधर्म इति ख्यात एकस्तत्राऽपरस्तु सः।

प्रसिद्धो विश्वमात्रे च बौद्धधर्माभिधानकः॥६४॥

पाश्चात्यमूलौ द्वौ ख्रीष्ट-इस्लामश्च मताविह।

चतुर्णामेव चैतेषां सदस्या विश्वविस्तृताः॥६५॥

धर्मस्य संप्रदायानां समेषां मूल आहिता।

सिद्धांतानां समानैव प्रायः सा हि प्रधानता॥६६॥

सनातनं धर्मतत्त्वं तेषु सम्यङ्निरूपितम्।

तेषु कुत्रापि नास्त्येव भिन्नता कापि वस्तुतः ॥ ६७ ॥
तात ! सूर्येण चंद्रेण पवनेनर्तुभिस्तथा ।
नदीभिश्च सरोभिस्तैः संबन्धोऽस्ति नृणां यथा ॥ ६८ ॥
अधिकारोऽपि तेष्वस्ति समानस्तर्हि सा कथम् ।

भिन्नता धर्मतत्त्वे स्याद्यत्तु सर्वोपकारम् ॥ ६९ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले हे मनीषियो यों इन दिनों संसार भर में भाषाएँ अनेकों उभरी हैं और संप्रदाय भी सर्वत्र अगणित उपज पड़े हैं। मत-मतांतरों की भरमार है और वे सहस्रों की संख्या में पहुँच चुके हैं। अभी वे बरसाती उद्भिजों की तरह आए दिन उगते रहते हैं। देवी-देवताओं की संख्या भी इसी प्रकार बढ़ रही है। उनकी गणना संभव नहीं, न ही आवश्यक है। संक्षेप में इन दिनों चार धर्म-संप्रदाय प्रमुख हैं। अन्यान्यों को उन्हीं की शाखा-प्रशाखा समझना चाहिए। इनमें भारत मूल के दो हैं, जो मानव के आत्मोत्कर्ष में सहायक हैं। एक हिंदू धर्म, दूसरा बौद्धधर्म। पाश्चात्यमूल के दो हैं, ख्रीष्ट और इस्लाम। इन चारों ही धर्मों के व्यक्ति विश्व भर में फैले हुए हैं। सभी धर्म-संप्रदायों के मूल में एक जैसे ही सिद्धांतों की प्रधानता है। उनमें सनातन धर्मतत्त्व का ही निरूपण किया गया है। उनमें कहीं कोई भिन्नता नहीं। हे तात जब सूर्य, चंद्र, पवन, ऋतु, नदी, सरोवरों से सबका संबंध और अधिकार है, तो फिर धर्मतत्त्व में ही भिन्नता क्यों होगी? जो कि सर्वोपकारक सिद्धांत है ॥ ५९-६९ ॥

अनादिकाल से एक ब्रह्माजी के ही सब पुत्र थे जो मनुष्य कहलाए। तब मनुष्य की एक भाषा, एक संस्कृति, एक जाति और एक ही धर्म था। सभ्यता के विकास के साथ देश, काल और परिस्थितियों को देखते हुए मनीषी, अवतारी, महामानवों में श्रेष्ठता संवर्द्धन एवं निकृष्टता निवारण के लिए जो सिद्धांत एवं आचार शास्त्र निर्मित किए, कालांतर में वे ही धर्म-संप्रदाय के नाम से जाने पहचाने लगे। देश, धर्म, भाषा और संस्कृत तब एकता के पक्षधर थे। कालांतर में दुर्भाग्य वश निहित स्वार्थों ने इन चारों को विभाजन की दीवार बना दिया। आज विश्व में २०९६ भाषाएँ प्रचलित हैं। अनेक प्रकार की बोलियाँ ही बोली जाती हैं। अकेले भारत में ६०० प्रकार की भाषाएँ पाई जाती हैं। विश्व में प्रचलित धर्म-संप्रदायों की संख्या भी प्रायः ६०० है। संसार के प्रसिद्ध ग्यारह धर्म-मत प्रमुख हैं जापान का शिंतोमत, चीन का ताओ और कन्फ्युशियस मत, यहूदी, ईसाई, मुस्लिम मत, हिंदुस्तान का वैदिक मत, जैन मत, बौद्धमत, सिक्खमत, पारसी मत। इन सभी धर्मों की अनेकों शाखा-प्रशाखाएँ हैं। अकेले हिंदू धर्म के अंतर्गत ३८०० से अधिक संप्रदाय-उपसंप्रदाय हैं। यह वस्तुतः एक ही धर्म संदेश को विभिन्न रूपों में समझाने का प्रयास है। बाह्य कलेवर में विविधता होते हुए भी मौलिक

सिद्धांत सभी धर्म संप्रदायों में एक ही समान है। सभी ने एक सार्वभौम सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करना मानव का अंतिम लक्ष्य माना है। सभी में एक स्वर से दुख से त्राण पाने का उपाय और सुख प्राप्ति का मार्ग बताया गया है। सर्वभूत हितेरता: तथा आत्मवत् सर्वभूतेषु का सनातन सिद्धांत ही सभी धर्म-संप्रदायों का मूलभूत आधार है। अवांछनीयताओं, अनाचार, असुरता को निरस्त करना और देवत्व का अभिवर्द्धन ही सनातन धर्म का वास्तविक उद्देश्य है। वसुधैव कुटुंबकम् की भावना का परिपोषण करने वाली सार्वभौम सार्वजनीय तथा सर्वोपयोगी सनातन शिक्षा का ही सबमें समावेश है। इन्हीं सूत्रों को विश्व धर्म की आधारशिला मानकर आज मानव जाति को एकता के सूत्र में बाँधे जाने की आवश्यकता है।

यदा यदा हि हे तात ! वसुधावासिनो नराः ।

धर्मस्य शाश्वतं रूपमिमं मत्वा दधुः स्वयम् ॥ ७० ॥

तदाऽभूच्च पृथिव्यां सा कृतवातावृतिः शुभा ।

अनास्थोदेति धर्मस्य विकृता मान्यताग्रहैः ॥ ७१ ॥

विवेकशीलतादूरदर्शिताया अभावतः ।

नियामक्याश्च सत्ताया अनुशासनहेलया ॥ ७२ ॥

धर्मस्य धारणयास्तु फलितार्थो महत्त्वगः ।

मानवे देवतात्वस्य धरण्यां स्वर्गसुस्पृशाम् ॥ ७३ ॥

स्थितीनामवतारे च द्रष्टुं शक्योऽञ्जसा नरैः ।

विकटास्वद्य जातासु परिस्थितिषु हे मुने ॥ ७४ ॥

धर्मस्य सार्वभौमं तद्यथार्थं च चिरंतनम् ।

रूपं स्थापयितुं नूनमिदमावश्यकं मतम् ॥ ७५ ॥

धर्मे वृद्धिगते तस्य समीपे संस्थिता बलात् ।

अयोग्यताऽऽवृतिर्भग्ना स्यादेव स्वयमेव सा ॥ ७६ ॥

टीका—हे तात जब-जब इस विश्व वसुधा पर रहने वाले धर्म के इस शाश्वत स्वरूप को मानकर उसे धारण करते रहे हैं, इस पृथ्वी पर सतयुगी वातावरण रहा है। अनास्था तो धर्म के विकृत स्वरूप, मान्यताओं के प्रति दुराग्रह, दूरदर्शी विवेकशीलता का अभाव एवं नियामक सत्ता के अनुशासन की अवज्ञा से ही पनपती है। धर्म-धारणा का महत्वपूर्ण फलितार्थ मानव में देवत्व एवं धरती पर स्वर्ग जैसी परिस्थितियों के अवतरण के रूप में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। आज की विकट परिस्थितियों में धर्म के इस यथार्थ, चिरन्तर एवं सार्वभौम रूप को प्रतिष्ठित करने की ही सबसे बड़ी आवश्यकता है। धर्म बढ़ेगा तो उसके इर्द-गिर्द लिपटा अनुपयुक्तताओं का आवरण टूटेगा ही ॥ ७०-७६ ॥

धर्म के सार्वभौम स्वरूप को पुनः प्रतिष्ठापित किए जाने की आवश्यकता पर बल देते हुए ऋषि याज्ञवल्क्य यहाँ कहते हैं कि धर्म की अभिवृद्धि होने पर ही धर्म का अनुपयुक्तता का निवारण संभव हो सकेगा।

५.५६ प्रज्ञोपनिषद्

समता, एकता, सहिष्णुता, उदारता, सहृदयता, सार्वभौम धर्म की शाश्वत विशेषताएँ हैं, जो हर काल में एक समान रहती हैं। जब तक इनका परिपालन-धर्माचरण का अनुसरण यहाँ होता रहा है तब तक श्रुति के कथनानुसार ध्रुवाँ भूमि पृथ्वी धर्मणाधृताम् अर्थात् यह ध्रुवभूमि, यह पृथ्वी धर्म द्वारा धारण की गई है, यह सत्य साबित होता रहा है और यह पृथ्वी प्रत्यक्ष स्वर्ग की उपस्थिति का एहसास कराती रही, किंतु इससे विमुख होकर मनुष्य ने न केवल अनास्था का वातावरण विनिर्मित किया वरन स्वयं को असुर तुल्य बना लिया और पृथ्वी पर भी भार बन बैठा। यह भार धर्म की अभिवृद्धि होने पर ही कम हो सकता है। सार्वभौम धर्म के अवलंबन की आज महती आवश्यकता है वही मनुष्य को सुख प्रदान कर सकता है।

धर्मो ब्रह्मण उक्तं वै स्वरूपं सक्रियं बुधैः ।
धर्मज्ञो यः स एवोक्तो ब्रह्मज्ञो वेदपारगैः ॥ ७७ ॥
ऋषयस्तु महात्मानो धर्ममर्माधिगत्य ते ।
धर्मानुचरणादापुर्बाह्यं पदमिहैव ते ॥ ७८ ॥
जीवन्मुक्तस्थितावेते स्वयं तरितुमाप्नुवन् ।
अन्यास्तारयितुं शक्तिं धर्मस्याचरणादिह ॥ ७९ ॥
एतादृशा यतेयुश्चेद्व्यात्मानोऽधुनाऽपि तु ।
एकां संस्कृतिमत्रैकधर्मं स्थापयितुं पुनः ॥ ८० ॥
भवितैवाऽचिरान्नूनं युगस्य परिवर्तनम् ।
संपूर्णां वसुधामेककुटुंबे प्रेमपूरिते ॥ ८१ ॥

टीका—धर्म को ब्रह्म का सक्रिय स्वरूप कहा गया है। जो धर्म विद् है, वही ब्रह्मविद् है ऐसा वेदवेत्ताओं का मत है। सभी ऋषिगणों, महामानवों ने धर्म के मर्म को धारण कर, उस पर आचरण करके इस जीवन में ही ब्राह्मी पद प्राप्त किया है। जीवन्मुक्त स्थिति में वे स्वयं तरने एवं दूसरों को तारने की सामर्थ्य धर्माचरण से ही प्राप्त कर सके हैं। ऐसी ही ऋषि आत्माएँ एक संस्कृति एवं एक ही धर्म की स्थापना हेतु पुनः प्रयासरत हों, तो युग परिवर्तन अवश्यमेव होकर रहेगा ॥ ७७-८१ ॥

विराट परब्रह्म निराकार है, उसका सक्रिय स्वरूप धर्म के रूप में धर्मपरायणों के जीवन में देखा जाता है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं सुगां ऋतुस्य पंथाः अर्थात् धर्म का मार्ग धारण करने योग्य है, यह सुखमय है। इसी को अपनाने से-आचरण में लाने से संसार में महामानवों ने वह सामर्थ्य क्षमता अर्जित की थी जिसके सहारे वे जीवन संग्राम में कर्म का गांडीव उठा सके, स्वयं तरे एवं असंख्यों को अपनी नाव पर बिठाकर भवसागर से पार लगाया। समय की माँग है कि धर्म मात्र पूजा उपचार या प्रचलनों तक सीमित न रहकर न केवल व्यक्तिगत जीवन में पवित्रता, प्रखरता का संवर्द्धन करे, वरन

चिंतन के हर क्षेत्र पर अपनी छाप छोड़े उसे अवांछनीयता से विरत करके सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने के लिए मोड़े-मरोड़े। यह अनिवार्य हो गया है कि धार्मिकता आज न केवल बिखराव को निरस्त करे, वरन धर्म के सार्वभौम स्वरूप को भी प्रतिष्ठित करे। इसके लिए मूर्खान्यों को आगे आना होगा। मानवी गरिमा को अक्षुण्ण और प्रखर बनाए रखने में युग मनीषा ही पावस की भूमिका निभाती है। उसे ही सर्व धर्म समभाव के लिए कुछ ऐसा ही सोचना तथा बौद्धिक एवं रचनात्मक ढाँचा खड़ा करना है जो युग परिवर्तन जैसे महान प्रयोजन की पूर्ति भली प्रकार कर सकने में समर्थ हो सके।

ग्रथितुं तात ! धर्मं च सार्वभौमं तु वर्गशः ।
विभक्तेभ्यः प्रदातुं त ऋष्यात्मानोऽभवन्निह ॥ ८२ ॥
धरण्यां सक्रियाः शांताश्चिन्तनैकरतास्तु ये ।
भवन्तः संतु चाश्वस्ता देवसंस्कृतिपक्षगाः ॥ ८३ ॥
नवसर्गस्य स्वप्नं तं साकारं कर्तुमुद्यताः ।
स्रष्टु रेवेच्छया तस्यां यतते दिशि प्रत्यहम् ॥ ८४ ॥
सन्देशोऽयं तु सर्वेभ्यो दत्त्वा कार्याश्च ते पुनः ।
अभावाज्ञानसंग्रस्ताः संतोषामृततृप्तिगाः ॥ ८५ ॥

टीका—हे तात सारी वसुधा को एक परिवार के रूप में गूँथने एवं सार्वभौम धर्म की विभिन्न संप्रदायों, समुदाय वर्गों को जानकारी कराने हेतु शांत एवं निरंतर चिंतन में संलग्न ऋषि आत्माएँ धरती पर सक्रिय हो चुकी हैं। आप सब आश्वस्त हों कि देव संस्कृति के पक्षधर नवसृजन का स्वप्न साकार करने हेतु स्रष्टा की इच्छानुसार वे उस दिशा में प्रतिदिन प्रयत्नशील हैं। आप सब यह संदेश जन-जन तक पहुँचाकर अभाव-अज्ञान से ग्रसित जनसमुदाय को संतोषरूपी अमृत से तृप्त करावें ॥ ८२-८५ ॥

ऋषि याज्ञवल्क्य यहाँ सभी को आश्वस्त करते हुए स्पष्ट करते हैं कि युगपरिवर्तन की दिशा में संसार को सार्वभौम धर्म के एक सूत्र में बाँधने के लिए ऋषि आत्माओं ने धरती पर सक्रिय होकर विचार परिवर्तन के प्रचंड प्रवाह के रूप में अपने कार्य को द्रुतगामी बना दिया है। युग परिवर्तन एक अवश्यंभावी प्रक्रिया है जो होकर रहेगा तथा एकता, समता तथा शुचिता के वातावरण से यह धरती फिर से स्वर्गोपम बनेगी।

जिज्ञासा शांतिरेतै सा चोपयोगतया मता ।
व्यवहारयुता चापि तत्त्वज्ञानयुतं समे ॥ ८६ ॥
समागमेन सर्वेऽद्य जना रोमाञ्चिता भृशम् ।
व्यवहारानुकूलस्य तस्यैवाध्यात्मनः समे ॥ ८७ ॥
व्याख्याया अनुरूपं तु धर्मस्येदं सनातनम् ।
रूपं पुष्टप्रमाणं तु व्याख्यातं हृदयंगमम् ॥ ८८ ॥
विधायज्ञानसत्रे च निजायास्तु उपस्थितेः ।

कारणात् सार्थकं सर्वं जीवनं मेनिरे समे ॥ ८९ ॥

संध्यावन्दनकालः स समुपस्थित इत्यतः ।

सत्राध्यक्षं प्रणम्येमे सस्नेहं प्रतिनिर्वृताः ॥ ९० ॥

टीका—जिज्ञासा के निराकरण को सभी ने बहुत उपयुक्त एवं व्यावहारिक माना। आज के समागम से सभी रोमांचित थे। व्यवहारिक अध्यात्मवाद की व्याख्या के अंतर्गत धर्म के

सनातन रूप की सप्रमाण विवेचना को हृदयगम कर सभी ज्ञान सत्र में अपनी उपस्थिति से जीवन सार्थक मानने लगे। संध्यावन्दन का समय हो चुका था। अतः सभी सत्राध्यक्ष को अभिवादन कर परस्पर स्नेह-भाव से मिलते हुए विदा हुए ॥ ८६-९० ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युग दर्शन युग साधना प्रकटीकरणयोः

महर्षि याज्ञवल्क्य प्रतिपादिते सर्वधर्म समभाव इति प्रकरणो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

उपासना-साधना-आराधना प्रकरण

यथाक्रमं समारब्धं ज्ञानसत्रं समागताः ।

जिज्ञासवो यथाकालमुपविष्टाः सुशासनाः ॥ १ ॥

सत्राध्यक्षो याज्ञवल्क्य आगतास्तु मनीषिणः ।

विज्ञाः पप्रच्छ सत्रस्य समाप्तिः साद्य विद्यते ॥ २ ॥

शंकाः शेषास्तु याः संति निःसंकोचं ब्रुवन्तु ताः ।

प्रसंगानां समाधाने संशयोच्छेद इष्यते ॥ ३ ॥

अन्त्यनिष्कर्षतां याति चित्तं विश्वासपूर्वकम् ।

ईदृश्यां चित्तवृत्तौ हि दृढः शक्य उपक्रमः ॥ ४ ॥

निर्णयं व्यवहारे च नेतुं शक्यं क्रियात्मताम् ।

अस्तु तत्पृच्छ्यतां यद्वः पृच्छ्यं प्रकटितुं भवेत् ॥ ५ ॥

टीका—यथाक्रम ज्ञान सत्र प्रारंभ हुआ। जिज्ञासुगण नियत समय पर पधार और अनुशासनपूर्वक अपने-अपने स्थानों पर बैठे। सत्राध्यक्ष याज्ञवल्क्य जी ने उपस्थित मनीषियों से पूछा, हे विज्ञानो आज सत्रावसान है। जो शंका-आशंकाएँ शेष रही हों, उन्हें निःसंकोच प्रकट करना चाहिए। प्रसंगों का सही समाधान होने पर ही संशयों का निराकरण होता है और चित्त विश्वासपूर्वक अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचता है। ऐसी मनःस्थिति में ही कुछ ठोस कदम उठाना, निर्णय को व्यवहार में उतारना संभव होता है। अस्तु जो पूछना हो, उसे प्रकट करना चाहिए ॥ १-५ ॥

जिज्ञासूनामग्रणीः स उदगाद् गालवो मुनिः ।

सहचारिभ्यस्तथाश्च जिज्ञासा आह प्रस्तुवन् ॥ ६ ॥

गालव उवाच—

ऋतंभरा तु या प्रज्ञा तस्या गौरवमुच्चगम् ।

आत्मविद्यापथः पांथा जानन्त्यनुभवंति च ॥ ७ ॥

प्रेरणास्तस्य नैवैते व्यवहर्तुं स्वजीवने ।

अर्हन्त्यतोऽनुमानं यत्तत्त्वज्ञानस्य हे मुने ॥ ८ ॥

अभ्यासक्रम एतेषां विदितो न स तत्ततः ।

विघ्नापत्त्या न तज्ज्ञानं कर्मत्वमधिगच्छति ॥ ९ ॥

हेतुं तं ज्ञातुमिच्छामो वयं सर्वेऽवरोधकम् ।

मार्गं दर्शय तं येन महाप्रज्ञा तु या मता ॥ १० ॥

तस्या जीवनचर्यायामवधारण - संभवः ।

भवेच्छ्रुत्वा प्रसन्नोऽभूत्सत्राध्यक्ष उवाच च ॥ ११ ॥

टीका—जिज्ञासुओं में अग्रणी गालव मुनि उठकर खड़े हुए और साथियों में से अधिकांश के मन में उठने वाली जिज्ञासुओं का सार-संक्षेप प्रस्तुत करते हुए बोले, हे देव ऋतंभरा प्रज्ञा की सर्वोच्च गरिमा को हमारी ही तरह अन्य अनेक आत्मविद्या के पथिक जानते और अनुभव करते हैं, फिर भी उसकी प्रेरणाओं को जीवन में उतारते नहीं बन पड़ता। लगता है उस तत्त्वज्ञान का अभ्यास क्रम विदित न होने से ही ऐसी अड़चन आती है कि ज्ञान की कर्म में परिणति हो नहीं पाती। इस अवरोध के कारण को हम सब जानना चाहते हैं, साथ ही उस मार्गदर्शन के भी इच्छुक हैं, जिससे महाप्रज्ञा का जीवन में अवधारण संभव हो सके। सत्राध्यक्ष इस जिज्ञासा को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले ॥ ६-११ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

ज्ञानं परिणमेच्चेत्तत्कर्मणीति मनीषिणः ।

तस्य सार्थकता प्रोक्ता जगत्स्वर्गकरं च तत् ॥ १२ ॥

ब्रह्मविद्या रहो ज्ञानमत्यंतः पौष्टिको मतः ।

आध्यात्मिकः स आहारस्तपस्विश्रमपाचकः ॥ १३ ॥

विदितं यच्च विश्वस्तं तत्र गन्तुं मनस्विनः ।

ससाहसं यतन्तेऽन्ते सफलाश्च भवन्ति ते ॥ १४ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले, ज्ञान को कर्म में परिणत करने में ही उसकी सार्थकता है और इससे संसार स्वर्ग बन सकता है। ब्रह्मविद्या का तत्त्वज्ञान अत्यंत पौष्टिक आध्यात्मिक आहार है, उसे पचाने के लिए तपस्वियों जैसी साधना करनी पड़ती

५.५८ प्रज्ञोपनिषद्

है। जो जाना गया है, जिस पर विश्वास किया गया है, मनस्वी उस पर चलने का भी साहसपूर्वक प्रयत्न करते हैं और इसमें सफल होते हैं ॥ १२-१४ ॥

तत्त्वज्ञानियों ने ज्ञान की उपमा सूर्य से दी है। परंतु इस उपमा की ठीक स्थिति तब बनती है जब वह आचरण में उतरे अर्थात् ज्ञानवान-विवेकवान में न केवल आत्मबोध का उदय हो वरन ऐसी प्रखरता और ऊर्जा भी उत्पन्न हो जिसके सहारे वह स्वयं का आत्मकल्याण तो करे ही, अज्ञान के भटकाव के दलदल में फँसे अन्य असंख्यों को भी उबारने में प्रकाश देने में सक्षम हो सके। यही ब्रह्मविद्या का तत्त्वदर्शन है। ज्ञानवान होने के दो लक्षण बताए गए हैं एक आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना और दूसरे विश्वबंधुत्व की अनुभूति। हँसती-हँसाती जिंदगी जीना और मिल-बाँटकर खाना, अपने सुखों को दूसरे के निमित्त बाट देना और दूसरों के सुखों में हिस्सा बटा लेना यही वह लक्षण है जिसे देखकर यह समझा जा सकता है कि ज्ञान ने कर्म में मान्यता ने प्रयास में परिवर्तित होने का साहस भरा कदम उठाया। इसी की परिणति धरती को स्वर्ग बनाने के रूप में परिलक्षित होती है।

आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान इसी का नाम है। इसे आत्मसात करने के लिए व्यक्तित्व में से अनगढ़ तत्त्वों को निकालकर बाहर करना और उसके स्थान पर प्रकाश को प्रतिष्ठापित करना होता है। यही वह साधना है जिसे अपनाकर कोई भी मनस्वी व्यक्ति अपने प्रचंड संकल्प शक्ति-साहस और धैर्य के बलबूते अपने को, अपने वातावरण को, अपने प्रभाव क्षेत्र को, यहाँ तक कि सारे विश्व को बदल सकने में समर्थ हो सकता है।

जिज्ञासवोऽस्ति ब्रह्मांडमोतं प्रोतं त्रिभिस्त्वित्त्वम्।
जीवेश्वरप्रकृत्याख्यैस्तत्त्वैरिति मतास्थितिः ॥ १५ ॥
शक्त्यस्तिस्रैर्दृश्यं ब्रह्मा विष्णुस्तथा च सः।
रुद्रः सृष्टेः स्थितेः कर्त्र्यः परिवर्तनकस्य च ॥ १६ ॥
त्रिभिश्चावरणैर्मर्त्य आवृतो ज्ञायतां त्वित्त्वम्।
स्थूलेन चापि सूक्ष्मेण कारणेन च निश्चितम् ॥ १७ ॥
लक्ष्यत्रयं च लब्धव्यं सच्चिदानंदसंज्ञकम्।
तथ्यत्रयं च द्रष्टव्यं सत्यं तत्सुन्दरं शिवम् ॥ १८ ॥
त्रयो लोकास्तथा तिस्रो गतयः सा मनःस्थितिः।
त्रिधा परिस्थितिश्चापि त्रिधैव च मनीषिता ॥ १९ ॥
गुणकर्मस्वभावाश्च त्रिप्रकारा त्रिधा च या।
इयं विधि व्यवस्थैव त्रिपदा कथ्यते बुधैः ॥ २० ॥
इयमेवाद्यशक्तिः सा गायत्री तिस्र आदृताः।
धारा यस्या बुधैर्निष्ठा प्रज्ञाश्रद्धाभिधानतः ॥ २१ ॥
इमा ये त्वधिगच्छन्ति तेषां हस्तगतं स्वयम्।
उपलब्धित्रयं तृप्तिः तुष्टिः शान्तिः सदा मृतम् ॥ २२ ॥

सद्गतिश्चेयमेवास्ति स्वर्गसंवेदना तथा ।

जीवन्मुक्तिश्च सर्वस्वं जीवनस्य समीहितम् ॥ २३ ॥

विज्ञास्त्रिधा ब्रह्मविद्या समग्रे जीवने व्रजेत्।

व्यवहारांगतां व्यक्तित्वांगतां लाभ उत्तमः ॥ २४ ॥

टीका—हे जिज्ञासुओ यह विश्व ब्रह्मांड ईश्वर, जीव, प्रकृति के तीन तत्त्वों से ओतप्रोत है। परमात्मा की तीन शक्ति याँ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र के रूप में सृजन, परिपोषण और परिवर्तन की व्यवस्था बनाती हैं। मनुष्य के तीन आवरण हैं, स्थूल, सूक्ष्म और कारण। उपलब्ध करने योग्य तीन लक्ष्य हैं, सत्-चित्-आनंद। इस सृष्टि में दर्शनीय तीन तथ्य हैं सत्यं, शिवम्, सुंदरम्। लोक तीन हैं, गति भी तीन और मनःस्थिति-परिस्थिति भी तीन-तीन प्रकार की ही हैं। तीन प्रकार के ही गुण-कर्म-स्वभाव पाए जाते हैं। इस त्रिधा विधि व्यवस्था को त्रिपदा कहते हैं। यही आद्यशक्ति गायत्री है। इसकी तीन धाराएँ हैं निष्ठा, प्रज्ञा और श्रद्धा। इन्हें अपनाते वाले तीन उपलब्धियाँ हस्तगत करते हैं तृप्ति, तुष्टि और शान्ति जो अमृत स्वरूप हैं। सद्गति, स्वर्ग-संवेदना और जीवन्मुक्ति भी यही हैं, जो जीवन के सर्वस्व माने जाते हैं। हे विज्ञानो इस त्रिधा ब्रह्मविद्या को समग्र जीवन में उतारने-व्यक्तित्व का अंग बनाने से ही समुचित लाभ की प्राप्ति होती है ॥ १५-२४ ॥

यहाँ ऋषि स्पष्ट करते हैं कि जड़ एवं चेतन जगत में जो कुछ भी हलचल है उन सबका संबंध गायत्री महाशक्ति से है। गायत्री को त्रिपदा कहा गया है। त्रिपदा अर्थात् तीन पद-चरण वाली तीन शरीर, तीन लोक, तीन गुण, तीन साधन, तीन अवस्था, त्रैत ब्रह्म, तीन देव, तीन शक्ति, तीन काल के रूप में इस त्रिपदाशक्ति का विस्तार माना और विवेचन किया जाता है। अमृत, पारस और कल्पवृक्ष के रूप में इसके तीन प्रतिफल, तीन अनुग्रह, तीन वरदान तत्त्वदर्शियों ने बताए हैं। भौतिक संपत्तियाँ और आत्मिक विभूतियाँ इन तीनों के ही अंतर्गत आ जाती हैं। आयु, प्राण, प्रज्ञा, पशु, कीर्ति, द्रव्य और ब्रह्मवर्चस के तृप्ति, तुष्टि, शान्ति के सद्गति, स्वर्ग एवं मुक्ति के सभी प्रतिफल इस अमृत, पारस और कल्पवृक्ष की परिधि में आ जाते हैं। देवी भागवत में परब्रह्म स्वरूपा च निर्वाण पद दायिनी कहते हुए त्रिपदा गायत्री को ब्रह्मतेजशक्ति की अधिष्ठात्री देवी बताया गया है। यही परब्रह्म का प्रकट स्वरूप है जो साधक को ब्रह्म निर्वाण पद तक सुविधा पूर्वक पहुँचाती है। समग्र उपासना करने वाले को वह अमृत-पद प्रदान करती है। गायत्री माता की सत्ता कारण शरीर में श्रद्धा, सूक्ष्म शरीर में प्रज्ञा और स्थूल शरीर में निष्ठा बनकर प्रकट होती है। निष्ठा अर्थात् संकल्प, धैर्य, साहस, पराक्रम, तप, कष्ट सहन। यही हैं वे आधार जिनका अवलंबन लेने पर साधना का समग्र स्वरूप बनता है और उसका प्रतिफल

मिलता है।

पुरुषार्थत्रयं कार्यं ब्रह्मोपासनमप्यहो ।
साधना जीवनस्यास्मै लोकाराधनमुत्तमम् ॥ २५ ॥
एकदा त्रीणि ग्राह्याणि तदन्नपानीयवायुजाः ।
आकांक्षा यदि पूर्णाः स्युर्जीवनं निर्वहेद् यथा ॥ २६ ॥
ब्रह्मोपासनमासाद्यं सामीप्यश्रमतः सदा ।
अग्नीन्धनमिवैतच्च शलभोज्ज्वलदीपवत् ॥ २७ ॥
पयः पानीयवद् बिंदुसिंधुवच्चैकतां गतः ।
द्वैतं त्यक्त्वान्ततोऽद्वैतं गृह्णात्यत्र नरः क्रमात् ॥ २८ ॥
शरणागतिरेषैव समर्पण - विसर्जने ।
कथिते, सौरभं यान्ति चंदनात्ते तृणादयः ॥ २९ ॥
स्वातिबिंदुनिगीर्येयं शुक्तिरुद्गिरतिस्वतः ।
मौक्तिकानिमहामूल्यान्युज्ज्वलानि बृहन्त्यपि ॥ ३० ॥
वल्लरी वृक्षमाश्रित्य वृक्षस्योच्छ्रयतां व्रजेत् ।
दंपतिस्तरतां गच्छेदुभयोः स्तर एष तु ॥ ३१ ॥
उपासनमतो व्यक्तमात्मिक्याः प्रगतेर्मखम् ।
आधारभूतमत्यर्थमवलंबनमत्र तु ॥ ३२ ॥
सामीप्याद् ब्रह्मणो नूनमात्मनीह परात्मनः ।
जायते महतः सेयं क्षुद्रे परिणतिः शुभा ॥ ३३ ॥
लौहपारदयोर्गोतास्वर्णोत्पत्तिरिवस्थितिः ।
सामीप्यस्याथ सारूप्यस्य सालोक्यस्यश्रेयसः ॥ ३४ ॥
सायुज्यस्येयमेवास्ति परिणामो बुधैर्मतः ।
लक्ष्यमेतज्जीवनस्योपासना लभ्यतां गतम् ॥ ३५ ॥

टीका—हे विज्ञानो इसके तीन तीन पुरुषार्थ करने होते हैं। प्रथम ब्रह्म उपासना, द्वितीय जीवन साधना, तृतीय लोक आराधना। तीनों को साथ उसी प्रकार अपनाना पड़ता है, जैसे अन्न, जल और वायु की तीन आवश्यकताएँ पूर्ण करने पर जीवन निर्वाह संभव होता है। परब्रह्म की उपासना उसकी अधिकाधिक समीपता का प्रयत्न करने से बन पड़ती है। आग-ईंधन की तरह, बिंदु-सिंधु की तरह निकट आया और अंततः द्वैत का परित्याग कर एकत्व अद्वैत अपनाया जाता है। समर्पण, विसर्जन और शरणागति यही है। चंदन वृक्ष के निकट उगे झाड़-झंखाड़ सुगंधित हो जाते हैं। स्वाति बूंदों को उदरस्थ करने पर सीप मूल्यवान् उज्ज्वल बड़ी-बड़ी मोती उगलती है। वृक्ष से लिपटकर बेल उतनी ही ऊँची उठ जाती है। पति-पत्नी की तरह दोनों का स्तर एक हो जाता है। इसलिए उपासना को आत्मिक प्रगति का प्रथम और आधारभूत आवश्यक अवलंबन माना गया है। ब्रह्म की समीपता से आत्मा में परमात्मा की क्षुद्र में महान की शुभ परिणति होती है। पारस और लोहे की समीपता से स्वर्ण बनने जैसी स्थिति उपासना करने वाले की बनती है। सामीप्य, सारूप्य, सालोक्य, सायुज्य मुक्ति की चरम परिणति यही है। जीवन लक्ष्य यही

है, जो उपासना अपनाने से प्राप्त होता है ॥ २५-३५ ॥

यहाँ ऋषि स्पष्ट करते हैं कि आत्मिक प्रगति के लिए उपासना, साधना और आराधना के त्रिविध सोपानों पर चढ़ना होता है। यह तीनों कोई क्रियाकांड नहीं है वरन चिंतन, चरित्र और व्यवहार में होने वाले उच्चस्तरीय परिवर्तन हैं। कारण शरीर-अंतःकरण की भावश्रद्धा उभारने के लिए उपासना की जाती है। इसे आत्मिक प्रगति का प्रथम और आधारभूत अवलंबन माना गया है।

आत्मा की श्रेष्ठता परमात्मा की उपासना से ही प्राप्त होती है। उपासना का अर्थ है समीप बैठना, सामीप्य अथवा उपसंग। जिसके समीप रहा जाएगा, उसकी विशेषता अपने में आ जाना स्वाभाविक है। गर्म लोहे के संपर्क से ठंडा लोहा गरम हो जाता है। हिम के संपर्क में जाने वाली वस्तु ठंडी हो जाती है। चंदन वृक्ष के समीप उगे वृक्ष उसके संपर्क से सुगंधित हो जाते हैं और प्रकाश के संग में आने वाली वस्तु प्रकाशित हो जाती है। ईंधन की हस्ती दो कौड़ी की होती है, पर जब वह अग्नि के साथ जुड़ जाता है तो उसमें सारे गुण अग्नि के आ जाते हैं। गंदा नाला गंगा में मिलकर पवित्र और महान बनता, पारस के संपर्क से लोहा सोना बनता है तथा बूँद समुद्र में मिलकर समुद्र बन जाती है। पानी दूध में मिलकर उसी भाव बिकता है। यही है उपासना का तत्त्वदर्शन। परमात्मा की उपासना करने से उसकी श्रेष्ठताओं का उपासक में आत्मांतरित होना एक अटल सत्य है। इसके लिए उच्चस्तरीय आस्थाओं के साथ एकात्म भाव की अद्वैत की स्थापना करने के लिए शरणागति, समर्पण, विसर्जन, विलय की मनोभूमि बनानी पड़ती है। वृक्ष के साथ बेल लिपटने और उसके साथ उतनी ही ऊँचाई तक जा पहुँचने की पतंग और कठपुतली की तरह अपने को तथा भगवान को डोरी पकड़ने वाला और अपने इशारे पर नचाने वाले की मान्यता बनानी पड़ती है। श्रद्धा भावना की गहनता के साथ यही मान्यता अंत में अनुभूति में बदल जाती है और इसकी परिणति क्षुद्र का महान में, नर का नारायण के रूप में होती है। यही मानव जीवन का लक्ष्य है। स्वर्ग मुक्ति यही है।

बहून्युपासनायास्तु विधानानि महीतले।

क्रियाभिर्देनिकैः कृत्यैरत्र साहाय्यमाप्यते ॥ ३६ ॥

जपध्यानार्चनायोगलया - दीननुगच्छति ।

सामीप्यस्यैकतायाश्चाभ्यासइत्यस्ति संस्थितिः ॥ ३७ ॥

एभिः कृत्यैर्यथा यस्य भावसंवेदना घना।

भवेत्सत्वनुपातेन स्वेनाभीष्टं समाश्रयेत् ॥ ३८ ॥

पूजाचिह्नार्चनैर्भावरहितैराह्निकं भवेत्।

प्रभोः सा सन्निधिश्चैक्यं भक्तौ भक्तैरपेक्ष्यते ॥ ३९ ॥

टीका—हे मुनिवर उपासना के अनेकानेक विधि-विधान

५.६० प्रज्ञोपनिषद्

हैं। दैनिक क्रिया-कृत्यों से इसमें सहायता मिलती है। जप, ध्यान, पूजा, अर्चा, लय योग इत्यादि के अनेकानेक उपचारों के पीछे समीपता और एकात्मकता का अभ्यास किया जाता है। इन कृत्यों के साथ जितनी गहरी भाव संवेदना होगी, वे उसी अनुपात से अभीष्ट को प्राप्त कराने में समर्थ होंगे। भावरहित पूजा कृत्यों की चिह्न पूजा से तो मात्र नित्य-नियम ही किसी प्रकार सधता है। समग्र उपासना में भक्त को भगवान की समीपता और एकता का अनुभव अभ्यास करना पड़ता है ॥ ३६-३९ ॥

यहाँ ऋषि स्पष्ट करते हैं कि उपासना एवं साधनाएँ भावनात्मक पृष्ठभूमि पर ही उगती और फलती-फूलती हैं। भावना से युक्त अंतःकरण में ही ईश्वर का प्रकाश अवतरित होता है। पूजा, अर्चा, जप, ध्यान, योग, लय आदि सभी उपचारों का एक तत्त्वदर्शन है, उस क्रिया के माध्यम से कुछ सोचना और सीखना पड़ता है और तदनुरूप ढलने के लिए इष्टदेव के प्रति आत्मसमर्पण की एकत्व की भाव-श्रद्धा उभारनी पड़ती है। इष्ट और उपासक का भक्त और भगवान का परस्पर संबंध भावनात्मक आदान-प्रदान का है। परमात्मा से गहन भक्ति भावना द्वारा ही तादात्म्य स्थापित होता है क्योंकि वह परमात्मा भाव श्रद्धा-प्रगाढ़ निष्ठा-दृढ़ विश्वास का समुच्चय है। कहा गया है कि भगवान भाव के भूखे होते हैं। देवान् भावता नेक अर्थात् देवता भावनाओं पर निर्भर हैं। परमात्मा भावनाओं में निवास करता है और उसी के आधार पर अंतःकरण में दर्शन देता है। जिन्हें केवल क्रियाकृत्य ही सब कुछ प्रतीत होते हैं, वे मृगतृष्णा में भटकते हैं। श्रद्धा भाव रहित उपासना तो ढोल के समान पोल व आडंबर मात्र है। उसे प्रदर्शन मात्र कहा जाएगा। ऐसी पंगु उपासना में कोई भी सामर्थ्य नहीं होती। उपासना को सामर्थ्य प्रदान करने के लिए श्रद्धा अनंत आत्मीयता और अटल विश्वास-भगवत निर्देश, अनुशासन का निष्ठापूर्वक परिपालन अपरिहार्य माना गया है। परमात्मा के साथ उपासक जितना भाव और कर्म से एकीभूत होता जाता है, उसी अनुपात में उसका प्रभाव प्रतिफल सामने आता है।

द्वितीयः पाद उक्तश्च साधना जीवनस्य सा।

असंख्ययोनिषु भ्रांतः कुसंस्कारयुतो नरः ॥ ४० ॥

पृथक् कार्या इमे यत्नाद् भूमेर्धातव उद्गताः।

भवन्ति मलिना बह्वौ तेषां शुद्धिरपेक्ष्यते ॥ ४१ ॥

प्राकृतं जीवनं तुल्यं पशुभिस्तदसंस्कृतम्।

कदाचिच्च पिशाचानामिवोदेति च भावना ॥ ४२ ॥

असंस्कृतं स्तरं व्यक्तुमाधातुं संस्कृतं तथा।

प्रयत्ना ये क्रियन्ते ते साधनाशब्दगोचराः ॥ ४३ ॥

सर्पाः सिंहाश्च भल्लूका वानराश्चाप्यसंस्कृताः।

साधनाभिर्नराणां ते भवन्त्येवोपयोगिनः ॥ ४४ ॥

स्वयं श्रेयोऽधिगच्छन्ति संपन्नं पालकं तथा।

कुर्वन्त्यपि धरामर्त्यैर्दन्तुरादौ समोर्वरा ॥ ४५ ॥

शोभनापि कृता चैष प्रयासः पारिवारिके।

परिष्कारेऽपि कर्तव्यस्ततो जन्मफलं भवेत् ॥ ४६ ॥

टीका—दूसरा चरण है जीवन-साधना। असंख्या योनियों में परिभ्रमण करते-करते जीव मनुष्य योनि में पहुँचने पर कुसंस्कारों से लदा रहता है। इन्हें प्रयत्नपूर्वक पृथक् करना पड़ता है। भूमि से धातुएँ कच्चे रूप में ही निकलती हैं, अग्नि संस्कार से उन्हें शुद्ध किया जाता है। प्राकृत जीवन पशुतुल्य अनगढ़ होता है। उसमें कभी-कभी पिशाचों जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ उभरती रहती हैं। इन अनगढ़ स्तर को निरस्त करने और उनके स्थान पर सुसंस्कारों को जगाने के लिए जो प्रयत्न पुरुषार्थ करने पड़ते हैं, उन्हें साधना कहते हैं। साधने पर सर्प, सिंह, रीछ, वानर जैसे अनगढ़ प्राणी उपयोगी बनते हैं स्वयं श्रेय पाते और पालने वाले को सुसंपन्न बनाते हैं। यह धरातल आरंभ में ऊबड़-खाबड़ था। मनुष्य ने ही उसे समतल, सुंदर, ऊर्वर बनाया। यही प्रयास जीवन-परिष्कार के लिए भी करना पड़ता है ॥ ४०-४६ ॥

पौराणिक मान्यता है कि जीव चौरासी लाख योनियों के चक्कर में कोल्हू के बैल की तरह घूमता और अपने कर्मों का फल उन तुच्छ प्राणियों के शरीर में रहकर प्राप्त करता है। निकृष्ट योनियों में मात्र पेट और प्रजनन यही दो लक्ष्य रहते हैं, इसी पूर्ति में निम्नस्तरीय प्राणियों की जीवन संपदा निमग्न रहती है। वे अपने को शरीर ही मानते हैं और उसी की परिधि में सोचते और उसी की सुविधा के लिए विभिन्न कर्म करते हैं। लाखों योनियों में भ्रमण करते समय जो चिंतन और कर्म अभ्यास में आते हैं मनुष्य जन्म के बाद भी वही मनःस्थिति पर छाए रहते हैं। जन्म-जन्मांतरों के पाशविक पौाचिक कुसंस्कारों की मोटी परत उस पर जमा होती है। उसे उतारने के लिए जिस खराद का उपयोग किया जाता है उसे साधना कहते हैं। पशुता को पिशाच वृत्ति को परिष्कृत करके उसे मनुष्यता के देवत्व के रूप में विकसित करना, अनगढ़ पत्थर को कलात्मक प्रतिभा के रूप में गढ़ देने की प्रवीणता में पारंगत होने का नाम ही साधना है। साधना का मूल प्रयोजन है कुसंस्कारों का निष्कासन एवं उनके स्थान पर सुसंस्कारों का स्थापन-अभिवर्द्धन। सूक्ष्म शरीर में गुण, कर्म, स्वभाव की चिंतन परक उत्कृष्टता के अभिवर्द्धन के लिए साधना की अनिवार्य आवश्यकता पड़ती है। सुसंस्कारों का अभिवर्द्धन ही प्रत्यक्षतः दैवी वरदान है जिसके मूल्य पर सब कुछ खरीदा जा सकता है।

अंतरेवोद्गता याश्च बाह्या वा दुष्प्रवृत्तयः।

ताभ्यः सतर्कः स्यात्तासां निरासो जीवसाधना ॥ ४७ ॥
विभक्ता दिनचर्या च निर्धार्या चास्य हेतवे ।
क्षणे क्षणे प्रकर्तव्य औचित्यग्रहणाग्रहः ॥ ४८ ॥
साधारण्ययुतं ग्राह्यं जीवनं श्रेष्ठचिंतनम् ।
कर्तव्यं, वासनाऽहंतृत्वाभी रक्षितो भवेत् ॥ ४९ ॥
लोभव्यामोहपाशाश्च खंडनीयाः स्वयं सदा ।
सत्प्रयोजनसंलग्नैः साधनैर्भाव्यमत्र च ॥ ५० ॥
साधना जीवनस्यास्ति या स्वरूपमिदं मतम् ।

तस्या मलिनताऽऽवर्ते गते सत्यं विभाति नः ॥ ५१ ॥

टीका—भीतर से उभरने वाली और बाहर से घुस पड़ने वाली दुष्प्रवृत्तियों से सतर्क रहना और उन्हें निरस्त करते रहना जीवन-साधना है। इसके लिए संतुलित दिनचर्या निर्धारित करनी होती है। औचित्य को ही अपनाने का आग्रह हर घड़ी जीवंत रखना पड़ता है। सादगी से भरे जीवन व उत्कृष्ट चिंतन की रीति-नीति अपनानी होती है। वासना, तृष्णा, अहंता के आक्रमणों से अपनी ढाल सदा सही रखनी पड़ती है। लालच और व्यामोह की हथकड़ी बेड़ी अपने आप ही काटनी होती है। निरंतर सत्प्रयोजनों में निरत रहने की रीति-नीति अपनाए रहने में साधक को तत्पर रहना पड़ता है। जीवन साधना का यही स्वरूप है। मलीनताओं का आवरण हटने पर सत्य का दर्शन होता एवं अनुग्रह मिलता है ॥ ४७-५१ ॥

जीवन साधना अर्थात् आदतों, मान्यताओं, आकांक्षाओं को साध लेना। साधना में अपने चिंतन को उत्कृष्ट और कर्तृत्व को आदर्श बनाने के लिए हर घड़ी प्रयत्नशील रहने की सुनिश्चित योजना बनाकर चलना पड़ता है। परिष्कृत दृष्टिकोण एवं विवेक सम्मत कार्यपद्धति का निर्धारण करना होता है। इसमें ढील या छूट की तनिक भी गुंजाइश नहीं है। आत्मचेतना की जागृति ही साधना विज्ञान का लक्ष्य है। इसके लिए अपनी दुर्बलताओं और लौकिक आकर्षणों से अपना बचाव करने की तत्परता बरतनी पड़ती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह के आलस्य-प्रमाद के विकार ही मानवी चेतना के पतन के कारण बनते हैं। उनके प्रति सतत् जागरूक बने रहना तथा अपने को बचाए रहना पड़ता है। समय, श्रम, साधन, संपदा, प्रभाव एवं चिंतन का सुनियोजन इस ढंग से करना पड़ता है जिसमें अस्तव्यस्तता एवं इनके दुरुपयोग की तनिक भी गुंजाइश न रहे। विवेकयुक्त दिशा निर्धारण और जागरूकता जहाँ विचारों को उच्चस्तरीय बनाते हैं वहाँ व्यवहार में उतरकर वे चरित्रनिष्ठा का स्वरूप ग्रहण करते हैं। निर्मल एवं उदात्त चरित्र ही साधक को साधनामार्ग में आगे बढ़ाता तथा विश्वोभों से रक्षा करता है। इसके लिए सादा जीवन उच्च विचार की रीति-नीति अपनानी पड़ती है। यही

हैं वे आधार जिनका अवलंबन लेकर कोई भी साधक प्रगति के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता है।

शक्तिः साधनया शक्त्या सिद्धिः सिद्धांत एष हि ।
साधनास्ति तपश्चर्या तत्र युद्धयेत् कल्मषैः ॥ ५२ ॥
मूलैरावरणैर्भूयो विक्षेपैर्हठपूर्वकम् ।
प्रकृतेः संस्कृतावंतर्विग्रहो जायते महान् ॥ ५३ ॥
धैर्येण साहसेनाथ तैः संघर्षे मनोजयः ।
जायते प्रोच्यते यश्च बुधैरात्मजयो महान् ॥ ५४ ॥
आत्मानं योजयेत्तस्य जयदुंदुभिरुद्ध्वनिः ।
दशदिक्षु भवेद् विश्वविजयी सत्विहोच्यते ॥ ५५ ॥
जीवनाराधनैरेव सामान्या अपि मानवाः ।
महामानवतां यान्ति देवर्षिष्ववतारिषु ॥ ५६ ॥
जीवनं कल्पवृक्षोऽस्ति आत्मा देवो महत्तमः ।
तस्य चाराधकाः सद्यो विभूतीर्यान्ति चाद्यताम् ॥ ५७ ॥
येनेश्वरप्रदत्तस्य न्यासस्यानुपमस्य तु ।

अपव्ययः कृतोन्मत्तः कुमारो चात्महा मतः ॥ ५८ ॥

टीका—साधना से शक्ति और शक्ति से सिद्धि मिलने का सिद्धांत सर्वविदित है। साधना ही तपश्चर्या है, उसमें कषाय-कल्मषों से, मल-आवरण-विक्षेपों से हठपूर्वक जूझना पड़ता है। आदतें सुधारने में आंतरिक विग्रह खड़ा होता है। उनसे धैर्य और साहस के साथ जूझने पर ही मनोविग्रह सधता है यही आत्मविजय है। जो अपने आपको जीतता है, उसकी विजय दुंदुभी दशो दिशाओं में बजती है। वह विश्व विजयी कहा जाता है। जीवन साधना से ही सामान्य स्तर के मनुष्य महामानव, ऋषि, देवता एवं अवतारी बनते हैं। जीवन कल्पवृक्ष है। आत्मदेव सबसे बड़ा देव है। उसकी साधना-तपश्चर्या करने वाले नकद धर्म की तरह विभूतियाँ पाते और संपदाओं के अधिकारी बनते हैं। जिसने इस ईश्वर प्रदत्त अनुपम धरोहर का ऐसे ही अपव्यय किया और कुमारों में लगाया, उसे अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने वाले की तरह अभागा ही कहा जाएगा ॥ ५२-५८ ॥

गाड़ी जब पुरानी पड़ जाती है, तो उसके कलपुर्जे अव्यवस्थित हो जाते हैं, जिसके कारण ऊर्जा का अपव्यय होने लगता है, वह ईंधन अधिक उपभोग करने लगती है। इसे रोकने के लिए नए सिरे से उसकी मरम्मत की जाती है। पुरजों को कसा और ढीलापन निरस्त किया जाता है, तभी वह श्रेष्ठ स्थिति में आ पाती है।

मानवी स्तर पर यह प्रक्रिया साधना कहलाती है। मनुष्य में विभिन्न प्रकार के दोष-दुर्गुणों के जो कषाय-कल्मष चढ़े होते हैं, उसके कारण शक्ति का सदुपयोग उससे नहीं बन पड़ता और वह निरंतर क्षीण होती जाती है। इसे रोकने के लिए साधना-प्रक्रिया में विभिन्न प्रकार के क्रियाकृत्यों का

५.६२ प्रज्ञोपनिषद्

सहारा लेना और उसे अभिवर्धित करना पड़ता है, फिर इस संवर्द्धित शक्ति को जिस भी दिशा में, जिस लक्ष्य पर लगा दिया जाता है, उसी क्षेत्र में सिद्धियाँ-विभूतियाँ संपदा हस्तगत होती चली जाती हैं। इसीलिए जीवन को कल्पवृक्ष-आत्मदेव की संज्ञाएँ दी गई हैं। व्यक्ति इसकी साधना कर इसके ढीलेपन को कसकर, उसे सुव्यवस्थित-अनुशासित बनाकर चाहे जो प्राप्त कर ले, अथवा इसका दुरुपयोग कर, शक्ति का अपव्यय कर कुमार्गगामी बन जाए और पतन-पराभव की स्थिति तक जा पहुँचे।

जीवन जीने का आज का सामान्य ढर्रा यही है। इसी कारण ऋषि जीवन साधना को विश्व-विजय स्तर का कार्य मानते हैं और वैसे व्यक्ति को जिसने अपनी आदतें सुधार लीं, मन को वश में कर लिया एवं अंतः को परिष्कृत कर जीवन को अनुशासित बना लिया, उसे विश्व जीतने जैसा कठिन पराक्रम करने के कारण विश्व विजयी की संज्ञा देते हैं। इसी पराक्रम द्वारा सामान्य व्यक्ति असामान्य स्तर के ऋषि, महामानव व अवतारी महापुरुष बनते हैं।

आत्मोत्कर्षस्य हेतोश्च य उपायस्तृतीयकः ।

आश्रीयते स संप्रोक्त आराधनामिहर्षयः ॥ ५९ ॥

आराधनार्थं सेवाया धर्म आश्रीयते तथा ।

लोकमंगलसंलग्नैर्भवितव्यं सदा नरैः ॥ ६० ॥

आकांक्षाया दयायाश्च मैत्र्याश्चात्मनदूष्यते ।

सेवायाश्चाप्युदारत्वे गृहीते तृप्तिरुत्तमा ॥ ६१ ॥

प्राणी सामाजिको मर्त्यस्तस्य याः सुविधास्तथा ।

सुरक्षाः प्रगतिश्चापि समाजसहयोगगाः ॥ ६२ ॥

ऋणादस्माद् विमुक्त्यै च लोकमंगलकर्मसु ।

दत्तचित्तैः सदा भाव्यं न जिह्वोपस्थसेवने ॥ ६३ ॥

आत्मकल्याणहेतोश्च सद्गुणा ये त्वपेक्षिताः ।

सेवाधर्मं विना ते तु नोपलभ्या भवन्ति नः ॥ ६४ ॥

टीका—ऋषियो आत्मोत्कर्ष के लिए जिस तीसरे उपाय का अवलंबन करना होता है, उसका नाम आराधना है। आराधना के लिए सेवा धर्म अपनाना होता है और लोकमंगल में निरत रहना पड़ता है। आत्मा की आकांक्षा दया, करुणा, मैत्री, सेवा की उदारता अपनाने से ही तृप्त होती है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसकी सुविधा, सुरक्षा एवं प्रगति के आधार समाज के अनुदानों से ही बनते हैं। इस ऋण से मुक्ति पाने के लिए लोकमंगल के पुण्य प्रयासों में भी दत्त चित्त होना चाहिए। सारी श्रम संपदा पेट प्रजनन में ही नहीं लगा देनी चाहिए। आत्मकल्याण के लिए जिन सद्गुणों की आवश्यकता है, उन्हें सेवाधर्म अपनाए बिना उपलब्ध नहीं किया जा सकता ॥ ५९-६४ ॥

सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य का यह कर्तव्य है

जाता है, कि जिस समाज में पलकर उसने उन्नति-प्रगति की, सुविधा-साधन प्राप्त किए, उसके उत्थान विकास का भी वह ध्यान रखे और अपने ही जैसा दूसरों को भी प्रगतिशील बनाने के लिए अपने समय का कुछ भाग समाज में लगाए। श्रम-संपदा का उपयोग वह मात्र अपनी सुख-सुविधा बढ़ाने के लिए ही न करे, वरन समाज में सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन और सेवा कार्यों में भी उनका उपयोग करे। यह मनुष्य का नैतिक दायित्व के साथ समाज ऋण भी है, जिससे मुक्ति लोकमंगल के कार्यों द्वारा ही उसे मिल सकती है। इससे जहाँ एक ओर आत्मकल्याण का, समाज उत्थान का परमार्थ प्रयोजन सधता है, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति को सेवाधर्म का पुण्य लाभ भी मिलता है। इससे जीवन में उन सद्गुणों का विकास-अभ्यास भी शक्य-संभव हो जाता है, जो आत्मकल्याण के लिए अभीष्ट होता है। इसीलिए ऋषि ने लोक आराधना को आत्मोन्नति का आवश्यक उपाय बताया है और जीवन में इसे अपनाए जाने पर जोर दिया है।

अनादिकालमारभ्य भक्ता भगवतस्तु ये ।

ते सदा निरता दृष्टा लोकमंगलकर्मसु ॥ ६५ ॥

महात्मनां च विप्राणामर्पितं जीवनं सदा ।

एतदर्थमभूत्पूर्वं जगत्सन्मगलं वभौ ॥ ६६ ॥

मनोयोगः प्रभावश्च श्रमः कालो धनं तथा ।

सद्वृत्तिवर्धने येन मात्रया च यया तथा ॥ ६७ ॥

यावता साहसेनाथ योजितानि तथैव च ।

मात्रया तेन पुण्यस्य फलान्याप्तानि निश्चितम् ॥ ६८ ॥

पुण्यैः सदाऽऽत्मसंतोषो लोकसम्मानमेव च ।

दैवानुग्रहप्राप्तिश्च भवत्येव न संशयः ॥ ६९ ॥

टीका—अनादिकाल से भगवद्भक्तों को लोकमंगल की सेवा-साधना में निरत रहना पड़ता है। साधु-ब्राह्मणों का जीवन इसी प्रयोजन के लिए समर्पित होता रहा है, इसी से वह समय मंगलमय रहा है। श्रम, समय, मनोयोग, धन, प्रभाव को सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन में जिनने जिस अनुपात से जितने साहस के साथ नियोजित किया है उन्हें उतना ही बड़ा पुण्यफल प्राप्त हुआ है। पुण्य से ही आत्मसंतोष, लोकसम्मान और दैवी अनुग्रह की प्राप्ति होती है, इसमें संदेह नहीं ॥ ६५-६९ ॥

गुरु का सच्चा शिष्य वही कहलाता है, जो गुरु के कथनानुसार चले, उसके बताए कार्यों को करे, स्वयं संतुष्ट रहे व अपने उत्तम कार्यों द्वारा गुरु को भी संतोष प्रदान करे। सच्ची गुरुभक्ति यही है।

भगवद्भक्ति भी ऐसी ही होती है। इसमें पूजा-उपासना तो अपनी जगह होती है, उनका अपना महत्व भी है, पर वे गौण होते हैं। मुख्य होता है, भगवान के अनुशासन को मानते हुए उसके कार्यों को प्रधानता देना। भगवान का कार्य है,

उसकी सृष्टि को समुन्नत बनाना। अपने समय, श्रम, संपदा और सत्परामर्श का अधिकाधिक प्रयोग कर समाज को विश्व को सजाना-सँवारना, गिरों को उठाना और उठों को आगे बढ़ाना। यही साधु-ब्राह्मण परंपरा है और इसमें निरत रहने वाले लोग ही साधु-ब्राह्मण कहलाने के अधिकारी हैं। प्राचीनकाल से इस परंपरा का निर्वाह भगवदभक्तों द्वारा होता आ रहा है। चूँकि प्राचीनकाल में यह परंपरा जीवंत-जागृत थी, सभी सेवा-साधना को अपना नैतिक कर्तव्य मानते थे एवं अपना कुछ समय लोकमंगल के कार्यों में लगाते थे, इसलिए वह समय हर प्रकार से श्रेष्ठ व उत्कृष्ट रहा। चारों ओर खुशहाली और शांति थी। किसी को किसी से कोई शिकायत नहीं थी। सभी प्रसन्न थे। किंतु आज जब उस परंपरा का पूर्णतः लोप हो चुका है, लोग स्वार्थपरायण बन गए हैं, फलतः चारों ओर आपाधापी और अशांति दीख पड़ती है। इसीलिए ऋषि यहाँ लोकमंगल के कार्यों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देते हैं तथा सम्मान, संतोष व दैवी अनुग्रह प्रदान करने वाला इसे सबसे बड़ा पुण्यफल बताते हैं।

सद्गतेरधिकारित्वे सेवाव्रतपरायणाः ।

अर्हन्ति, परमार्थत्वं यज्ञो मांगलिकः स्मृतः ॥ ७० ॥

वारिदश्च जगत्प्राणो मार्तण्डोऽमृतदीधितिः ।

सर्वे सेवारताः सन्ति वहन्त्यः सरितस्तथा ॥ ७१ ॥

निर्झराश्च सरन्त्येवमानन्दाय, फलानि ते ।

वृक्षा ददति गृह्णन्ति प्रतिवर्षं फलानि च ॥ ७२ ॥

यज्ञाः परार्थयोज्यास्ते परिणामेन तस्य तु ।

याजकः प्राणिनोऽप्येव कृतकृत्या भवन्ति हि ॥ ७३ ॥

उत्साहवर्धकं वातावरणं जायतेऽस्ति च ।

सेवायाः साधनायाश्च परिणामोऽयमद्भुतः ॥ ७४ ॥

टीका—सद्गति के अधिकारी सेवापरायण ही होते हैं। परमार्थ ही मांगलिक यज्ञ है। मेघ, पवन, सूर्य, चंद्र सभी सेवारत रहते हैं। नदियाँ इसी निमित्त बहती हैं। निर्झर इसी आनंद लाभ के लिए झरते हैं। वृक्ष फल देते हैं और हर साल नए फल पाते हैं। परमार्थ के निमित्त ही यज्ञ किए जाते हैं। यज्ञ के प्रतिफल से याजक ही नहीं, समस्त प्राणी कृतकृत्य बनते हैं और उत्साहवर्धक वातावरण बनता है। यह सेवा-साधना का ही प्रतिफल है ॥ ७०-७४ ॥

यहाँ ऋषि परमार्थ को यज्ञ की संज्ञा देते हैं। यज्ञ का तात्पर्य है त्याग-बलिदान, सेवा-परोपकार, पवित्रता-शुचिता। इन गुणों का कथा-प्रवचनों में बखान करने से काम नहीं चलता, वरन निज की जीवनचर्या को खुली पुस्तक की तरह रखकर सर्वसाधारण को यह बताना पड़ता है कि राजमार्ग क्या है? जिस पर चलते हुए लक्ष्य तक पहुँचा जा सके। चूँकि इन गुणों के जीवन में समावेश से व्यक्ति और समाज

का हर प्रकार से कल्याण होता है, इसीलिए परमार्थ को मांगलिक यज्ञ कहा गया है और नित्य-नैमित्तिक क्रिया की तरह इसे भी आवश्यक माना गया है। पवन, सूर्य, चंद्र, वृक्ष, नदियाँ सभी इसी प्रयोजन में निरत रहते हैं तथा मनुष्य को भी ऐसे ही कार्यों में संलग्न रहने की प्रेरणा देते हैं। ऐसे ही व्यक्ति प्रतिष्ठा, सम्मान, प्रशंसा के रूप में जीवन में सद्गति प्राप्त करते और कृतकृत्य बनते हैं।

जीवनं तु सुसंपन्नं स्रष्टुर्विश्वमिदं महत् ।

रम्यमुद्यानमत्यर्थं रम्यतां नेतुमाश्रितम् ॥ ७५ ॥

विधिः सदुपयोगस्य जीवनस्यास्य संमतः ।

परार्थो, गलितं बीजं सहस्रं फलति स्वयम् ॥ ७६ ॥

रिक्ता न वारिदाः क्वापि पूरितान् वारिधिस्तु तान् ।

विदधाति न नद्यश्च शुष्काः क्वापि भवन्ति ताः ॥ ७७ ॥

हिमालयादिमूलेभ्योऽनुदानं सन्ततं तु ताः ।

प्राप्नुवन्ति शरीराङ्गान्यपि पुष्टानि साच्छ्रतेः ॥ ७८ ॥

श्वासे गते नवं श्वासं गृह्णन्त्येते च प्राणिनः ।

उदरे रिक्ततां याते नवाहारस्तु लभ्यते ॥ ७९ ॥

परार्थैकरता ये ते लाभान् गृह्णन्त्यनेकशः ।

न्यूनता कृपणैर्मर्त्यैः संकीर्णैः प्राप्यते ध्रुवम् ॥ ८० ॥

मेघा ददाति चोर्णां ते नव्योर्णां प्राप्नुवन्ति च ।

कृपणो भल्लुकः केशान् नो ददात्याददाति नो ॥ ८१ ॥

उदुम्बरगताजीवा इव ते कृपणा मताः ।

तोषं मानं च पुण्यं च लभन्ते मुधमक्षिकाः ॥ ८२ ॥

सत्प्रयोजनसंलग्ना विज्ञाः सन्त्येव सर्वदा ।

उदार - साहसस्यैते लभन्ते फलमुज्ज्वलम् ॥ ८३ ॥

टीका—यह सुसंपन्न जीवन स्रष्टा के विश्व उद्यान को सुरम्य बनाने के निमित्त ही धरोहर रूप में मिला है। उसके सदुपयोग का एकमात्र उपाय परमार्थ ही है। बीज गलता है तो हजार गुना होकर फलता भी है। बादल खाली नहीं होते, समुद्र उनकी संपदा को भरी-पूरी रखता है। नदियाँ सूखती नहीं, उन्हें हिमालय आदि इनके मूल स्थानों से सदा सर्वदा अजस्र अनुदान मिलते रहते हैं। शरीर के अवयव एक दूसरे को देते और बदले में समर्थ, परिपुष्ट रहते हैं। साँस छोड़नेपर ही नई साँस लेने का सुयोग मिलता है। पेट खाली करने पर ही नया आहार उदरस्थ करने का सुयोग मिलता है। परमार्थ-परायण अनेकानेक लाभ प्राप्त करते हैं। घाटा तो कृपणता-संकीर्णता अपनाने वालों को ही पड़ता है। भेड़ ऊन देती और नई पाती है। कृपण रीछ अपने बाल किसी को देता नहीं, तो अधिक देने में प्रकृति भी अपना हाथ सिकोड़ लेती है। कृपण गूलर के भुनगे बनकर रहते हैं, किंतु परमार्थरत रहने वाली मधुमक्खियाँ सम्मान, संतोष और पुण्य का त्रिविध लाभ अर्जित करती हैं। अस्तु, विज्ञान सदा सत्प्रयोजनों के लिए सेवा

५.६४ प्रज्ञोपनिषद्

परायण रहते हैं और अपनी उस उदार साहसिकता का आनन्ददायक प्रतिफल प्राप्त करते हैं ॥ ७५-८३ ॥

यहाँ ऋषि परमार्थ परायणता का लाभ समझा रहे हैं। देखने में तो प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है, मानो परमार्थी घाटे में रहा हो, पर वस्तुतः ऐसी बात है नहीं। वह सदा अनेक गुना फायदे में रहता है। बीज गलने पर ही वह वृक्ष बनकर फलता-फूलता है। नहीं गलने पर हजार गुना होने का सौभाग्य वह नहीं प्राप्त कर सकता। बादल बरसने पर ही फिर समुद्र से जल वाष्प प्राप्त कर पाते हैं। नदियाँ-झरने अपनी जलराशि लुटाते रहते हैं, इसी कारण हिमालय जैसे उद्गम से अजस्र अनुदान प्राप्त होता है। तालाब इस मामले में कृपणता बरतता है, अतः वह सूखता रहता है। नई साँस लेने के लिए अशुद्ध वायु को बाहर निकालना पड़ता है। पेट यदि खाली न हो तो नया आहार कैसे लिया जाए? भेड़ हर वर्ष ऊन देने का सत्साहस करती है, फलतः प्रकृति की ओर से उसे यह अनुदान बराबर मिलता रहता है, मगर भालू इस संदर्भ में कोताही दिखाता है, अस्तु प्रकृति भी उस पर अपनी उदारता नहीं दिखाती। कहने का तात्पर्य यह है कि जो परमार्थ परायण हैं, वह कभी घाटे में नहीं रहते। मधुमक्खी की भाँति वे वे सम्मान, संतोष और पुण्य की त्रिविध लाभ साथ-साथ उठाते हैं। घाटे में तो वे रहते हैं, जो पुण्य-परमार्थ, सहयोग सहकार से कतराते रहते व गूलर के भुनगों की तरह अपने तक सीमित रहते हैं। इसलिए विज्ञान सदा पुण्य-परमार्थ का सेवा-धर्म अपनाते हैं।

ईश्वरोपासनस्याथ साधनायाश्च ते समे।

जीवनस्यापि लोकस्य समाराधनकस्य च ॥ ८४ ॥

त्रिविधा उपचारा येऽध्यात्मनस्तु मता बुधैः।

श्रुत्वा तानृषयः सर्वे सत्रस्थास्तोषमाययुः ॥ ८५ ॥

तैर्ज्ञातश्चार्चनस्यार्थः स्वाध्यायस्यापि शोभनः।

सत्संगस्य, महार्हं तमाहारं पक्तुमेव या ॥ ८६ ॥

व्यायाम-पुरुषार्थस्य विद्यतेऽपरिहार्यता ।

प्रखरतां सुसंपन्नतां तां वापि पवित्रताम् ॥ ८७ ॥

या ददात्यलमेतासां त्रिवेण्यामवगाहनात्।

संभवत्यापि हे विज्ञाः ! पवित्राणां सुश्रद्धया ॥ ८८ ॥

साधनोपासनालोकाराधनानां च सन्ततम्।

प्राप्तुं सफलतां नान्यः पन्थाः कश्चित्तु विद्यतेः ॥ ८९ ॥

टीका—ईश्वर उपासना, जीवन साधना और लोक आराधना के त्रिविध अध्यात्म उपचारों का विस्तृत विवरण और प्रतिफल जानकर सत्र के सभी जिज्ञासु जन संतुष्ट हुए। उनसे जाना कि स्वाध्याय, सत्संग, पूजा-भजन के बहुमूल्य आहार को पचाने के लिए जिस व्यायाम-पुरुषार्थ की अनिवार्य आवश्यकता है वह पवित्रता, प्रखरता एवं संपन्नता प्रदान करने वाली उपासना, साधना और आराधना की त्रिवेणी का अवगाहन करने से ही संभव हो सकती है। सफलता प्राप्त करने हेतु और कोई मार्ग नहीं ॥ ८४-८९ ॥

अध्यात्मनस्तु क्षेत्रस्य साफल्यमथ ते ततः।

असाफल्यं विदित्वा च संतुष्टाः सत्रपूरणे ॥ ९० ॥

क्रियान्वितास्तु विश्वासान् कर्तुं निश्चित्य प्रस्तुताः।

स्वस्वावासदिशाः सर्वे नवसृष्टिमहोत्सवाः ॥ ९१ ॥

आयोजनसुसंयोगं प्रशशंसुरिमे समे।

पुनस्तथा सुयोगं च प्राप्तुं भावान्भाविषु ॥ ९२ ॥

टीका—अध्यात्म क्षेत्र की सफलता, असफलता का रहस्य समझने के उपरांत सत्र की समाप्ति पर संतोष व्यक्त करते हुए विश्वासों को क्रियान्वित करने का संकल्प लेकर सभी जिज्ञासु जन अपने-अपने स्थानों को लौट गए। नए सृजन की कल्पना से सभी उत्साहित थे। सभी ने आयोजन में सम्मिलित होने के सुयोग को सराहा और फिर वैसा अवसर मिलने का मनोभाव प्रकट किया ॥ ९०-९२ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युग दर्शन युग साधना प्रकटीकरणयोः

महर्षि याज्ञवल्क्य प्रतिपादिते उपासना साधना आराधना इति प्रकरणो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

षष्ठ मंडल

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

देवात्मा-हिमालय प्रकरण

पुण्यं पर्वावतारस्य भागीरथ्यास्तु विद्यते ।
भगवत्या ज्येष्ठशुक्लदशमी तिथिरुत्तमा ॥ १ ॥
तस्मिन्नेव दिने तस्य हिमाद्रेर्देवतात्मनः ।
गर्भाद् विनिसृतायास्तु गंगाधरजटालयात् ॥ २ ॥
च्युताया दिव्यतोयाया अमृताम्भस एव च ।
कृते श्रद्धाञ्जलीन् कर्तुमवगाहनजं तथा ॥ ३ ॥
लब्धुं लाभसंख्यास्तु जनाः श्रद्धालवः सदा ।
समायान्ति मुदा दूरदेशाद् यात्रा प्रसंगतः ॥ ४ ॥
गंगोत्रीं गोमुखं यान्ति शिवलिंगतपोवनम् ।
कैलासं नन्दनं मेरुं मानसं स्फटिकोपमम् ॥ ५ ॥
स्वर्गारोहण - भूभागं मार्गमुल्लङ्घ्यदुर्गमम् ।
यान्ति लोका वदन्त्येव हिमाद्रेर्हृदयं च यत् ॥ ६ ॥
विद्यते चेदमेवाहो महाप्रज्ञात्मनः प्रियम् ।
गायत्र्या जन्मनश्चापि पुण्यं दिव्यं हिमं महत् ॥ ७ ॥
स्वर्गे सुगन्धसंयोग इव चैतादृशाः शुभाः ।
क्वचनावसरा लोके दृश्यन्ते पुण्यदायिनः ॥ ८ ॥
टीका—भगवती भागीरथी का अवतरण पर्व, ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि का है। उस दिन देवात्मा हिमालय के गर्भ से, शिवजी की से प्रादुर्भूत अमृत सलिला जाहूवी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए दूर-दूर देशों से प्रसन्नमन अगणित श्रद्धालुजन यात्रा करते हैं। गंगोत्री, गोमुख पहुँचते हैं। कई तो तपोवन, नन्दनवन, शिवलिंग, कैलाश, स्फटिक स्वच्छ मानसरोवर, सुमेरु, स्वर्गारोहण के उपभोग तक दुर्गम मार्ग को पार करते हुए पहुँचते, जिसे हिमालय का हृदय कहा जाता है। यही ज्येष्ठ शुक्ल दशमी का दिन महाप्रज्ञा गायत्री का प्रिय दिव्य पुण्यदायी अवसर कदाचित् ही कहीं दृष्टिगोचर होते हैं ॥ १-८ ॥

पुण्ये पर्वणि तस्मिंश्च समायाता सुदूरतः ।
संगता एकदा सर्वे मुनयश्च मनीषिणः ॥ ९ ॥
गंगावतार-पुण्ये च स्थाने तैः शिविरायितैः ।
पूर्वकाले समायाते स्नानं ध्यानमथापि च ॥ १० ॥
जपतर्पण-मुख्यानि धर्म - कृत्यानि यान्यपि ।
विहितानि मनोबुद्धि - कायसंस्कारकाण्यलम् ॥ ११ ॥
प्रेमपूर्वकमेतेऽथ मिलितास्तु परस्परम् ।
भवैः परिचिताः सर्वे संगतैः प्रथमं जनैः ॥ १२ ॥
एकत्रितानि पूर्वं हि वन्यैः पर्वगतस्य तु ।

धर्मात्मनो जनस्यात्र कंदमूलफलान्यलम् ॥ १३ ॥
आरोग्यदानि संप्राप्य सर्वैरेवौषधीनि वा ।
इमानि नीता शान्तिं च बुभुक्षा मुनिभिः समैः ॥ १४ ॥
वपुः शैथिल्यमेवं सा चित्तचञ्चलताऽपि च ।
गते दूरं ततः सर्वे ज्ञानचर्चार्थमुद्यताः ॥ १५ ॥
पर्वोत्सवानां लाभस्तु विद्यते हि महानयम् ।
एतादृशानामाश्रित्य यत्तु पुण्यफलं भवेत् ॥ १६ ॥
अधुना हृदि सर्वेषां हिमाद्रेर्देवतात्मनः ।
उत्तराखंड - भागस्य ज्ञाताज्ञातानि तानि तु ॥ १७ ॥
क्रमबद्धतया ज्ञातुं रहस्यान्युत्थिता नवा ।
उत्कंठोत्तराखंडभूमिः पुण्यप्रदा श्रुता ॥ १८ ॥

टीका—उस पुण्यपर्व पर एक बार दूर-दूर से मुनि मनस्वी एकत्रित हुए। गंगा-अवतरण के पुण्य स्थान गंगोत्री-गोमुख के निकट डेरा डाला। पर्वकाल में सभी ने स्नान, ध्यान, जप, तर्पण आदि शरीर, मन व बुद्धि को संस्कारयुक्त बनाने वाले धर्मकृत्य किए। तत्पश्चात् एक दूसरे से प्रेमपूर्वक मिले। जो पहली बार नए सम्मिलित हुए थे, उनका परिचय प्राप्त किया। वनवासियों द्वारा इस पर्व पर आने वाले धर्मात्माओं के लिए पहले से ही कंद, मूल, फल एकत्रित कर रखे थे। आरोग्यदायी औषध स्वरूप इन्हें प्राप्त करके आगंतुकों ने भूख बुझाई, जिससे शरीर की थकान व मन की चंचलता जाती रही। सभी मिल-जुलकर ज्ञान चर्चा की तैयारी में लग गए। ऐसे पर्व समारोह का यही सबसे बड़ा लाभ है। पुण्यफल की उपलब्धि इसी आधार पर होती है। इस बार सभी के मन में देवात्मा हिमालय में उत्तराखंड क्षेत्र के ज्ञात-अज्ञात रहस्यों को क्रमबद्ध रूप से जानने की उत्कंठा उठ रही थी। चूँकि उत्तराखंड की देवभूमि पुण्यदायी है ऐसा सभी ने सुन रखा था ॥ ९-१८ ॥

उत्तराखंडयात्रास्तु कृता एभिरनेकशः ।
स्थानानि तस्य दृष्टानि दर्शनीयानि यानि तु ॥ १९ ॥
यथैतिहासिकान्यत्र सन्ति चान्यानि तानि च ।
देवालया गुहा नद्यो निर्झरा शिखरा अपि ॥ २० ॥
दृश्यदर्शनमात्रस्य कौतुकस्य हि केवलम् ।
समाधानमनेनात्र जातमेव हि केवलम् ॥ २१ ॥
रहस्यमस्य न ज्ञातं तत्तु कैश्चिद् यदुच्यते ।
देवात्मेति जनैः शून्यं स्थानं पाषाणशोभितम् ॥ २२ ॥
चत्वारि तानि धामानि देशकोणगतानि तु ।

६.२ प्रज्ञोपनिषद्

समुल्लसन्ति भव्यानि दूरदेशस्यतानि च ॥ २३ ॥
 उत्तराखंड - भूमौ तु बदरीवन - शोभिते।
 सन्ति चत्वरि धामानि समीपे संस्थितान्यहो ॥ २४ ॥
 तेषां दर्शनं पुण्यमवगाहसमुद्भवम्।
 अन्यतीर्थ - तुलायां तु मन्यतेऽधिकमुत्तमैः ॥ २५ ॥
 ऋषयो मुनयश्चात्र धावं धावं पुनः पुनः।
 समायान्ति तपस्तप्तुं तपः सिद्धा भवन्ति च ॥ २६ ॥
 सिद्धिरुच्चगताश्चात्रापेक्षया प्राप्नुवन्त्यपि।
 वैशिष्ट्यं हेतुमेतं च पर्वस्था ज्ञातुमुत्सुकाः ॥ २७ ॥

टीका—उत्तराखंड की यात्राएँ तो इन सभी ने कई बार की थी और उनके दर्शनीय ऐतिहासिक स्थानों, देवालयों, शिखरों, गुफाओं, नदी-निर्झरों को भी देखा, किंतु इतने से दृश्य-कौतूहल का समाधान मात्र हो सका था, जिसके कारण इन जनशून्य पाषाण समुच्चय को देवात्मा कहलाने का श्रेय मिला। चार धाम देश के चारों कोनों पर भव्य बने हैं और एक दूसरे से बहुत दूरी पर अवसीत हैं, पर बदरीवन से सुशोभित इस उत्तराखंड क्षेत्र में छोटे-छोटे स्थान में निकट रहने पर भी चार-धाम कहलाते हैं। उनके दर्शन-अवगाहन का पुण्य अन्य तीर्थों की तुलना में अत्यधिक माना गया है। ऋषि मुनि इसी क्षेत्र में तप-साधना करने के लिए दौड़ते हैं, उच्चस्तरीय तपश्चर्याएँ करते हैं और अपेक्षाकृत अधिक ऊँची सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं और अपेक्षाकृत अधिक ऊँची सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। इन विशेषताओं का कारण क्या है, यह जानने की इस महापर्व पर एकत्रित सभी को अनायास ही तीव्र इच्छा उठ खड़ी हुई ॥ १९-२७ ॥

एकत्रिते समाजे च वरिष्ठोऽभूत् नारदः।
 मनुष्यैरिव देवैश्च संबंधास्तस्य सुप्रियाः ॥ २८ ॥
 आयुष्यानुभवाभ्यां च श्रेष्ठः स लोक-सम्मतः।
 समन्वितेच्छया तस्य समुदायस्य तत्र च ॥ २९ ॥
 मुनिरुत्तुंग आहैनं बद्धहस्तो मुनिं कथम्।
 ऋषिभूमिस्तपोभूमिः सिद्धापुण्या च भूरियम् ॥ ३० ॥
 भूमिः समाना सर्वत्र तरवश्च जलाशयाः।
 सन्ति सर्वत्र तुल्याश्च ते वनस्पतयोऽपि तु ॥ ३१ ॥
 उत्तराखंड-भूमेस्तद् हिमाद्रेर्बोधितं कथम्।
 माहात्म्यमुत्तमं श्रेयः कारकं स्वर्गदं नृणाम् ॥ ३२ ॥
 रहस्यं ज्ञातुमेतच्च भृशमुत्कंठिता वयम्।
 अनुकम्प्याः समाधानकृपया भवता मुने ॥ ३३ ॥

टीका—इस एकत्रित समुदाय में सबसे वरिष्ठ नारद मुनि थे। मनुष्यों की तरह देवताओं के भी उनके निकटवर्ती संबंध थे। आयुष्य और अनुभव की दृष्टि से वही ज्येष्ठ थे। अस्तु, समुदाय की समन्वित इच्छा से अवगत मुनि उत्तुंग ने करबद्ध होकर देवर्षि से निवेदन किया कि इस क्षेत्र को ऋषि भूमि,

तपोभूमि, सिद्धभूमि, पुण्यभूमि कहे जाने का रहस्य समझाएँ, भूमि तो सर्वत्र एक ही है। जलाशय और वृक्ष, वनस्पति भी न्यूनाधिक मात्रा में सर्वत्र पाए जाते हैं, फिर क्या कारण है कि हिमालय के उत्तराखंड को ही इतना श्रेय मिला और उसे स्वर्गोपम माना गया? इस रहस्य को जानने के लिए हम सब अतीव इच्छुक हैं, सो मुनिवर कृपाकर समाधान करने का अनुग्रह करें ॥ २८-३३ ॥

तथ्यमूलं गतां तेषां संगतानां मनीषिणाम्।
 वीक्ष्यसूक्ष्मां मतिं मोदमगाद् देवर्षिराशु सः ॥ ३४ ॥
 उवाचाऽपि मया सार्धं भवन्तः प्रचलन्तु च।
 यद्यपि सर्वमेतच्च क्षेत्रं दिव्याभिरेव तु ॥ ३५ ॥
 क्षमताभिः सदापूर्णं स्वर्गलोकसमं मतम्।
 परं तत्राऽपि सन्त्येव स्थानान्यत्र तु कानिचित् ॥ ३६ ॥
 कृतान्युच्चात्मभिर्यत्र लोककल्याणकाम्यया।
 दिव्यानुभूति - संपन्नान्यनुसन्धानकान्यलम् ॥ ३७ ॥
 प्रयासैस्तेः समस्तश्च समाजो लाभमाप सः।
 धन्या जाता महर्षीणां दिव्येयं च परंपरा ॥ ३८ ॥
 स्थानेषु तेषु चाद्यापि तरंगाः प्रेरणामयाः।
 शब्दनित्यतया सन्ति विद्यमाना हि निश्चितम् ॥ ३९ ॥
 तान् ग्रहीतुं क्षमा ये च ते तु तैः साधयन्त्यपि।
 संपर्कं लाभमायान्ति तत्रताभिर्विभूतिभिः ॥ ४० ॥

टीका—देवर्षि उपस्थित मनीषियों के तथ्यों की गहराई तक पहुँचने वाली सूक्ष्मबुद्धि का परिचय प्राप्त कर बड़े प्रसन्न हुए और कहा, आप लोग मेरे साथ-साथ चलें। यों यह समूचा क्षेत्र ही स्वर्गलोक के समान दिव्य क्षमताओं से भरा-पूरा है, किंतु इसमें भी कुछ ऐसे स्थान हैं, जहाँ प्राचीनकाल में उच्चस्तरीय आत्माओं ने लोकमंगल के लिए अतिमहत्वपूर्ण अनुभव-अनुसंधान किए हैं। उन प्रयासों से समस्त मानव समाज लाभान्वित हुआ। साथ ही ऋषि परंपरा भी धन्य हुई। उन स्थानों में अभी वे वे प्रेरणा-तरंगें शब्द की नित्यता के कारण विद्यमान हैं, जिनमें उन्हें पकड़ सकने की क्षमता है, वे अभी भी उसके साथ संपर्क साधते और विद्यमान विभूतियों से लाभान्वित होते हैं ॥ ३४-४० ॥

नारद उवाच—
 स्रष्टा सृष्टिविधौ पृथ्वीं रचयामास यर्हि सः।
 तर्हि पूर्वसमुत्पन्नो हिमाद्रेर्भाग उत्तमः ॥ ४१ ॥
 यः स एव च लोकेऽस्मिन्नुत्तराखंड नामतः।
 प्रथित आदिदेशात्र देवान् वासाय सृष्टिकृत् ॥ ४२ ॥
 देववासात्समृतः स्वर्गो देवलोकोऽपि वा पुनः।
 आद्यशक्तिं स आराध्य गायत्रीं शक्तिमाप च ॥ ४३ ॥
 उपार्जनं तदाश्रित्य सृष्टिं कर्तुमभूत्क्षमः।
 सह तेन विधेयोऽभूत्सहयोगश्च दैवतः ॥ ४४ ॥

सृजनस्याथ पुष्टेश्च परिवर्तनकस्य च ।
दायित्वं त्रिविधं प्राप्तं गायत्री संश्रयात्सुरैः ॥ ४५ ॥
उपासनाविधौ तेऽत आदिष्टा ब्रह्मणा स्वयम् ।
युक्तास्ते तत आदेशं पूर्णं कर्तुं च सत्वरम् ॥ ४६ ॥
ब्रह्मवर्चोमयं रूपं दर्शयामास सा निजम् ।
वेदमाता देवमाता विश्वमातेति यज्जगुः ॥ ४७ ॥

टीका—नारद जी ने कहा, ब्रह्मा जी ने सृष्टि की रचना करते हुए जब पृथ्वी बनाई, तब सर्वप्रथम हिमालय का वह भाग विनिर्मित हुआ, जिसे हिमालय का उत्तराखंड कहते हैं। सृजे हुए देवताओं को उस पर निवास करने के लिए सृष्टि कर्ता द्वारा कहा गया। उस क्षेत्र का नाम देवलोक एवं स्वर्ग रखा गया। ब्रह्माजी को सृष्टि सृजन की क्षमता आद्यशक्ति गायत्री की उपासना करने से प्राप्त हुई थी। उसी उपार्जन के आधार पर वे सृष्टि बना सकने में समर्थ हो रहे हैं। देवताओं को उनके कार्य में हाथ बँटाना था। सृजन, पोषण और परिवर्तन के त्रिविध उत्तरदायित्वों को वहन करने की सामर्थ्य देवताओं को भी महाप्रज्ञा गायत्री का आश्रय लेने से ही मिल सकती थी। अस्तु, उन सभी को उपासना यज्ञ में लगा दिया गया। देवगण उस निर्देशन को पूरा करने में जुट गए। उन्हें भगवती ने देव वेदमाता, विश्वमाता के रूप में ब्रह्मवर्चस से युक्त दर्शन दिया ॥ ४१-४७ ॥

देवानां च तपश्चर्या - कारणाद् गरिमाऽस्य तु ।
स्वर्गलोकोक्तिरूपेण गदिता चैतिहासिकैः ॥ ४८ ॥
क्षेत्रेऽस्मिंस्ते स्थिताः सर्वे शिखराः पावनाः शुभाः ।
सुमेरुः शिवलिंगश्च कैलासः स्वर्गगोऽथ च ॥ ४९ ॥
सुरोद्यानानि तान्यत्र नन्दनादीनि संति च ।
तपोवनादिसंज्ञानि पुष्पोद्यानानि वै क्रमात् ॥ ५० ॥
पुण्यतोया वहन्तीह देवनद्योऽति निर्मलाः ।
शरीराणि तु देवानां स्थूल-सूक्ष्माण्यलं स्वतः ॥ ५१ ॥
समर्थानि बभूवुस्तच्चेतना क्षेत्र - संभवाः ।
विभूतीः सूक्ष्मतन्वा ते स्थूलया भौतिकीस्तथा ॥ ५२ ॥
तन्वा जगृहुरन्तेऽस्य मनुजाः सृष्टिमागताः ।
ऋषिरूपे च सृष्टिः सा मुनिरूपे तथोदिता ॥ ५३ ॥
वैज्ञानिका अभूवन्त ऋषयो मुनयस्तु ते ।
निर्धारका अभूवन्त शांता दान्ताः प्रचारकाः ॥ ५४ ॥
एभ्यो निवासभूमिश्च निश्चिताधस्ततः शुभे ।
अगम्ये प्रोन्नते क्षेत्र उत्तराखंड संज्ञके ॥ ५५ ॥

टीका—देवताओं की तपश्चर्या से इस क्षेत्र की गरिमा स्वर्गलोक कहकर बखानी गई। उसी क्षेत्र में सुमेरु, शिवलिंग, कैलास, स्वर्गरोहण आदि शिखर शोभायमान हैं। यही तपोवन, नन्दनवन जैसे पुष्पोद्यान हैं। पुण्य सलिला स्वच्छ देव सरिताएँ उसी क्षेत्र से निःसृत होती हैं। देवताओं के सूक्ष्म और स्थूल

दोनों शरीर सक्षम थे, वे चेतना क्षेत्र की विभूतियाँ सूक्ष्म शरीर से और भौतिक उपलब्धियों के लिए स्थूल शरीर का उपयोग करते रहे। इसके उपरांत मनुष्यों को सृजा गया। उनकी प्रथम संरचना पवित्र ऋषि-मुनियों के रूप में हुई। ऋषि वैज्ञानिक थे और शांत-दांत मुनि निर्धारक प्रचारक। इस समुदाय को स्वर्ग वाले उच्च अगम्य क्षेत्र से नीचे वाले भाग में बसाया गया। उसी को उत्तराखंड कहते हैं ॥ ४८-५५ ॥

देवता अंतरिक्षे च पदाथव्याप्तिभागतः ।
साधनानि निजान्यत्र समाचिन्वन्ति ते त्वलम् ॥ ५६ ॥
महर्षिवर्गस्य कायस्तु स्थूलेन्द्रिय युतो ह्यभूत् ।
जलानवायुवस्त्रादि - निवासेन्धनरूपतः ॥ ५७ ॥
साधनान्यनिवार्याणि जातायेषां कृते त्विह ।
तन्निवासस्थले स्रष्टा समुत्पन्नं व्यधादिदम् ॥ ५८ ॥
निवसंतु सुखेनैते सृष्टेरस्या व्यवस्थितौ ।
यदपेक्ष्यं प्रयासं ते तत्प्रकुर्वन्तु सत्वरम् ॥ ५९ ॥
व्यवस्थायै च सृष्टेस्तदृषीणां बहूपेक्षितम् ।
अर्जनस्याभिवृद्धेश्च ग्राह्यं दायित्वमुत्तमम् ॥ ६० ॥
नियन्त्रणस्य चाप्यत्रापेक्षया शक्तिरतो बहु ।
लग्ना उपार्जने योग - तपोभ्यां ते निरंतरम् ॥ ६१ ॥
योगेनात्रात्मविज्ञानं तपसा च पदार्थगम् ।
विज्ञानं सूत्ररूपेण जातं हस्तगतं ततः ॥ ६२ ॥
ऋद्धीनामथ सिद्धीनां विपुलो निधिरुत्तमः ।

उपलब्धस्तदाश्रित्य जगतां भूतये भृशम् ॥ ६३ ॥
टीका—देवता अंतरिक्ष में संव्याप्त दिव्य पदार्थ संपदा से अपने निर्वाह साधन आकर्षित कर लेते थे, पर ऋषि वर्ग की काया स्थूल स्तर की इंद्रिय प्रधान थी। उसे अन्न, जल, वायु, वस्त्र, निवास, ईंधन उपकरण आदि की आवश्यकता थी। अस्तु, उनके निवास क्षेत्र में स्रष्टा ने इन सभी साधनों को उपजाया, ताकि वे सुखपूर्वक रह सकें और सृष्टि व्यवस्था के लिए जो जुटाना आवश्यक था, उसके लिए तत्परतापूर्वक प्रयास करते रह सकें। ऋषियों को सृष्टि व्यवस्था के लिए बहुत कुछ करना था। उपार्जन, अभिवर्द्धन और नियंत्रण के अनेकानेक उत्तरदायित्व उन्हें सँभालने थे। इसके लिए सामर्थ्य की आवश्यकता थी, सो उसे योग और तप के माध्यम से अर्जित करने वे लोग जुट गए। योग से आत्मविज्ञान और तप से पदार्थ विज्ञान के सूत्र हस्तगत हुए। उनके सहारे ऋद्धियों और सिद्धियों का विपुल भंडार विश्व कल्याण के लिए उपलब्ध कर सके ॥ ५६-६३ ॥

बहूल्लोकान् ससर्जायं नक्षत्राणि ग्रहानपि ।
ब्रह्मा तु दृश्यरूपेण पदार्था एव तानि तु ॥ ६४ ॥
परमंतस्तु सर्वेषां चेतना सुनियोजिता ।
जडचेतनयोगाच्च सृष्टिरेषा विनिर्मिता ॥ ६५ ॥

६.४ प्रज्ञोपनिषद्

देवकर्तव्यमासीच्च ब्रह्मांडं सचराचरम् ।
 एकसूत्रगतं कर्तुं दानादाने नियोजिते ॥ ६६ ॥
 पृथिव्या सहयोक्तुं च ब्रह्मांडस्य निरन्तरम् ।
 अशरीरगताप्याप्ता सुविधा च शरीरगा ॥ ६७ ॥
 ग्रहपिंडैरिवैते च योग्यैरिह नरैः सह ।
 कृत्वा संपर्कमेतैश्च कुर्वते लाभगानपि ॥ ६८ ॥

टीका—ब्रह्माजी ने अनेक लोक-लोकांतरों का सृजन किया अगणित ग्रह-नक्षत्र बनाए वे दृश्य रूप में पदार्थ थे, पर उनके अंतराल में विचारवान चेतना का समावेश किया गया। इस प्रकार सृष्टि जड़-चेतन के समन्वय से बनी। देवताओं का कार्य क्षेत्र उस समस्त चराचर ब्रह्मांड को एक सूत्र में बाँधे रहना था। साथ ही यह भी कि वे पृथ्वी के साथ ब्रह्मांड का आदान-प्रदान का क्रम सुनियोजित रखे रहें। उन्हें शरीर और अशरीरी स्तर की दोनों ही सुविधाएँ प्राप्त हुई। वे ग्रह-पिंड की तरह मनुष्यों के साथ भी संपर्क साधते और जो उपयुक्त होते, उन्हें पात्रता के अनुरूप लाभान्वित करते रहते हैं ॥ ६४-६८ ॥

निश्चितं तत्रकर्तव्यमृषीणां देवसंगतिः ।
 तदाप्तैरनुदानैश्च धरित्री वैभवं तथा ॥ ६९ ॥
 मानवानां च तद्वर्चो वर्द्धितुं तु निरन्तरम् ।
 स्वतस्ते पूर्णरूपेण चात्मारामास्तु निःस्पृहा ॥ ७० ॥
 अंतराले जगत्यास्तु सन्त्यसंख्या विभूतयः ।
 प्रच्छन्नाभ्यश्च गृह्णन्ति जीवा अन्विष्य ताः स्वयम् ॥ ७१ ॥
 अज्ञातानां रहस्यानां मार्गणे प्राप्तिकर्मणि ।
 समर्था ऋषयः सर्वे स्तरस्तेषां स ईदृशः ॥ ७२ ॥
 स्वस्या विशिष्टतायाश्च कारणात्ते क्षमाः समे ।
 प्रकटीकर्तुमत्यर्थं सुगुप्तमपि चाञ्जसा ॥ ७३ ॥
 अदृश्यं प्रष्टुमेते च समर्थाः प्राप्तुमप्यथ ।
 अप्राप्यमस्ति सामर्थ्यं तपः प्राप्तं महत्तमम् ॥ ७४ ॥
 तपः शक्त्या पदार्थेषु जायते परिपक्वता ।
 प्रखरत्वमिहात्यर्थं वर्द्धतेऽपि तथैव च ॥ ७५ ॥

टीका—ऋषियों का कार्य देवताओं के साथ संपर्क साधने और उनके अनुदानों से धरती के वैभव और मनुष्यों के वर्चस्व में अभिवृद्धि करने का नियत हुआ। वे स्वयं में पूर्णरूपेण आप्तकाम व निःस्पृह थे। प्रकृति के अंतराल में अगणित विभूतियाँ हैं, वे सभी प्रकट नहीं हैं। आवश्यकता के अनुरूप प्राणी उसमें से खोजते और प्राप्त करते रहते हैं। जो अविज्ञात और रहस्यमय हैं, उसे खोजने और प्राप्त करने की सामर्थ्य ऋषि स्तर के लोगों में होती है। वे अपनी विशिष्टता के कारण अप्रकट को प्रकट कर सकते हैं। अदृश्य को देख सकते हैं। अप्राप्त को पा सकते हैं। यह विशेषता उन्हें तप बल से प्राप्त होती है। तपाने से हर वस्तु में परिपक्वता आती

और प्रखरता बढ़ती है ॥ ६९-७५ ॥
 अस्ति प्रयोगशालैव मानवस्य वपुः समम् ।
 तस्मिन् सृष्टिरहस्यानां भूतेः प्राप्तिकराण्यपि ॥ ७६ ॥
 उपकरणान्यलं लग्नान्याश्चर्यजनकानि तु ।
 सामान्यास्तु जनाः लोकयात्रैक-रुचिकाः समे ॥ ७७ ॥
 उपलब्धस्य एतेषां सीमितास्तु तथैव ताः ।
 परं दृष्टिर्विशालास्ति लक्ष्यं च महदुत्तमम् ॥ ७८ ॥
 कार्यक्षेत्रमतिव्याप्तं येषां ते विश्ववैभवम् ।
 कुर्वते हस्तगं स्वेन मनोयोगेन नित्यशः ॥ ७९ ॥
 भौतकाध्यात्मिक - क्षेत्रविज्ञान - ज्ञानिनां सदा ।
 भवत्यायोजितं चास्यां दिशायां पौरुषं भृशम् ॥ ८० ॥
 स्थिरलक्ष्यानुरूपाणि साफल्यानि सदैव ते ।
 नराश्चर्यकराण्यत्र प्राप्नुवन्ति पदे पदे ॥ ८१ ॥

टीका—मानव शरीर एक समग्र प्रयोगशाला है। उसमें इस सृष्टि के सभी रहस्यों को समझने और समस्त वैभवों को उपलब्ध करने के विस्मयकारी उपकरण लगे हैं। सामान्य-जन निर्वाह भर में रुचि लेते हैं। इसलिए उनकी उपलब्धियाँ भी उतनी ही सीमित रहती हैं, किंतु जिनकी दृष्टि व्यापक है लक्ष्य महान व उत्तम है और कार्यक्षेत्र व्यापक है। ऐसे महान मानव इसी संसार में पग-पग पर विद्यमान विभूति संपदा में से अपने प्रबल मनोयोग द्वारा बहुत कुछ प्राप्त कर लेते हैं। भौतिक और आत्मिक क्षेत्र के विज्ञानियों का पुरुषार्थ इसी दिशा में नियोजित रहता है और वे निर्धारित लक्ष्य के अनुरूप पद-पद पर आश्चर्यजनक सफलताएँ प्राप्त करते हैं ॥ ७६-८१ ॥

विभूतिनिधयो देवाः संति सत्यात्रमार्गणे ।
 लग्ना भवन्ति प्राप्यैतान् कृतार्थान् कुर्वतेऽपि च ॥ ८२ ॥
 पात्रतावर्द्धनं चात्र देवाराधनमुच्यते ।
 एतदर्थमिहोक्तास्तु सन्त्यायज्ञजपादयः ॥ ८३ ॥
 लभन्तेऽलभ्यमप्येवमृषयः प्रापयन्ति तत् ।
 यत्र यत्रास्ति चास्येहानिवार्यत्वं प्रयत्नतः ॥ ८४ ॥
 सामान्यास्तु जना लोभमोहयोर्बन्धनैरथ ।
 अहंकारस्य तस्यापि बद्धास्ते त्रिविधैरपि ॥ ८५ ॥
 पशूनामिव चैतेषां जीवनं पक्षिणामिव ।
 निद्राऽऽहाराविहारादिमात्रमत्राश्रयन्ति च ॥ ८६ ॥
 ऋषिकल्पास्तु ये धन्या उच्चात्मानो नरा भुवि ।
 मान्यता भावनाऽऽकांक्षाभिर्भवन्त्युच्चबुद्धयः ॥ ८७ ॥
 चिन्तनेऽथ चरित्रे च व्यवहारे निजे सदा ।
 आदर्शान् कुर्वते नूनं समाविष्टान्निरन्तरम् ॥ ८८ ॥
 जनाः किं कुर्वते नैतज्जातु पश्यन्ति ते न च ।
 प्रभाविता भवन्त्येते तेषां गतिविधेरपि ॥ ८९ ॥
 परं स्वं गरिमाणं च जानन्तः सञ्चलन्त्यलम् ।

तस्मिन् मार्गेऽनुगन्तृणां यतः श्रेयो भवेदलम् ॥ ९० ॥

स्तरस्यैतादृशस्यैव व्यक्तित्वस्य तथैव च ।

स्वभावस्य विनिर्माणं तपोयोगोद्भवं फलम् ॥ ९१ ॥

टीका—देवता विभूतियों के भंडार हैं, वे सत्पात्रों को तलाशते और उन्हें निहाल करते रहते हैं। पात्रता का संवर्द्धन ही देवाराधन है। इसी के लिए संध्या, जप, यज्ञ, दानादि का विधान किया गया है। ऋषि अलभ्य को अर्जित करते हैं और जहाँ उसकी आवश्यकता है, वहाँ स्वयं ही प्रयत्नपूर्वक पहुँचाते हैं। सामान्यजन जहाँ लोभ, मोह और अहंकार के त्रिविध भव-बंधनों से जकड़े रहते और पशु-पिशाचों जैसा आहार-विहार-निद्रा आदि मात्र का जीवनयापन करते हैं, किंतु ऋषिकल्प आत्माएँ अपनी मान्यताओं, भावनाओं, आकांक्षाओं और विचारणाओं को उच्चस्तरीय बना लेते हैं। चिंतन, चरित्र और व्यवहार में आदर्शों का समावेश करते हैं। लोग क्या करते हैं, इसे नहीं देखते और न उनकी गतिविधियों से प्रभावित होते हैं, वरन अपनी गरिमा को समझते हुए उस मार्ग पर चलते हैं, जिसका अनुगमन करने वाले असंख्यों को श्रेयाधिकारी बनने का सुयोग मिल सके। इस स्तर का व्यक्तित्व और स्वभाव विनिर्मित करना ही योग-साधना एवं तपश्चर्या का उद्देश्य है ॥ ८२-९१ ॥

साफल्यं यावदेवात्र प्राप्नुयादात्मनिर्मितेः ।

योऽपि सूक्ष्मे जगत्पश्य प्रवेशः स्यान्न दुर्गमः ॥ ९२ ॥

न च प्राप्तुं विभूतीस्ताः काठिन्यमनुगच्छति ।

योगेन मानसं ये तु तपोभिः कायिकं तथा ॥ ९३ ॥

कुर्वते पुरुषार्थं ते सिद्धिर्ऋद्धीर्ब्रजन्त्यलम् ।

समुद्रतलगन्तारो लभन्ते मणिमौक्तिकान् ॥ ९४ ॥

साधनां प्रवदन्त्येवं पुरुषार्थं महाजनाः ।

ऋषयो मुनयः संति साधनारतमानसाः ॥ ९५ ॥

तेषामुपार्जनैर्विश्वं भवेत्लाभान्वितं सदा ।

आदर्शचरितानां च देवमानवसन्नृणाम् ॥ ९६ ॥

श्लाघ्यते भुवि सर्वत्र परार्थैकरतिर्नृभिः ।

सम्मानमात्मसन्तोषं यान्ति दैवमनुग्रहम् ॥ ९७ ॥

टीका—आत्मनिर्माण की, जो जितनी सफलता प्राप्त कर लेता है, उसके लिए सूक्ष्म जगत में प्रवेश करने और बहुमूल्य विभूतियाँ हस्तगत करने में अधिक कठिनाई नहीं पड़ती। योग साधना को मानसिक और तपश्चर्या को शारीरिक पुरुषार्थ करने वाले ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते हैं। समुद्र में गहरे गोते लगाने वाले ही महापुरुष साधना कहते हैं। ऋषि मुनि साधनारत रहते हैं। उनके उपार्जन से समस्त संसार लाभान्वित होता है। अस्तु, इन आदर्श चरित्र वाले देवमानवों की परमार्थ परायणता सर्वत्र सराही जाती है, उन्हें आत्मसंतोष, लोकसम्मान और दैवी-अनुग्रह की कमी नहीं रहती ॥ ९२-

९७ ॥

यथा नाविकचातुर्यं-साहसाभ्यामसंख्यकाः ।

नद्याः पारं जना यान्ति तथैषां सर्व एव हि ॥ ९८ ॥

पुरुषार्थो मुनीनां स ऋषीणामपि पूर्णतः ।

समस्तं विश्वमेवात्र युज्यते कर्तुमुन्नतम् ॥ ९९ ॥

तेषां सम्पर्कगा मर्त्या भवन्त्यत्रोन्नतास्तथा ।

अभियान्ति च सर्वेषु लक्ष्येष्वेते दृढक्रमाः ॥ १०० ॥

कल्पवृक्षेणलोकास्तान् मणिना पारदेन च ।

तुलयन्ति जना लोके सर्वदैतादृशान् भृशम् ॥ १०१ ॥

समीपवर्तिनस्ते तु चंदनस्य द्रुमा इव ।

गौरवं ददति स्वातौवर्षेवान्योपकारकाः ॥ १०२ ॥

टीका—जिस प्रकार नाविक की प्रवीणता और साहसिकता के सहारे असंख्यों को नदी पार करने का लाभ मिलता है, उसी प्रकार ऋषियों-मुनियों का पुरुषार्थ और परमार्थ समस्त संसार को सुखी-समुन्नत बनाने में प्रयुक्त होता है। उनके संपर्क में आने वाले ऊँचे उठते और क्रमबद्ध रूप से आगे बढ़ते हैं, उन्हें कल्पवृक्ष पारस की उपमा दी जाती है। चंदन वृक्ष की तरह वे समीपवर्तियों को गौरव प्रदान करते हैं। स्वाति वर्षा की तरह उनका लाभ कितनों को ही मिलता है ॥ ९८-१०२ ॥

नारदः पुनरेवैतान् सम्बोध्याह बलादिव ।

उत्तराखंड - भूमेस्तु गौरवं ज्ञातुमुत्सुकाः ॥ १०३ ॥

भवन्तस्तेन शृण्वंतु याऽत्रत्या तु विशेषता ।

त्रिभिर्भूमेर्देवभूमेः कारणादस्ति निश्चितम् ॥ १०४ ॥

वैश्वानरे यथादीप्ते जायते सा पवित्रता ।

ऊष्मजोत्पत्तिरप्येवं संपूर्णं क्षेत्रमुत्तमम् ॥ १०५ ॥

इदं गौरवतां यातं वासादुच्चात्मनां नृणाम् ।

अतोऽत्रैव तपस्तप्तुमायाता ऋषिपुंगवाः ॥ १०६ ॥

नरनारायणावत्र तपस्तावृषि सत्तमौ ।

कुर्वन्ते च तयोर्योगान्नरो नारायणो भवेत् ॥ १०७ ॥

टीका—नारद जी ने पुनः कहा हे भद्रजनो जिस उत्तराखंड की गरिमा आप लोग जानना चाहते हैं, उसमें जो कुछ विशेषता है, वह देवताओं और ऋषियों की क्रीड़ाभूमि रहने के कारण ही उत्पन्न हुई है। अग्नि के प्रज्वलन के वातावरण में जिस प्रकार ऊष्मा व पवित्रता भर जाती है, उसी प्रकार यह समूचा क्षेत्र उच्चस्तरीय आत्माओं को क्रीड़ा-भूमि रहने के कारण गौरवशाली बना है, इसीलिए बड़े-बड़े ऋषि यहीं तपस्या करने आए। ऋषि श्रेष्ठ नर-नारायण अनादिकाल से यहाँ तपस्या में रत हैं, उनके संपर्क से नर मात्र नारायण बन जाता है ॥ १०३-१०७ ॥

सायं समय आयात इत्थं चर्चार्तेषु तु ।

समेष्टेव विरामोऽतः सोऽपेक्ष्यो नितरामिह ॥ १०८ ॥

६.६ प्रज्ञोपनिषद्

जिज्ञासा हृदये नृणां सर्वेषामेव साध्यभूत्।
ज्ञातुमत्रत्यभागानां विवृतिं च रहो भृशम्॥ १०९॥
अत आगामिवारेषु द्रष्टुं दर्शयितुं तथा।
योजना निश्चिताद्यैष प्रसंगोऽगाद् विरामताम्॥ ११०॥
टीका—चर्चा कहते-सुनते सायंकाल हो गया। अस्तु,

वार्ता को विराम देना आवश्यक था। जिज्ञासा सभी के मन में इस क्षेत्र के अनेक स्थानों का विवरण और रहस्य जानने की थी। सो अगले दिनों उन्हें देखते हुए समझने-समझाने की योजना बनी। आज का प्रसंग यहीं समाप्त हो गया॥ १०८-११०॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देव संस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युग दर्शन युग साधना प्रकटीकरणयोः,
महर्षि नारदप्रतिपादिते देवात्मा हिमालयः इति प्रकरणो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

ऋषि प्रकरण

द्वितीयेऽह्नि प्रभाते च कृतनित्यक्रिया दश।
प्रमुखा ऋषयस्तत्र नेतृत्वे नारदस्य ते॥ १॥
देवतात्मन एतस्य हिमाद्रेर्भाग संस्थितम्।
पश्यन्तः प्रकृतेरम्यं सौन्दर्यं कंदरां ययुः॥ २॥
आत्मविज्ञान-सन्धान-कर्तारो यासु कर्हिंचित्।
ऊषुर्यैर्मृग्यते पन्थाः समृद्धेः प्रगतेर्नृणाम्॥ ३॥
टीका—दूसरे दिन प्रभातकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर दस प्रमुख ऋषि-मनीषियों की मंडली देवर्षि नारद के नेतृत्व में हिमालय के देवात्मा भाग का प्रकृति सौंदर्य का पर्यवेक्षण करते हुए उन कंदराओं की ओर चले, जिनमें कभी आत्मविज्ञान के अनुसंधान कर्ता निवास करते थे और वह खोजते थे जिसके ऊपर व्यक्ति और समाज की प्रगति एवं समृद्धि अवलंबित है॥ १-३॥

देवर्षिश्च प्रवासे स ऐतिह्यं तद् विवेचयन्।
चचालाथ महत्त्वं तदुत्तराखण्डजं ह्यभूत्॥ ४॥
निवासेन तु देवानामृषीणां तपसा तथा।
स्वानुकूलं स्थलं श्रेष्ठमिदं तैर्दृष्टमद्भुतम्॥ ५॥
क्षेत्रेऽस्मिन् स्वमभीष्टं ते प्राप्तुं तन्मयतां गताः।
अवात्सुरनयोः कार्यैः कृतकृत्या मनुष्यता॥ ६॥
आध्यात्मिक्यस्तु संप्राप्ता भौतिक्यो या विभूतयः।
क्षेत्रेऽस्मिंस्ता न चेत्लब्धा अभविष्यन् विभूतयः॥ ७॥
नात्यक्ष्यन् दुर्गतिं मर्त्या तत्रस्था स्यान्मनुष्यता।
क्षेत्रेषु च बहुष्वेषा पशुपक्षि - समा भवेत्॥ ८॥
टीका—देवर्षि प्रवास में चर्चा करते हुए कहते चल रहे थे। उत्तराखंड की गरिमा देवताओं के निवास और ऋषियों के तप साधन से बन पड़ी है। उन्होंने अपने लिए अनुकूलता का यह सर्वश्रेष्ठ स्थान देखा और इसी क्षेत्र में तन्मयता पूर्वक अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति हेतु बस गए। इन दोनों द्वारा जो

कार्य बन पड़े उनसे समूची मनुष्य जाति कृतकृत्य बनी। आत्मिकी और भौतिकी की जो विभूतियाँ इस क्षेत्र में खोजी गईं यदि वे न मिलतीं तो मनुष्य दुर्गति से नहीं निकल पाते तथा सारी मनुष्य जाति नितांत गई गुजरी स्थिति में पड़ी रहती। उसे अनेक क्षेत्रों में पशु-पक्षियों से भी गई-गुजरी स्थिति में पड़ा रहना पड़ता॥ ४-८॥

यात्रायां विविधान् तांश्च प्रसंगास्तु पुरातनान्।
अगाद् विवेचयद् व्यासगुहां पुण्यां तु मंडलम्॥ ९॥
बद्रीधामतश्चेयमग्रे सन्निकटे स्थिता।
वसुधारा प्रपातस्य पीयूषोपमितस्य तु॥ १०॥
अष्टादशपुराणानि कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
रचयामास ज्ञानस्य निधीन् सर्वविधस्य सः॥ ११॥
सहयोगं गणेशस्य कार्येऽस्मिन् प्राप सः मुनिः।
लोककल्याण - लग्नानां नृणां सम्मनसां सुराः॥ १२॥
कुर्वते मुक्तहस्तेन साहाय्यं सर्वदैव ते।
शृण्वन्तः प्रार्थनां चैव पूरयन्ति मनोरथान्॥ १३॥
अतः पूर्वं च पश्यन्ति याचते कः कथं तथा।
परीक्षेष्वा च प्रत्येकक्षेत्रे वैचारिकेऽस्ति च॥ १४॥
टीका—यात्रा में अनेक पुरातन प्रसंगों की चर्चा करते हुए मंडली महर्षि व्यास की गुफा पर पहुँची। यह बद्रीनाथ धाम से आगे अमृततुल्य वसुधारा जल प्रपात के निकट है। यहाँ निवास करते हुए द्वैपायन ने सब प्रकार के ज्ञानों के भंडार अठारह पुराणों की रचना की थी। इस कार्य में उन्हें गणेश का अनवरत सहयोग मिला था। देवता लोकमंगल के सत्प्रयोजन में निरत सदाशयता संपन्न लोगों की मुक्तहस्त से सहायता करते हैं। वे प्रार्थना सुनते हैं और कामना की पूर्ति भी करते हैं। पर इससे पूर्व यह भी देखते हैं कि कौन माँगता है? किस प्रयोजन के लिए माँगता है? ऐसी परख हर विचारशील क्षेत्र में होती है॥ ९-१४॥

पुरस्कृतानि जायन्ते सत्यात्राणि न संशयः ।
कुर्वते परमार्थस्य त्रिविधायां तु ये नराः ॥ १५ ॥
परीक्षायां निजान् पूर्णान् दृढांस्तत्र प्रमाणितान् ।
अलसाः स्वार्थिनो हेयस्तरा लोका यदि स्वयम् ॥ १६ ॥
भिक्षुका इव याचन्ते तस्करा इव वा पुनः ।
लिप्सा - पूर्त्यै च देवानामनुकंपा तु केवलम् ॥ १७ ॥
उपहारच्छलेनैते निराशां यान्ति निश्चितम् ।
एते पशुसमानां च भजन्ते वृत्तिमन्ततः ॥ १८ ॥

टीका—सत्यात्र ही पुरुष्कृत किए जाते हैं, इसमें संदेह नहीं और पुरुषार्थ की त्रिविधि परीक्षाओं में अपने को खरा प्रमाणित करते हैं। स्वार्थी, आलसी और हेय स्तर के लोग यदि भिक्षुकों या तस्करों की तरह लिप्सा पूर्ति के लिए देवताओं की अनुकम्पा मात्र मनुहार उपहार के बदले सस्ते मोल में माँगते हैं, तो उन्हें निराश ही होना पड़ता है। अन्ततः पशुओं के समान उदरादि पूर्ति में ही जीवन नष्ट कर देते हैं ॥ १५-१८ ॥

उच्चं लक्ष्यं गतो व्यासो यः कथामाध्यमेन च ।
जनं साधारणं धर्मधृतिमादर्शवादिताम् ॥ १९ ॥
ग्रहीतुं प्रेरयामास यमुद्दिश्य लिलेख सः ।
नाहंकारो निजस्तस्य न लोभः स्वार्थ एव वा ॥ २० ॥
यल्लिलेख महर्षिः स आदर्शान् परिशोधितुम् ।
तदभूत्केवलं गूढो विषयो ज्ञानतत्त्वगः ॥ २१ ॥
तज्ज्ञानं ज्ञापनं चैव विद्वद्गोणं संभवम् ।
सामान्यानां कथाशैली नृणां रूचिकरीत्विह ॥ २२ ॥
बालावृद्धायुवानोवाऽशिक्षिताः शिक्षिता अपि ।
कथां शृण्वन्तिजानन्ति स्वीकुर्वन्त्यपि चाञ्जसा ॥ २३ ॥

टीका—व्यास का उद्देश्य ऊँचा था। वे कथा-माध्यम से जन साधारण को धर्मधारणा और आदर्शवादित अपनाने की प्रेरणा देने का उद्देश्य लेकर लेखन कार्य में निरत हुए थे। उनका निजी स्वार्थ लोभ या अहंकार उसमें तनिक भी नहीं था। जो लिखा केवल आदर्शों के परिशोधन हेतु था। तत्त्व ज्ञान का विषय गूढ़ है। उसे समझना-समझाना विद्वान् वर्ग के लिए ही सम्भव है। सर्व साधारण को कथा शैली रुचिकर लगती है। उसे बाल-वृद्ध, शिक्षित, अशिक्षित सभी सरलता पूर्वक समझते और अपनाते हैं ॥ १९-२३ ॥

वर्गमेतं विचार्यैव व्यासो लेखं लिलेख सः ।
शिवपुत्रो गणेशश्च दृष्ट्वोद्देश्यस्य पावनीम् ॥ २४ ॥
महत्तामाजगामाशु विशेषमाग्रह विना ।
प्रयोजने मह्यस्मिन् सहयोगसमीहया ॥ २५ ॥
व्यासोऽवदल्लिलेखासौ गणेशोऽनारतं समम् ।
महाभारत मिथ्यं तत्पुराणान्यपि चान्ततः ॥ २६ ॥
अल्पेनैव च कालेन गतान्येतानि पूर्णताम् ।

आरण्यकेषु तच्छ्रिया व्यधुस्तेषां प्रतीरपि ॥ २७ ॥
कृतस्तेषां विस्तरश्च विद्वद्भिर्जगतौतले ।
जातो जगद्गुरुर्लोक - हितसाधनायाऽनया ॥ २८ ॥
नमन्ति चरणौ व्यास-पूर्णमायां जनास्ततः ।
जातेयं विश्रुता लोके पूर्णिमा गुरुपूर्णमा ॥ २९ ॥
अविच्छिन्ना विधातव्या सेयं दिव्यपरम्परा ।
अस्माभिरपि कालेऽस्मिन् भीषणे भ्रान्तिपूरिते ॥ ३० ॥

टीका—व्यास ने इसी वर्ग को ध्यान में रखकर लेखनी उठाई। शिवपुत्र गणेश ने उद्देश्य की महानता को देखा और बिना आह्वान निमंत्रण की प्रतीक्षा किए उस महान प्रयोजन में सहायता करने के लिए स्वयं जा पहुँचे। व्यास बोलते और गणेश लिखते गए। इस प्रकार महाभारत आदि अठारह-पुराण थोड़े से समय में पूरे हो गए। उनकी प्रतिलिपियाँ अनेक तीर्थ आरण्यकों में हुईं और उनका विस्तार विद्वज्जनों द्वारा समस्त संसार में हो गया। इसी लोकहित साधना से यह जगद्गुरु कहलाए तथा व्यास पूर्णिमा के दिन सारा संसार इनके चरणों की वंदना करता है, इनकी यह व्यास पूर्णिमा गुरुपूर्णमा बन गई। भ्रान्ति से भरे पूरे इस भीषण युग में हमें इस दिव्य परंपरा को अविच्छिन्न बनाए रखना है, ताकि लोक कल्याण हो सके ॥ २४-३० ॥

देवर्षिः श्रावयामास सोऽन्यत्सृष्टं सुविस्तृतम् ।
लोकचित्त - परिष्कार - कर्तृ साहित्यमुत्तमम् ॥ ३१ ॥
आश्रमेषु च केष्वेताः स्मृतयस्तु विनिर्मिताः ।
ऋषिभिः कैः कदेत्येवमैतिह्यं विस्तराज्जगौ ॥ ३२ ॥
परिवर्तनमायाते काले कालानुसारतः ।
नूतनान्यपि शास्त्राणि निर्मेयानि बुधैः सदा ॥ ३३ ॥
विपरीतासु सदा मान्याः स्थितिष्वत्र तु कानिचित् ।
प्रतिपादनकान्येवं गच्छन्त्यनुपयोगिताम् ॥ ३४ ॥
तत्स्थाने च नवीनं हि संस्कृतं परिवर्तनम् ।
अपेक्ष्यते नवाश्चातो धर्मग्रंथा विनिर्मिताः ॥ ३५ ॥
चतुर्विंशतिसंख्यानां स्मृतीनां नारदो मुनिः ।
नामान्यजीगणद् भिन्न - समये लिखितास्तु याः ॥ ३६ ॥

टीका—देवर्षि ने लोकमंगल के परिष्कार में निरत अन्यान्य ऋषियों के उत्तम साहित्य सृजन का विवरण सुनाया। स्मृतियाँ किन आश्रमों में किन ऋषियों द्वारा विनिर्मित हुईं इसका इतिहास उन्होंने विस्तरपूर्वक रास्ता चलते-चलते सुनाया। समय बदल जाने पर नए समय की आवश्यकता के अनुरूप नए शास्त्रों का सृजन विद्वानों को करना पड़ता है। हे मान्य मनीषियो कुछ पुराने प्रतिपादन परिस्थिति बदल जाने पर अनुपयोगी हो जाते हैं। तब उनके स्थान पर नए सुधार परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ती है। नए धर्मग्रंथों के निर्माण का यही उद्देश्य रहा है। नारद जी ने चौबीस प्रमुख स्मृतियों

६.८ प्रज्ञोपनिषद्

के नाम गिनाए, जो भिन्न-भिन्न समय में लिखी गई थीं ॥
३१-३६ ॥

शास्त्रनिर्माणकर्तृणां साधनां लेखनस्य तु ।
योगाभ्यास तपोऽभ्यास - प्रकारां घोषयन्मुनिः ॥ ३७ ॥
स्थानान्येषां च नामानि यथावग्रे विबोधयन् ।
वक्तव्यं स्वं यथापूर्वं कृत्वाऽऽरब्धमुवाच च ॥ ३८ ॥
निर्धारणानि गंभीरविचारानुसृतानि च ।
विज्ञानाविष्कृतिर्नूनेकान्तोत्पाद्यतां गता ॥ ३९ ॥
वातावृतौ सुयोग्यायां कार्याण्येवं विधानि तु ।
संभवन्ति मनोबुद्धियोग - योग्यानि वै यतः ॥ ४० ॥
साहित्यसृजने तूच्चैः स्रष्टुः स्वीया परिस्थितिः ।
विचारपद्धतिः शान्ता स्युः सा दैनन्दिनी तथा ॥ ४१ ॥

टीका—शास्त्रकारों की लेखन साधना को योगाभ्यास और तप साधना का ही एक प्रकार ठहराते हुए सृजन कर्त्ताओं के नामों और स्थानों का दर्शन कराते हुए देवर्षि जिज्ञासु मंडली समेत आगे बढ़ते गए। अपने वक्तव्य को जारी रखते हुए उन्होंने कहा गंभीर विचार-निर्धारण भी वैज्ञानिक आविष्कारों जैसे ही एकांत में बन पड़ने वाला उपयुक्त वातावरण में मन व बुद्धि की एकाग्रता से संभव हो सकने वाला कार्य है। उच्चस्तरीय साहित्य सृजन में सृजेता की जीवनचर्या, विचारपद्धति एवं परिस्थिति सात्विकता से भरी पूरी होनी चाहिए ॥ ३७-४१ ॥

निर्धारकास्तु ये देवसंस्कृते स्तेऽस्य पूर्तये ।
उद्देश्यस्य सतः सृष्टिं साहित्यस्य तु मेनिरे ॥ ४२ ॥
आत्मालोको भयोर्भव्यं पुण्यं कार्यं समन्वितम् ।
शक्तिरात्मरुचिर्येषां योग्याऽभूज्जीवने स्वके ॥ ४३ ॥
तत्र तन्मयता पूर्व जाता लग्ना निरन्तरम् ।
परमार्थप्रयासं ते प्रभु शक्तिं च मेनिरे ॥ ४४ ॥
पूजा भगवतः सत्या क्रियते कर्मभिः शुभैः ।
पूजाया उपहारस्य वाञ्छा नैवेश्वरस्य तु ॥ ४५ ॥

टीका—देव संस्कृति के निर्धारकों ने उस ऊँचे उद्देश्य की पूर्ति के लिए सत्साहित्य सृजन को आत्म-कल्याण और लोकमंगल का समन्वित पुण्य कार्य माना और जिन्हें उसके उपयुक्त अपनी क्षमता एवं आत्मरुचि प्रतीत हुई उसमें वे तन्मयता पूर्वक आजीवन लगे रहे। यह परमार्थ प्रयास ही उनके लिए ईश्वर भक्ति थी। भगवान की सच्ची पूजा सत्कर्मों से ही की जाती है। उन्हें मनुहार उपहार की न इच्छा रहती है, न आवश्यकता। ऋषियों में से जो साहित्य-सृजेता थे उन्हें वह समग्र श्रेय प्राप्त हुआ जो भगवद् भजन से प्राप्त होता है ॥ ४२-४५ ॥

ऋषीणां ये च साहित्य - स्रष्टारः श्रेय उत्तमम् ।
समग्रं लब्धमेतैस्तद् भक्त्या यत्प्राप्यते नरैः ॥ ४६ ॥

अद्य प्रवासे तेषां स परिव्राजां मनीषिणाम् ।
निवासान् दर्शयामास येषु चात्मपरिष्कृतेः ॥ ४७ ॥
हेतोस्तपोऽभिवृद्धेस्ते न्यवात्सुरिह सन्ततम् ।
मनः स्थितौ सुपक्वायां तीर्थयात्रां च कुर्वते ॥ ४८ ॥
पदयात्रा तु धर्मार्थं तीर्थयात्रा निगद्यते ।
अतो मार्गेऽभियाता ये तेषां चित्तस्थितेस्तथा ॥ ४९ ॥
परिस्थितेः स्वरूपेण सर्वानुपदिशन्त्यपि ।
रात्रौ तिष्ठन्ति यत्रैव कथाकीर्तनमप्यलम् ॥ ५० ॥
तत्र ते कुर्वते धर्मचेतनाया नवांकुरान् ।
वपन्त्येव च सिञ्चन्ति परिपक्वांश्च कुर्वते ॥ ५१ ॥

टीका—आज के प्रवास में नारद ने उन परिव्राजक मनीषियों के स्थान दिखाए जिनमें आत्मशोधन और तपोबल संवर्द्धन के निमित्त हिमाचल क्षेत्र में निवास करते थे और फिर अपनी मनःस्थिति परिपक्व होते ही तीर्थयात्रा पर निकल पड़ते थे। धर्म प्रचार की पदयात्रा ही तीर्थयात्रा है। मार्ग में जो मिले उन्हें उनकी मनःस्थिति एवं परिस्थिति के अनुरूप परामर्श देते चलते थे। रात्रि को जहाँ ठहरते थे, वहाँ कथा-कीर्तन के माध्यम से धर्म चेतना का बीजांकुर बोते उगाते, सींचते एवं परिपक्व करते थे ॥ ४६-५१ ॥

गृहेस्थिता जना देवमानवानां यदृच्छया ।
आगतानां लभन्ते चेत्सत्संगं मार्गदर्शनम् ॥ ५२ ॥
उज्ज्वलोत्तरमेतत्तु वरदानायितं नृणाम् ।
भवन्तिस्म च तीर्थेषु पर्वगायोजनान्यपि ॥ ५३ ॥
संगता ऋषयस्तत्र कालिकीस्ताः परिस्थितिः ।
विचार्योपायमप्यासां निर्दिशन्ति सदैव च ॥ ५४ ॥
आयोजनेषु तेष्वेते धर्मात्मानो जनाः समे ।
सम्मिलन्ति विशालायां संख्यायामुत्सुका भृशम् ॥ ५५ ॥
क्षेत्रेषु च निजेष्वेते मुनिनिर्धारणानि तु ।
क्रियान्वितानि कर्तुं चायान्ति दायित्वसंयुताः ॥ ५६ ॥
कुंभादीनां तु जागृत्यै क्षेत्रजानामथापि च ।
स्थानजानामुत्सवानामुपयोगित्वमस्ति तत् ॥ ५७ ॥
ऋषयः कुर्वते तेषां सूत्रसञ्चालनं सदा ।
चातुर्मासे व्यधुर्मुख्यं सत्संगोपक्रमं स्वकम् ॥ ५८ ॥
दूरस्था अपि चागत्य जनास्तिष्ठन्ति तत्र च ।
विकसितं जीवनं कर्तुं समाजोन्तिकारिकाम् ॥ ५९ ॥
महत्त्वमहितां सर्वे व्यवस्थां प्राप्नुवन्त्यपि ।
तेन सन्तुलनं तत्र समाजे तिष्ठति स्वयम् ॥ ६० ॥

टीका—घर बैठे देव मानवों का सत्संग मिलना और उनके परामर्श से उज्ज्वल भविष्य का मार्ग दर्शन प्राप्त होना वरदान प्राप्त होना जैसा है। तीर्थों में समय-समय पर पर्व आयोजनों की व्यवस्था बनती थी। ऋषिगण उनमें एकत्रित होकर सामयिक परिस्थितियों के संबंध में विचार विनिमय

करते और उपाय निकालते थे। उन आयोजनों में धर्म प्राण उत्सुक लोग बड़ी संख्या में पहुँचते थे, और अपने-अपने क्षेत्र में ऋषि निर्धारणों को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व ओढ़कर वापस लौटते थे। कुंभ पर्वों से लेकर क्षेत्रीय, स्थानीय अनेकानेक धार्मिक मेलों का होते रहना जन जागृति की दृष्टि से अतीव उपयोगी सिद्ध होता था। ऋषियों द्वारा उनका सूत्र संचालन होता था। चातुर्मास में वे अपना विशेष सत्संग उपक्रम रखते थे, जिसमें दूर-दूर के लोग आकर वहाँ ठहरते और जीवन को विकसित करने तथा समाज को समुन्नत बनाने वाले महत्वपूर्ण परामर्श प्राप्त करते थे। इसी से उस समय समाज में संतुलन बना रहता था ॥ ५२-६० ॥

छात्रा अपि प्रयान्त्येवं तीर्थयात्रागतौ सदा।

ऋषिभिः सह दिव्यैस्तैः सदाचारयुतैः सदा ॥ ६१ ॥

अधीयानाश्च ते विद्याश्चारयन् गाश्च तत्र तु।

सह पर्यटनेनैव समस्या जीवनोद्भवाः ॥ ६२ ॥

सकारणाश्च विज्ञाय विचार्यापि निवारणम्।

स्वकीयं ज्ञानभण्डारं वर्द्धयन्ति निरंतरम् ॥ ६३ ॥

कारणं चेदमेवाभूद् यद् हिमालयवासिनः।

ऋषय आत्मशक्तेस्तु व्यक्तिगाः साधनास्तुताः ॥ ६४ ॥

संपाद्याविरतं सर्वे प्रवासे निवसन्ति च।

मिथ्याडंबर हीनास्ते पावयन्ति जनं जनम् ॥ ६५ ॥

शिष्या अपि च तैः सार्धं समयेऽस्मिन् सदैव च।

निवसन्तः स्वयं सिद्धाश्चलन्त्यभ्युदयाध्वनि ॥ ६६ ॥

प्रायो गुरुकुलानां तु चलनं भ्रमतां सदा।

अभूदृषिकुलानां च लोकसंपर्क - कारणात् ॥ ६७ ॥

विद्यालया अतस्तत्र भव्यशालास्तु केचन।

न्यूना एवं बभूवुश्च निर्मितास्ते सुसज्जिताः ॥ ६८ ॥

टीका—उन सदाचारी दिव्य ऋषियों के साथ तीर्थयात्रा पर छात्र मंडली भी चलती थी। विद्यार्थी विद्याध्ययन करते गौएँ चराते एवं पर्यटन के समय जनजीवन की अनेकानेक समस्याओं स्वरूप कारण एवं निवारण समझते हुए ज्ञान भंडार को निरंतर बढ़ाते चलते थे। यही कारण था कि हिमालयवासी ऋषिगण कुछ समय आत्मबल संपादन की व्यक्तिगत साधनाएँ संपन्न करने के उपरांत निरंतर प्रवास में रहते थे। अपनी मिथ्याडंबरहीनता से प्रत्येक व्यक्ति को पवित्र हृदय बना देते थे। इसी बीच उनके शिष्यगण साथ रहते चलते जीवन साधना द्वारा सर्वतोमुखी अभ्युदय का पथ-प्रशस्त करते रहते थे। उन दिनों लोक संपर्क की दृष्टि से भ्रमणशील ऋषिकुलों-गुरुकुलों का अधिक प्रचलन था। अतएव भव्य भवनों वाले साज-सज्जायुक्त स्थिर विद्यालय कम ही निर्मित होते थे ॥ ६१-६८ ॥

विद्यते वैभवं सत्यं सञ्ज्ञानं मानवस्य तु।

तदाश्रित्य विकासं च व्यक्तित्वं भजते दृढम् ॥ ६९ ॥

प्रतिभा पक्वतायां तु विद्यते ज्ञानसंपदः।

इहासाधारणं योगदानं हितकरं नृणाम् ॥ ७० ॥

संसारस्य समस्तस्य मानवानां विशेषतः।

सेवा सञ्ज्ञानवृद्धेः सा जायते तुष्टिदाऽऽत्मने ॥ ७१ ॥

दत्तौषधमथेहान्न - वस्त्रादीनि च कस्यचित्।

सेवाकृता भवेन्नैव स्थायिनीति विविच्यताम् ॥ ७२ ॥

पुरुषार्थेन निजेनैव तीर्त्वा कष्टानि संभवेत्।

नरः समुन्नतो लोके सुखी चैव निरंतरम् ॥ ७३ ॥

सञ्ज्ञानं च विना नैव स्वरूपं पुरुषार्थगम्।

विवेको व्यवहारस्य तस्य लोके च संभवेत् ॥ ७४ ॥

कुर्वते ज्ञानदानं ये श्रेष्ठास्ते दानिनो मताः।

अपरिग्रहिणस्तत्त्वदर्शिनः साधवो मताः ॥ ७५ ॥

सञ्चितेन विवेकेन कुबेरादपि वस्तुतः।

नरा आढ्यतरा आढ्यान् कुर्वते दयया नरान् ॥ ७६ ॥

टीका—मनुष्य का सच्चा वैभव सदज्ञान है। उसी आधार पर प्रखर व्यक्तित्व विकसित होते हैं। प्रतिभा परिपक्व करने में ज्ञान संपदा का हितकारी असाधारण योगदान रहता है। मानव जाति की समस्त संसार की सेवा सदज्ञान संवर्द्धन से ही होती है। इसी से आत्मसंतोष भी प्राप्त होता है। अन्न, वस्त्र, औषधि आदि देकर किसी की स्थाई सेवा नहीं हो सकती, यह प्रत्येक को विचारना चाहिए। अपने पुरुषार्थ से ही कठिनाइयों को उबरा और सुखी-समुन्नत बना जाता है। पुरुषार्थ का ही सही स्वरूप और उसे अपनाए रहने का विवेक सदज्ञान के बिना और किसी प्रकार संभव नहीं। ज्ञान-दान करने वालों को सबसे बड़ा दानी माना गया है। इसलिए तत्त्वदर्शी अपरिग्रही संत संचित विवेकशीलता के कारण कुबेर से बढ़कर संपत्ति वाले माने गए हैं। वे जिस पर भी अनुग्रह करते हैं, उसे धनवान बना देते हैं ॥ ६९-७६ ॥

क्षमा बोधयितुं तेऽपि शिष्टाचारं तु लौकिकम्।

सामान्याः शिक्षकाः सर्वे परं स्यात्तु यया ध्रुवम् ॥ ७७ ॥

गुणकर्म स्वभावानां परिष्कारस्तथा भवेत्।

स्फीतं व्यक्तित्वमत्यर्थं मर्त्य - गौरवरूपगम् ॥ ७८ ॥

महत्त्वमुद्भवेत्तां तु प्रेरणामृषयः पराम्।

दातुमत्र समर्थास्तु स्वयं सिद्धास्तपस्विनः ॥ ७९ ॥

अध्यापका अनेकेऽत्र संति नूनं तथापि ये।

प्राणचेतनयात्वन्यान् संपर्के समुपागतान् ॥ ८० ॥

कुर्वते प्रखर - प्राणानीदृशा देव मानवाः।

ऋषितुल्यास्तु लोकेऽस्मिन्न्यूना एव भवंति तु ॥ ८१ ॥

ये भवंति समे ते तु ज्ञानेनैव सह स्वयम्।

उत्कृष्टताऽमृतं सर्वान् पावयन्ति निरंतरम् ॥ ८२ ॥

दृष्टिं स्फीतां च कुर्वन्ति दिशायां जीवनस्य च।

६.१० प्रज्ञोपनिषद्

उच्चैस्तरं महामूल्यं कुर्वते परिवर्तनम् ॥ ८३ ॥

टीका—लोक व्यवहार की जानकारी तो सामान्य शिक्षक भी दे सकते हैं। पर जिससे गुण, कर्म, स्वभाव का परिष्कार हो व्यक्तित्व निखरे एवं मानवीय गरिमा के अनुरूप महानता का उद्भव हो ऐसी अंतःप्रेरणा मात्र स्वयं सिद्ध तपस्वी ऋषि ही दे सकते हैं। अध्यापक अनेकों होते हैं पर जो अपनी प्राण चेतना से संपर्क में आने वालों का प्राण उभार सके, ऐसे ऋषि कल्पदेव मानव कम ही होते हैं। जो होते हैं वे ज्ञान के साथ-साथ सदा उत्कृष्टता का अमृत पिलाते हैं, दृष्टिकोण बदलते हैं और जीवन की दिशाधारा में उच्चस्तरीय महान् परिवर्तन करते हैं ॥ ७७-८३ ॥

कृत्वा गौरवपूर्णं च व्यक्तित्वं सञ्चितां निजाम्।

भूमिमाश्रित्य तेषां च पौरुषं योजयन्त्यलम् ॥ ८४ ॥

परिष्कारे नृणामन्तः करणस्य सदैव च।

एष एव मतो लोक ऋषिधर्मः सनातनः ॥ ८५ ॥

अस्मै प्रयोजनायैते योजनाः कालिकीः सदा।

स्थिरयन्ति यथायोग्यं चालयन्ति पुरागमान् ॥ ८६ ॥

महत्त्वं नास्ति लोकेऽस्मिन्नुच्चता कारणादथ।

प्रकृतेः संपदाया वा परं वासस्य कारणात् ॥ ८७ ॥

ऋषीणामस्ति तेषां तु यैरुप्ता ज्ञानसंपदा।

कृताऽप्यंकुरिता जाताः स्थितयः सुखदा यथा ॥ ८८ ॥

कृतयुगः स हि नैवान्यत् कर्मणां सत्फलं विना।

मुनिभिर्बोधितस्यास्य सञ्ज्ञानस्य तु केवलम् ॥ ८९ ॥

उत्पादनमिदं यत्र क्षेत्रे सञ्जायते सदा।

देवात्मेत्युच्यते क्षेत्रं सार्थकं तत्तु सर्वतः ॥ ९० ॥

टीका—इसलिए व्यक्ति त्व को गौरवशाली बनाने के उपरांत वे इस संचित विभूति के आधार पर अपने उदार पुरुषार्थ का उपयोग जन-जन का आंतरिक परिष्कार करने में लगाते हैं। यही सनातन ऋषि धर्म है। इस प्रयोजन के लिए वे समयानुसार अनेक योजनाएँ बनाते व कार्यक्रम चलाते रहते हैं। महानता ऊँचाई एवं प्रकृति संपदा के कारण नहीं, निवास करने वाले उन ऋषियों के कारण है जिनने इस क्षेत्र में ज्ञान संपदा बोई, उगाई और उससे सर्वत्र प्रगति और संपत्ति भरी, सुखद परिस्थितियाँ बनायीं। पुरातन काल का सतयुग और कुछ नहीं केवल मुनि मनीषियों द्वारा उत्पन्न किए और बखरे गए सदज्ञान का ही प्रतिफल था। यह उत्पादन जिस क्षेत्र में होता रहे उसे देवात्मा कहा जाना हर दृष्टि से सार्थक है ॥ ८४-९० ॥

सञ्ज्ञानविग्रहा देवा ऋषयः स्थापनां व्यधुः।

वातावृतौ शुभायां ते तीर्थानां पुण्यदायिनाम् ॥ ९१ ॥

गतयो विधयस्तत्रारण्यकस्तरगाः सदा।

चलन्ति स्म व्यतीते च जीवनस्यार्धभागके ॥ ९२ ॥

प्रयोजनेषु संसारसंबंधिषु च युज्यते।

उत्तरार्द्धपरार्थेषु देवसंस्कृतिगा नराः ॥ ९३ ॥

वानप्रस्थस्तरेणैव जीवन्तीह व्यवस्थितिः।

तेषामध्यापनस्या - भूदध्यासस्यकृते तथा ॥ ९४ ॥

तपसोऽपि तथा तत्र केन्द्रेष्वेव तु सादरम्।

नेशुराधय एतेन व्याधयो भास्वतेव तु ॥ ९५ ॥

टीका—सदज्ञान के शरीरधारी देवता ऋषियों ने अनुकूल वातावरण में अनेकानेक पुण्यदायी तीर्थों की स्थापना की। उन सभी में आरण्यक स्तर की गतिविधियाँ चलती थीं। आधा जीवन सांसारिक प्रयोजन में लगाने के उपरांत देव-संस्कृति के सच्चे अनुयायी जीवन का उत्तरार्द्ध परमार्थ प्रयोजन में लगाते थे। वानप्रस्थ स्तर का जीवन जीते थे। उसके लिए आवश्यक अध्यापन अभ्यास एवं तप साधन की व्यवस्था उन्हीं धर्म केंद्रों में ससम्मान रहती थी। उनके वहाँ निवास से मानसिक आधियाँ (कष्ट) उसी प्रकार से नष्ट हो जाती हैं, जैसे तेजस्वी सूर्य के प्रभाव से शारीरिक व्याधियाँ ॥ ९१-९५ ॥

जनाः साधारणा अत्र प्रायश्चित्तं तु पापजम्।

कर्तुमायान्ति स्वं तच्च भविष्यत्कर्तुमुज्ज्वलम् ॥ ९६ ॥

निश्चेतुं च तदर्थं ते नव्यान् गतिविधीन् शुभान्।

व्यपैत्यनेन तेषां स बुद्धेः ज्वर इव समः ॥ ९७ ॥

सावकाशा जनाः स्वस्य साधनायै तु यत्रतः।

जीवनस्य व्रजन्ति स्म नित्यमारण्यकेषु ते ॥ ९८ ॥

व्यवहारे तथा स्वस्य दृष्टिकोणे शुभोदयम्।

उच्चस्तरं समावेशं कृत्वा प्रत्याव्रजन्त्यपि ॥ ९९ ॥

चचालारण्यकेष्वेषा नियता कल्पसाधना।

संस्कारांश्च शिशूनां ते व्रत धारणमुज्ज्वलम् ॥ १०० ॥

वयस्क्रानां तथा श्राद्ध - तर्पणं स्वर्गगामिनाम्।

पितृणामेषु माहात्म्यमसंख्यं प्रोक्तमन्यतः ॥ १०१ ॥

टीका—साधारण जन यहाँ पापों का प्रायश्चित्त करने उज्ज्वल भविष्य की संरचना के लिए अभिनव गतिविधियाँ निर्धारित करने के निमित्त आते थे। इससे उनकी बुद्धि में समाई कुंठित भावनाएँ दूर हो जाती थीं। अवकाश के समय जीवन साधना के लिए लोग आरण्यकों में पहुँचते थे और अपना दृष्टिकोण व्यवहार में उच्चस्तरीय समावेश करके वापस लौटते थे। ऐसी कल्प साधना सभी आरण्यकों में नियमित रूप से चलती थी। बालकों के संस्कार, वयस्कों के व्रत धारण, सब दिवंगतों के श्राद्ध-तर्पण तीर्थ आरण्यकों में करने का माहात्म्य साधारण स्थानों की अपेक्षा असंख्य गुना अधिक माना गया है ॥ ९६-१०१ ॥

सजीवानि तु तीर्थानि प्रोच्यन्ते स्म महर्षयः।

तदा तीर्थात्मतां याता मन्यन्तेऽपि सदाश्रयात् ॥ १०२ ॥

वसन्ति यत्र तान्येव यान्ति स्थानानि तीर्थताम् ।
 तीर्थावगाहि मर्त्यानां जीवनेऽभूत्यरिष्कृतिः ॥ १०३ ॥
 ऋषिव्यक्तिगता योगसाधनाऽथापि तत्तपः ।
 एतदर्थमभूतां ते यान्तु सञ्ज्ञानसन्निधिम् ॥ १०४ ॥
 भूतिसंपदया ते च तया कुर्वन्ति संततम् ।
 व्यवस्थां सकलां जीवकल्याणानुगतां शुभाम् ॥ १०५ ॥
 टीका—ऋषियों को सजीव तीर्थ कहा जाता था। उन्हें सत् की आराधना व सिद्धि से तीर्थ की आत्मा कहा जाता था। जहाँ वे रहते थे, वहीं तीर्थ बन जाते थे। तीर्थों का अवगाहन करके मनुष्यों की जीवनचर्या में आशाजनक सुधार परिवर्तन होता था। ऋषियों की व्यक्तिगत योग साधना और तपश्चर्या इसी निमित्त थी कि वे सद्ज्ञान के भंडागार बनें और उस विभूति संपदा से जन-जन के कल्याण का सरंजाम जुटाएँ ॥ १०२-१०५ ॥

नारदो दर्शयामास रतानां ज्ञानसाधने ।
 ऋषीणां ता गुहा भूतकालिकानां सुमंगलाः ॥ १०६ ॥
 परिचयं तन्निवासस्य कार्यक्षेत्रस्य स व्यधात् ।
 अन्वभून्मण्डलं तच्च जातं क्षेत्रमिदं कथम् ॥ १०७ ॥
 विपिनं चान्दनं धन्यमिव वा नन्दनं वनम् ।
 जातं सुरभितं विश्वं सौरभेणास्य तत्कथम् ॥ १०८ ॥
 कारणं चैकमेवात्र क्षेत्रे बाहुल्यमत्र तु ।

ऋषीणामुच्चव्यक्तित्व - पौरुषाणां पदे-पदे ॥ १०९ ॥
 टीका—नारद जी ने ज्ञान साधना में संलग्न रहे भूतकाल के अनेकानेक ऋषियों की मंगलमय गुफाएँ दिखाईं। उनके निवास एवं कार्यक्षेत्र का परिचय कराया। सभी मंडली ने अनुभव किया कि चंदन वन-नंदन वन की तरह यह क्षेत्र क्यों धन्य बना और क्यों उसकी सुगंध संसार भर में फैली? कारण एक ही था इस क्षेत्र में ऋषि समुदाय का बाहुल्य और उनका उच्चस्तरीय व्यक्तित्व एवं पराक्रम ॥ १०६-१०९ ॥

हिमाद्रि - संगतानां तु महत्त्वानां समेऽपि ते ।
 ज्ञात्वा हेतुं रहस्यं च भृशं तोषमुपागमन् ॥ ११० ॥
 अनन्तरं विशालायां गुहायां श्रमशान्तये ।
 गतास्ते कंदमूलैश्च फलैः शान्तां व्यधुः क्षुधाम् ॥ १११ ॥
 समये चागते सन्ध्यां नियतां ते समाप्य च ।
 हापिता रात्रिरत्यर्थं पुण्ये क्षेत्रेऽत्र विह्वलैः ॥ ११२ ॥
 टीका—सभी को हिमालय के साथ जुड़ी हुई महानता का रहस्य और कारण समझने के उपरांत बहुत संतोष हुआ। बड़ी कंदरा में विश्राम के लिए चले गए। समीप ही उगे कंद फलों से क्षुधा निवृत्ति की और समय आने पर नियमित संध्या-वंदन के उपरांत इसी पुण्य क्षेत्र में भाव-विभोर उन लोगों ने रात्रि बिताई ॥ ११०-११२ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधना प्रकटीकरणयोः,
 महर्षिनारदप्रतिपादिते ऋषिप्रकरणम् इति प्रकरणो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

हिमाद्रि - हृदय - प्रकरण

दिनं तृतीयमद्याभूत्प्रवासस्य हिमालये ।
ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय कृतनित्यक्रियास्ततः ॥ १ ॥
नारदस्य तु नेतृत्वे सज्जाः प्रवसितुं समे ।
पुनीतानां स्थलानां च दर्शनैः सह ते पुनः ॥ २ ॥
ज्ञानेनास्येतिहासस्य पौरुषोद्देश्ययोरपि ।
हृदयंगानि तथ्यानि कर्तुं सौविध्यमाययुः ॥ ३ ॥
ईदृशो नैव सम्प्राप्तो योगस्त्वानंददायकः ।
पूर्वमेतेन क्वाप्यत्र भ्रमता मंडलेन तु ॥ ४ ॥
प्रश्नोत्तर विधिश्चात्र चलतामेव शोभनः ।
हृद्योऽभूच्च नृणां मार्गश्रमखेदं न ते गताः ॥ ५ ॥
मनोविनोदयन्तस्ते लक्ष्यस्थानानि चाञ्जसा ।
तरन्त्येव नवं दृश्यं पश्यन्तश्चोत्सुका भृशम् ॥ ६ ॥
मंडलस्थः सदस्यः स ऋषिश्रेष्ठ उवाच च ।
कणादः सहसा तत्र नारदं मुनिसत्तमम् ॥ ७ ॥

टीका—आज हिमालय परिवार में प्रवास का तीसरा दिन था। ब्रह्ममुहूर्त में मुनि-मनीषियों की मंडली उठकर नित्यकर्म से निवृत्त हुई। महाभाग नारद जी के नेतृत्व में सभी प्रवास के लिए तत्पर हो गए। पुनीत स्थलों को देखने के साथ-साथ उसका इतिहास जानने एवं उद्देश्य-पुरुषार्थ का स्वरूप समझते चलने से तथ्यों को हृदयंगम करने में बड़ी सहायता मिल रही थी। ऐसा आनंददायक सुयोग इस भ्रमणशील मंडली को इससे पूर्व कभी भी मिला नहीं था। चलते-चलते अनेक प्रश्न पूछने और उनके समाधान प्राप्त करने की पद्धति सभी को उत्तम लगी। इससे मार्ग का श्रम किसी को खलता नहीं था। हँसते-हँसते मंजिल पार होती रहती थी। नए दृश्यों को देखते हुए वह और भी उत्सुक हो रहे थे। मंडली के एक सदस्य ऋषिवर कणाद ने मुनि श्रेष्ठ नारद जी से पूछा ॥ १-७ ॥

कणाद उवाच—
देवान्यत्रापि सन्त्येव शोभाः प्रकृतिजास्तथा ।
जलवायुकृतं चास्ति वातावरणमुत्तमम् ॥ ८ ॥
तदुपेक्ष्य कथं सर्व आत्मवेत्तार एव च ।
शीताधिक्यमथाप्यत्र विद्यमानं पदे पदे ॥ ९ ॥
अवरोहमथारोहमसौविध्यकरं परम् ।
अविचार्यैव वासं स्वं निश्चिन्वन्ति कथं त्विह ॥ १० ॥
त्यक्त्वा सामाजिकं चात्र गुहावासकरं कथम् ।
एकान्तं जीवनं सर्वे वाञ्छन्त्येते महर्षयः ॥ ११ ॥
बोद्धव्यतां कृपया चैतद्रहस्यं भवताद्भुतम् ।

आकर्ण्य प्रश्नमेतत्तु जगाद नारदो मुनिः ॥ १२ ॥

टीका—कणाद ने कहा, हे देव संसार में अन्यत्र भी अनेक प्राकृतिक शोभा और अनुकूल जलवायु वाले स्थान हैं। उनकी उपेक्षा करके आत्मवेत्ता उत्तराखंड को ही अपनी साधनाओं के लिए क्यों उपयुक्त समझते हैं। शीत अत्यधिक होने तथा पद-पद पर चढ़ने-उतरने की असुविधा को ध्यान न देकर वे यहीं क्यों अपना निवास क्षेत्र चुनते हैं? समूह में न रहकर एकाकी गुहा जीवन किसलिए पसंद हैं, इसका रहस्य समझाने का अनुग्रह करें। इस प्रश्न को सुनकर महर्षि नारद ने कहा ॥ ९-१२ ॥

नारद उवाच—

यथैवान्तर्ग्रहदानप्रदानाभ्यां भुवस्त्वदम् ।
उत्तरस्थं ध्रुवस्थानं भृशं संवेद्यतां गतम् ॥ १३ ॥
चुंबकक्षमता तत्र विशाला विद्यते तथा ।
पृथिव्यां विपुलान्यत्र ब्रह्मांडोदरगानि तु ॥ १४ ॥
अनुदानान्यनेनैव पथा मध्यंगतेन तु ।
अवतरन्ति समग्रं च यान्ति नूनं धरातलम् ॥ १५ ॥
व्यापकानां तथा ब्रह्मचेतनानां तथैव तु ।
तत्स्थानमनुदानानां वसुधाचुम्बिनां ध्रुवम् ॥ १६ ॥
यद् वदन्ति बुधा दिव्यं हिमाद्रेर्हृदयं त्विदम् ।
उत्तराखंडशीर्षस्थं सुमेरोस्तु समीपगम् ॥ १७ ॥
सर्वसाधारणागम्यं निवसन्ति च यत्र ते ।
सूक्ष्मकायानुगा देवमानवा एव केवलम् ॥ १८ ॥
ऋषयः स्थूलकायास्तु सर्वे ते च मनीषिणः ।
अध्यात्मध्रुवशक्तेश्च भागे तत्र प्रभाविते ॥ १९ ॥
वसन्तीह सदा येषु क्षेत्रेष्वत्रोत्तमेषु तु ।
जीवनं यापितुं नूनं विद्यते साधनानि तु ॥ २० ॥

टीका—नारद जी ने कहा, जिस प्रकार अंतर्ग्रही आदान-प्रदान के लिए पृथ्वी का उत्तरी ध्रुव अत्यधिक संवेदनशील है, वहाँ की चुंबकीय क्षमता बढ़ी-चढ़ी है तथा पृथ्वी पर अगणित ब्रह्मांडीय अनुदान इसी क्षेत्र के माध्यम से अवतरित होते और फिर वे समूचे धरातल पर प्रवाह की तरह फैलते हैं, उसी प्रकार व्यापक ब्रह्मचेतना के पृथ्वी पर अवतरित होने वाले अनुदानों का केंद्र वह स्थान है जिसे विद्वान लोग हिमालय का हृदय कहते हैं। यह उत्तराखंड के शीर्ष सुमेरु शिखर के समीपवर्ती क्षेत्र में है एवं सर्वसाधारण के लिए अगम्य है। वहाँ सूक्ष्म शरीर प्रधान देवमानव ही निवास करते हैं। स्थूल शरीरधारी ऋषि-मनीषी, उसे अध्यात्म ध्रुव के प्रभाव क्षेत्र में उन स्थानों पर रहते हैं, जहाँ जीवनयापन के साधन हैं ॥ १३-२० ॥

६.१२ प्रज्ञोपनिषद्

तादृशं विद्यते नूनमुत्तराखंडमुत्तमम् ।
 स्थानं वातावृतौ यत्र प्रभावोऽध्यात्मसंभवः ॥ २१ ॥
 विद्यतेऽधिक एवान्यस्थानेभ्यश्चाञ्जसाऽस्ति सः ।
 ब्रह्मांडव्यापिचैतन्यधारा - संपर्क - संभवः ॥ २२ ॥
 देवशक्तिभिरादानप्रदानस्थितयेऽधिकम् ।
 उपयुक्तं मतं क्षेत्रमिदं श्रेष्ठं मनीषिभिः ॥ २३ ॥
 शीतमुख्येषु भागेषु शक्तिः सा जीवनानुगा ।
 लभ्यतेऽधिक - मात्रायां तत्रत्या अतएव तु ॥ २४ ॥
 जना अपेक्षया स्वस्थतराः सौन्दर्यशालिनः ।
 भवन्त्येषां स्वभावश्च कोमलो भवति स्वतः ॥ २५ ॥
 आहाराय विहाराय सामग्री विपुलास्ति च ।
 वर्ततेऽत्र मनःस्थैर्यशान्तिभ्यामनुकूलता ॥ २६ ॥
 निवासिनश्च तेऽत्रत्या जीवन्त्यधिकमुत्तमाः ।
 एतादृशे कृताः सर्वैर्वातावरण उत्तमे ॥ २७ ॥
 प्रयासा लब्धुमध्यात्मविभूतीः सफलाः सदा ।
 जायन्तेऽधिकमात्रायां शीघ्रं चापि न संशयः ॥ २८ ॥
 टीका—उत्तराखंड वैसा ही क्षेत्र है। यहाँ के वातावरण में
 अन्यत्र की तुलना में अध्यात्म प्रभाव अधिक है। ब्रह्मांडव्यापी
 ब्रह्मचेतना की अनेकानेक धाराओं में से यहाँ रहकर सरलतापूर्वक
 संपर्क साधा जा सकता है। दैवी शक्तियों के साथ आदान-
 प्रदान चलाने की दृष्टि से यह श्रेष्ठ एवं अधिक उपयुक्त
 पाया गया है। शीतप्रधान क्षेत्रों में जीवनीशक्ति की मात्रा
 अधिक पायी जाती है। वहाँ के निवासी अपेक्षाकृत अधिक
 स्वस्थ और सुंदर होते हैं। स्वभाव भी मृदुल होता है। आहार-
 विहार के लिए उपयुक्त सामग्री का बाहुल्य रहता है। मन की
 स्थिरता और शांति के लिए यहाँ अधिक अनुकूलता रहती
 है। यहाँ के श्रेष्ठ निवासी अधिक दिन जीते हैं। ऐसे वातावरण
 में अध्यात्मिक विभूतियाँ प्राप्त करने के लिए किए गए प्रयास
 अपेक्षाकृत अधिक जल्दी और अधिक मात्रा में सफल होते
 हैं ॥ २१-२८ ॥

सेवार्थ साधनार्थं च मत आवश्यकस्त्वयम् ।
 जनसंपर्क एकान्तोऽपेक्ष्य एवात्मानः सदा ॥ २९ ॥
 परिष्काराय तस्मै च मनोनिग्रह हेतवे ।
 विनैतन्नैव सिद्धिं ते लभन्ते साधका इह ॥ ३० ॥
 वातावृतौ सदेदृश्यां सर्वे वैज्ञानिकास्तथा ।
 साहित्यिका महान्तस्ते कवयो योगिनोऽपि च ॥ ३१ ॥
 जना उच्चस्ताराः स्वेषु विषयेष्विच्छितेष्वलम् ।
 चित्तं स्थिरयितुं शक्ता भूतीर्लब्धुं परा अपि ॥ ३२ ॥
 महान्तः पुरुषा यत्र घटनाश्च महत्त्वगाः ।
 सम्पद्यन्ते तु यत्रैव प्रभावस्तत्र शिष्यते ॥ ३३ ॥
 उच्चश्चेत्स प्रभावस्तु चिरं तिष्ठति सर्वतः ।
 क्षेत्रेऽस्मिन् विद्यते नूनं वार्ता हिमगिरावपि ॥ ३४ ॥

लीलाभूमिरिदं क्षेत्रं देवानां च तपस्विनाम् ।
 ऋषीणां महतां नृणां हिमाद्रेर्निकटस्थितम् ॥ ३५ ॥
 पुरातनः प्रभावः स विद्यते चाधुनापि तु ।
 क्षेत्रेऽस्मिन् बीजमुप्तं तदुर्वरायां फलेद् भुवि ॥ ३६ ॥
 क्षेत्रेऽस्मिन् विहिता शीघ्रं साधना सा फलत्यलम् ।
 ऐतिह्यस्मरणादेव प्रेरणा प्राप्यतेऽञ्जसा ॥ ३७ ॥
 टीका—सेवा-साधना के लिए जनसंपर्क आवश्यक है,
 किंतु मनोनिग्रह और आत्मपरिष्कार के लिए अंतर्मुखी होना
 पड़ता है, उसके लिए एकांत की आवश्यकता पड़ती है,
 उसके बिना साधक सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता है। ऐसे
 ही वातावरण में वैज्ञानिक, साहित्यकार, कवि, योगीस्तर के
 महत्वपूर्ण व्यक्ति अभीष्ट विषयों पर अधिक ध्यान एकाग्र
 कर सकते हैं और अधिक गहराई में उतरकर अधिक मूल्यवान्
 विभूतियाँ हस्तगत कर सकते हैं। महान् व्यक्ति जहाँ जन्म लेते
 हैं और महान् घटनाएँ होती हैं, वहाँ अपना प्रभाव छोड़ती हैं
 और यदि वह उच्चस्तरीय है, तो चिरकाल तक बना रहता है,
 वह बात इस हिमालय क्षेत्र में पाई जाती है। हिमालय देवताओं,
 ऋषियों, तपस्वियों, महामानवों की लीला भूमि रही है। उस
 क्षेत्र में वह पुरातन प्रभाव अभी भी विद्यमान है। उर्वरभूमि में
 बोया हुआ बीज जल्दी और अधिक फलित होता है। इस
 क्षेत्र में बोई हुई साधना भी अधिक फलवती होती देखी गई
 है। ऐतिहासिक घटनाओं के स्मरण से भी अनायास ही
 तद्विषयक प्रेरणाएँ मिलती हैं ॥ २९-३७ ॥

एतत्क्षेत्रे समुत्पन्ना वनस्पतय उत्तमाः ।
 सन्ति चैवं विधास्तस्य वातावरणमुत्तमम् ॥ ३८ ॥
 क्षेत्रस्यैतत्प्रभावेण भावितं सेवनं विना ।
 प्रभावयति सर्वाश्च साधकां स्तान्निरन्तरम् ॥ ३९ ॥
 वायुस्तत्स्पर्शनिर्वातः शरीरं मन एव च ।
 अंतरुल्लासयत्याशु यदाश्रित्य मनोबलम् ॥ ४० ॥
 तिष्ठत्युच्चगतं स्याच्च भावनोत्कृष्टताऽधिका ।
 सहायका भवन्त्येवं स्थितयोऽध्यात्मतोदये ॥ ४१ ॥
 उत्तराखंडसंभूता नद्य आरोग्यवर्द्धकम् ।
 चित्तसंतुलनोद्गारि वहन्त्यादाय वारि च ॥ ४२ ॥
 शिखरस्था हिमानीयं प्रवात्यादित्यतेजसा ।
 क्षेत्रे पाषाणयुक्ते चाक्षुष्णं वैशिष्ट्यमस्य तु ॥ ४३ ॥
 हिमजलस्य सदा तिष्ठत्यग्रे नागरिके स्थले ।
 दूषितं जलमेतच्च शुद्धतां नो जहाति तु ॥ ४४ ॥
 अत्रत्यानां नदीनां तु निर्झराणां च विद्यते ।
 जलं सहायकं शक्तेर्वृद्धौ च मलशोधने ॥ ४५ ॥
 टीका—इस क्षेत्र में उगने वाली वनस्पतियाँ भी ऐसी हैं,
 जिनका सेवन किए बिना भी उस क्षेत्र का वातावरण बहुत
 प्रभावी रहता है तथा समस्त साधकों को प्रभावित करता है।

उनको स्पर्श करके बहने वाली वायु शरीर, मन और अंतराल को ऐसा उल्लास प्रदान करती है, जिनके सहारे मनोबल ऊँचा रहे और भावनाओं में उत्कृष्टता का अनुपात बढ़ा रहे। ऐसी परिस्थितियाँ आत्मिक प्रयोजनों की सफलता में बहुत सहायक सिद्ध होती हैं। उत्तराखंड की सभी नदियाँ आरोग्यवर्द्धक और मानसिक संतुलन बनाने वाला जल लेकर बहती हैं। शिखरों पर जमा हुआ हिम सूर्यताप से पिघलता है, जो पत्थर वाले क्षेत्रों में अपनी विशिष्टता अक्षुण्ण बनाए रखता है। आगे चलकर नगरों की गंदगी मिलने पर वह दूषित होता है, फिर भी अपनी शुद्धता को खोता नहीं। अस्तु यहाँ के नदी-निर्झरों द्वारा प्राप्त हुआ जल मलों के शोधन एवं बल अभिवर्द्धन में विशेष रूप से सहायक सिद्ध होता है ॥ ३८-४५ ॥

नदीध्वेतासु गंगा तु मुख्येयं वर्ततेऽनघा।
जलमस्यामृतं दिव्यमाधिव्याधि विनाशकम् ॥ ४६ ॥
पुण्येनास्या जलेनात्र खनिजानामथापि च।
वन्यानामौषधीनां च मिश्रणं विपुलं मतम् ॥ ४७ ॥
औषधं जाह्नवीतोयमतएव तदुच्यते।
वैशिष्ट्यं च निजं नूनं क्षेत्रजं भवति स्वतः ॥ ४८ ॥
गुणास्तदनुपाशच तत्र जातेषु निश्चितम्।
पदार्थेषु समेष्वेव जायन्ते च यथा तथा ॥ ४९ ॥
गंगावतरणरूपे च गंगायाः परमाद्भुतम्।
कृतं वैज्ञानिकं चेत्थं विद्वद्भिस्तु विवेचनम् ॥ ५० ॥
मरीचिरूपं यच्चात्र जलं तत्पूर्णरूपतः।
निर्दोषं कथितं तेजो जले परिणतं भवेत् ॥ ५१ ॥
अंतरिक्षस्थितेष्वेतत्तेजो युक्तेषु संभूतम्।
जलमाकाशगंगादिपिण्डेष्वस्ति तु यच्छुभम् ॥ ५२ ॥
उत्तरस्थे ध्रुवक्षेत्रे याति सूर्यास्त्रसंगतेः।
विष्णुपादाब्जसंभूता सोच्यते ह्यतएव तु ॥ ५३ ॥
उत्तरस्थं ध्रुवक्षेत्रं नाभिरस्य च मन्यताम्।
ब्रह्मांडस्यात एवोक्तं सैति ब्रह्मकमंडलौ ॥ ५४ ॥
पतत्येषाऽन्तरिक्षेऽतो जटायां शंकरस्य तु।
अंतरिक्षं जटा तस्य व्योमकेशस्य सम्मतम् ॥ ५५ ॥
पतत्येवं हिमाद्रौ सा हिमरूपतया सदा।
गोमुखादथनिर्याति प्रत्यक्षं वारितां गता ॥ ५६ ॥
मरीचिजलदिव्यत्व कारणादेव निर्मले।
गंगाजले समायान्ति नैव विकृतयोऽशुभाः ॥ ५७ ॥
औषधं जाह्नवीतोयं यतोऽस्याः सलिलस्य तु।
मुख्यं स्रोतोऽन्तरिक्षेऽस्ति न पृथिव्यां तु कुत्रचित् ॥ ५८ ॥
पार्थिवेषु पदार्थेषु प्रायो विकृतयः सदा।
तत्कालं हि समायान्ति यातयामं तदुच्यते ॥ ५९ ॥
गंगाजलं तु तदिव्यमपवादतयाऽस्य तु।

विद्यते कारणं चात्र वर्तते चेदमेव हि ॥ ६० ॥

टीका—गंगा इन सभी नदियों में प्रधान है। उसका जल आधि-व्याधियों का निवारण करने वाला माना गया है, उसके साथ दिव्य वनौषधियों तथा खनिजों की उपयोगी मात्रा घुली रहती है, अतएव वह औषधि रूप बन जाता है। हर क्षेत्र की अपनी विशेषता होती है, उसके अनुरूप ही वहाँ उत्पन्न होने वाले खाद्य पदार्थों के गुण रहते हैं। गंगावतरण में गंगा की अद्भुत वैज्ञानिक विवेचना विद्वान इस प्रकार बताते हैं। संसार में विद्यमान जलों में मरीचि-जल (किरण रूप में विद्यमान जल) पूर्ण निर्दोष माना गया है यही तेज जल रूप में परिणत होता है। आकाश में अनेक तेजस्वी पिंडों (आकाशगंगा आदि) में विद्यमान यह मरीचि जल उत्तरी ध्रुव में सूर्य की किरणों के संपर्क से पहुँचता है। यही गंगा का विष्णु (सूर्य) के चरणों (किरणों) से निकलकर ब्रह्म कमंडलु में जाना कहा गया है। उत्तरी ध्रुव इस अपने ब्रह्मांड की धुरी है, यही ब्रह्मा (ब्रह्मांड) का कमंडलु (धुरी या नाभि) है। वहाँ से वह (गंगा) अंतरिक्ष में गिरती है, अंतरिक्ष ही शिवजटा है, क्योंकि शिवजी को व्योमकेश भी कहते हैं। व्याम अर्थात् अंतरिक्ष जिनके केश अर्थात् बाल स्वरूप है। वहाँ से वह गंगा हिमालय पर घनीभूत बरफ बनकर गिरती है। तदंतर जल रूप में गोमुख से बहती हुई दीखती है। उसी मरीचि-जल की दिव्यता के कारण गंगाजल में सहसा विकृति नहीं आती है। चूँकि इसके जल का मुख्य स्रोत पृथ्वी में नहीं है अंतरिक्ष में है, इसीलिए यह औषध रूप में है। पार्थिव पदार्थों में तत्काल विकृतियाँ देखी जाती हैं, उसे बासी कहा जाता है, किंतु गंगाजल इसी कारण इसका अपवाद है ॥ ४६-६० ॥

हिमाद्रिवासिनो येषां वृक्षाणां ज्वालयन्ति ते।
दारूणि, भुञ्जते शाकफलकंदान्मुत्तमम् ॥ ६१ ॥
तेन नैव नृणामेवान्येषामपि शरीरिणाम्।
शरीरं चित्तमेवापि जायते सात्त्विकं परम् ॥ ६२ ॥
नंदनवनमालिङ्ग्य क्षेत्रजा वान्ति ये सदा।
वायवः प्राणसञ्चारमिव ते कुर्वते भृशम् ॥ ६३ ॥
विना श्रमं च ते ऽत्रत्या लाभं वातावृतेभृशम्।
वैशिष्ट्यस्य जनाः सर्वे प्राप्नुवन्ति निरंतरम् ॥ ६४ ॥
सर्वागमुंदरो नैवं सुयोगोऽन्यत्र लभ्यते।
अध्यात्ममार्गयोक्तारो वसन्त्यत्रैव सर्वदा ॥ ६५ ॥
अन्यत्राधिकालेन विपुलेन श्रेमेण च।
लभन्ते यत्तदल्पेन कालेनात्राप्नुवन्ति च ॥ ६६ ॥
हिमाद्रिहृदयं चैतदुत्तराखंडमुत्तमम् ।
साधकेभ्यस्त्वसंख्येभ्यः साफल्यं प्रददात्यलम् ॥ ६७ ॥
अनुभवं तं समाश्रित्य वसन्त्यत्रैव साधकाः।
उत्साहश्चलितुं येषां विद्यतेऽत्र पथि स्वयम् ॥ ६८ ॥

६.१४ प्रज्ञोपनिषद्

अंतर्ग्रहानुदानं तदन्तर्लोकं तदुत्तमम्।

वरदानमिहाप्तुं चापेक्षया सुविधाकरम् ॥ ६९ ॥

टीका—हिमालय निवासी जिन वृक्षों की लकड़ियों को जलाते हैं, जो शाक, कंद, फल, अन्न खाते हैं, उससे मनुष्य के ही नहीं, अन्य प्राणियों के शरीर मन भी अपेक्षाकृत अधिक सात्त्विक रहते हैं। नंदन वन को स्पर्श करके बहने वाली इस क्षेत्र की हवाएँ प्राण-चेतना का संचार करती हैं और बिना परिश्रम के भी यहाँ के निवासी वातावरण की विशिष्टता का लाभ उठाए रहते हैं यह सर्वांग सुंदर सुयोग अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। अस्तु अध्यात्म मार्ग के प्रयोक्ता इसी भूमि में डेरा डालते हैं और अन्यत्र अधिक दिन तक कठोर श्रम करने पर जो उपलब्ध होता है, उसे वे स्वल्प समय और स्वल्प प्रयास में ही प्राप्त कर लेते हैं। हिमालय का हृदय कहा जाने वाला उत्तराखंड क्षेत्र अगणित साधकों को मूल्यवान सफलताएँ प्रदान करता रहा है। उस अनुभव के आधार पर जिन्हें इस मार्ग में उत्साह है, वे अन्यत्र की अपेक्षा यहाँ डेरा डालते हैं। अंतर्ग्रही अनुदानों और अंतर्लोकिय वरदानों को उपलब्ध कराने में यहाँ अन्यत्र की अपेक्षा कहीं अधिक सुविधा है ॥ ६१-६९ ॥

अनुपेक्षस्तु सम्मर्दोऽकारणं विक्षिपत्यलम्।

दुर्गुणैश्च निजैर्दोषैः प्रभवन्ति च साधकान् ॥ ७० ॥

एतादृशानां सम्मर्दो जनानां याति तत्र च।

मनोरञ्जनमत्यर्थं विलासव्यवसाययोः ॥ ७१ ॥

साधनानि तु विद्यन्ते तानि कौतूहलस्य च।

क्षेत्रे हिमालयस्यात्र नैव किञ्चित्तु विद्यते ॥ ७२ ॥

शैत्याधिक्याद - थारोहारोहासुविधाविधेः।

विलाससाधनाल्पत्वान्नायान्यत्रानुरागिणः ॥ ७३ ॥

आयान्त्यपि न तिष्ठन्ति चिरमेतत्तु विद्यते।

स्वच्छता पूतताहेतोरध्यात्मन्युत्तमं क्रमे ॥ ७४ ॥

ये वसन्तीह सन्त्येते प्रायः सौम्याश्च सात्त्विकाः।

निर्धना अपि ते सन्ति सच्चरित्राश्च निश्छलाः ॥ ७५ ॥

हिंसका पशवोऽप्यत्र पक्षिणश्च भवन्ति तु।

अन्यत्रापेक्षया नूनमाक्रांतारोऽल्परूपतः ॥ ७६ ॥

मनुष्यैः सह तेषां च कादाचित्को विलोक्यते।

जनेर्दुर्व्यवहारस्तु प्रसंगैः कैश्चिदेव तु ॥ ७७ ॥

साधका निर्भयं तेषां मध्ये स्वदैनिकं क्रमम्।

निर्वहन्ति जनाः सन्ति संकुलक्षेत्रवासिनः ॥ ७८ ॥

छलिनो व्यसनासक्ता आक्रांतारोऽथ दुर्धियः।

दुर्गुणैकरताः शांतमेकान्तमिदमुच्यते ॥ ७९ ॥

टीका—निरर्थक भीड़ अकारण विक्षेप करती है। अपने दोष दुर्गुणों का प्रभाव साधकों पर छोड़ती है। ऐसे लोग वहाँ अधिक संख्या में पहुँचते हैं, जहाँ विलास-व्यवसाय के

मनोरंजन कौतूहल के साधन अधिक रहते हैं। हिमालय क्षेत्र में वैसा कुछ है नहीं। शीत की अधिकता उतार-चढ़ाव की असुविधा, विलास-साधनों की न्यूनता के कारण संसार प्रवृत्ति के लोग यहाँ पहुँच नहीं पाते, पहुँचते हैं तो रुकते नहीं। यह पवित्रता और स्वच्छता दोनों ही दृष्टि से अध्यात्म प्रयोजनों के लिए अतीव उत्तम है। जो निवास करते हैं, उनमें से अधिकांश सौम्य-सात्त्विक प्रवृत्ति के होते हैं। निर्धन होने पर भी उन्हें निष्कपट सदाचारी पाया जाता है। यहाँ तक कि हिंसक पशु-पक्षी तक अन्यत्र की तुलना में कम आक्रामक पाए जाते हैं। मनुष्यों के साथ तो उनका दुर्व्यवहार कभी कदाचित विशेष प्रसंगों में ही देखा जाता है। साधक प्रकृति के लोग उनके बीच निर्भय होकर निर्वाह कर लेते हैं। घिच-पिच क्षेत्रों का जन-समुदाय, दुर्व्यसनी, दुर्गुणी, छली और आक्रामक पाया जाता है, यह क्षेत्र एकांत-शांत है ॥ ७०-७९ ॥

संकुलक्षेत्रजा - वासः साधनादृष्टितः सदा।

चित्तोद्वेगकरो दृष्टः प्रयासोऽनर्थकृत्तथा ॥ ८० ॥

अस्ति प्रयोगशालेव संपन्ना साधनैः स्वयम्।

हिमाद्रिः शक्तयोऽसंख्या दृश्यन्ते स्फुरितास्तु ताः ॥ ८१ ॥

एतत्संपर्कतश्चात्र साधकानां वपुः स्वयम्।

स्थूलं सूक्ष्मं प्रसुप्ताः स्वाः शक्तीरुद्बोद्धुमर्हति ॥ ८२ ॥

मानवस्य शरीरं तु ब्रह्मांडानुकृतिः स्वयम्।

सर्वोपकरणान्यत्र विद्यन्ते संस्थितानि तु ॥ ८३ ॥

उद्बुद्धानि विधायान् यानि योक्तं च संभवेत्।

आत्मानं प्रकृतेः शक्त्या यावदावश्यकं तथा ॥ ८४ ॥

ग्रहीतुं धर्तुमेवाऽपि संभवेत्तावदेव च।

उपलब्धमिहास्त्येव पूर्णा संभावनाऽपि सा ॥ ८५ ॥

एतदर्थं प्रसुप्तं च बोद्धुमंतर्गतं समैः।

साधकैर्जागृतं कर्तुमिष्यते सर्वदैव तु ॥ ८६ ॥

प्रक्रिया साधनाभिश्च सिद्धिः सा लभ्यते जनैः।

आदातुमपि शक्तीस्ता दिव्यास्तासां दयाप्तये ॥ ८७ ॥

विधिरेक इहास्त्येष प्रसुप्तां दिव्यतां निजाम्।

कुर्याज्जनः साधकोऽत्र तामुद्बुद्धां तु केवलम् ॥ ८८ ॥

टीका—साधना की दृष्टि से घिच-पिच स्थानों में निवास मन को उद्विग्न करने वाला और प्रयास को असफल बनाने वाला देखा गया है। हिमालय स्वयं एक साधन संपन्न प्रयोगशाला है। उससे प्रकृति की अगणित शक्तियाँ अपेक्षाकृत अधिक सजग पाई जाती हैं। इनके संपर्क में साधकों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर अपनी प्रसुप्त शक्तियों को जगाने में अधिक सफल रहते हैं। मनुष्य का काय पिंड इस ब्रह्मांड की अनुकृति है। उसमें वे सभी उपकरण समाहित हैं, जिन्हें जागृत और सक्षम बना लेने पर प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियों के साथ अपने को जोड़ा जा सकता है और धारण किया जा सकता है,

उसे उपलब्ध करने की पूरी संभावना रहती है। इसके लिए अंतर्निहित प्रसुप्त को जगाना पड़ता है। इसी प्रक्रिया को साधना से सिद्धि की उपलब्धि कही जाती है। दैवी शक्तियों को आकर्षित करने और उनकी अनुकंपा पाने के लिए एक ही उपाय है साधक का अपनी प्रसुप्त दिव्यता को जगा लेना ॥ ८०-८८ ॥

योगाभ्यासे च चैतन्यं व्यक्तेः सम्बद्ध्यते तथा।
ब्रह्मचेतनया प्रोक्ता विद्वद्भिस्तु समष्टिगा ॥ ८९ ॥
संबंधे चोभयोर्जाते दानादाने क्रमात्ततः।
जायेते समतां जीवशक्तिरेति परात्मनः ॥ ९० ॥
आधारमिमांश्रित्य दृष्टाः सिद्धा नरा इह।
दिव्यतामर्जयन्तस्ते कुर्वन्तो देवभूमिकाम् ॥ ९१ ॥
चुंबकत्वस्य यस्यैवानिवार्यत्वमपेक्ष्यते।
आकर्षणाय पात्रत्वधृतयेऽपेक्ष्यते च यत् ॥ ९२ ॥
तपसा प्राप्यते तत्तु तपश्चात्मपरिष्कृतिः।
तितिक्षाग्नौ प्रतप्तस्य प्रखरत्वमदोषता ॥ ९३ ॥
तपश्चर्या न वै देवान् बाध्यान् कर्तुं दुराग्रहः।
विद्यतेऽपि तु चैतन्याच्छादिकानां तु वर्तते ॥ ९४ ॥
पशुजन्यप्रवृत्तीनां पुरुषार्थेन भूयसा।
समूलोनमूलनं येन स्वरूपं स्वं प्रपद्यते ॥ ९५ ॥
अस्मिन्ग्नौ नरस्तप्त्वा स्वर्णकान्तिं भजत्यलम्।
जायते प्रतिभावांश्च लभते परिपक्वताम् ॥ ९६ ॥

टीका—योगाभ्यास में व्यक्ति की चेतना को समष्टिगत ब्रह्मचेतना के साथ जोड़ा जाता है। दोनों के मिलन पर ऐसा आदान-प्रदान चल पड़ता है, जिसमें जीवात्मा की सामर्थ्य परमात्मा के समतुल्य बन सके। सिद्ध पुरुष इसी आधार पर दिव्यता अर्जित करते और देवताओं जैसी भूमिका संपन्न करते देखे गए हैं। आकर्षण के लिए जिसे चुंबकत्व की आवश्यकता है धारण के लिए पात्रता की आवश्यकता है उसे तपश्चर्या द्वारा प्राप्त किया जाता है। तप का तात्पर्य है आत्मशोधन। अपने आपको तितिक्षा की अग्नि में तपाकर निर्मल और प्रखर बना लेना। तपश्चर्या देवताओं को बाधित करने का दुराग्रह नहीं है, वरन् चेतना पर चढ़ी हुई पशु-प्रवृत्तियों को पुरुषार्थ पूर्वक उखाड़ना है, जिससे साधक अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करते हैं। इस अग्नि में तपने से मनुष्य सोने के समान कांतिवान और प्रतिभावान बनता है। परिपक्वता इसी आधार पर आती है ॥ ८९-९६ ॥

यस्यां कष्टानि सह्यन्ते तथैव दिनचर्यया।
रुद्धते पौरुषं शौर्यं तथैतच्च मनोबलम् ॥ ९७ ॥
आसाद्येमा विभूतीश्च तापसाः शक्तिशालिनः।
जायंते सुविधासक्ता निःसत्त्वाश्च विलासिनः ॥ ९८ ॥
न ते कर्तुं समर्थाश्च शौर्यसाहससंयुतम्।

पराक्रमं, यतो लभ्यं साफल्यं भौतिकस्तरम् ॥ ९९ ॥
भवेदध्यात्मगाः स्युश्च हस्तगास्ता विभूतयः।
जायते तपसा चास्य दौर्बल्यस्य निराकृतिः ॥ १०० ॥
संयमैकधना ये तु विक्रमैकरसा नराः।
अनौचित्येन युद्धयन्ते ये ते शूरास्तपस्विनः ॥ १०१ ॥
तप एव च विश्वेऽस्मिन् बलं प्रोक्तं परं महत्।
यथा व्यायामशालायां पूर्णायां साधनैर्नरैः ॥ १०२ ॥
शिक्षकस्योपयुक्तस्य वातावरणकस्य च।
साहाय्येन क्रमान्मल्लो जायते दृढविग्रहः ॥ १०३ ॥
तथा विशेषतास्वस्य हिमाद्रेयं वसन्ति तु।
प्राप्यन्ते तैर्महत्स्यताः सिद्धयोऽध्यात्मसंभवा ॥ १०४ ॥
प्रतिबंधो न तस्मिंस्तु यद्यपि क्वापि विद्यते।

स्थितिर्न तत्र तु सा तद्वत्सफलं स्यादृतौ कृतम् ॥ १०५ ॥
टीका—कष्ट सहिष्णु जीवनचर्या से मनोबल और शौर्य-पराक्रम बढ़ता है। इन्हीं विभूतियों को अर्जित करने के कारण तपस्वी लोग परम शक्तिशाली बनते हैं। सुविधाओं से खेलने वाले विलासी लोग भीतर से खोखले होते हैं और वे शौर्य-साहस भरा वैसा पराक्रम कर नहीं पाते, जिससे भौतिक स्तर की सफलताएँ तथा आत्मिक स्तर की विभूतियाँ हस्तगत हो सकें। इस दुर्बलता का निराकरण तपश्चर्या द्वारा होता है। संयमी, पराक्रमी एवं अनौचित्य से लड़ने वाले शूरवीरों को तपस्वी कहते हैं। तप ही इस संसार का सबसे बड़ा बल है। जिस प्रकार साधन-सम्पन्न व्यायामशाला में-उपयुक्त शिक्षक एवं वातावरण की सहायता से मनुष्य एक सधा हुआ पहलवान बनता है। उसी प्रकार हिमालय की विशेषताओं में रहते हुए अध्यात्म क्षेत्र की सिद्धियाँ अधिक अच्छी तरह प्राप्त की जा सकती हैं। यों उस उर्पाजन पर प्रतिबन्ध कहीं भी नहीं है, परन्तु यहाँ वही स्थिति है, जैसे ऋतु के अनुकूल किये गये कार्य सदा सफल होते हैं ॥ ९७-१०५ ॥

तापसा एव जायन्ते योगिनो नैव निर्गताः।
जायन्ते ते विकारा वा विलासा विविधा मलाः ॥ १०६ ॥
यावत्तावन्न जीवस्य सिद्ध्येदत्र परात्मना।
योगः सज्जायते येन सच्चिदानन्दरूपता ॥ १०७ ॥
अध्यात्मसाधकैर्भाव्यं प्रथमे चरणे त्विह।
तापसैरथ कर्त्तव्यो योगाभ्यासोऽपरे क्रमे ॥ १०८ ॥
समन्विततया चोभौ पादन्यासौ तु कुर्वता।
सम्भाव्या लक्ष्यसम्प्राप्तिः पूर्णतायास्ततः स्वतः ॥ १०९ ॥
तत्र चाद्यतनायां स यात्रायां नारदो मुनिः।
दर्शयामास सर्वं तन्मण्डलं तु मनीषिणाम् ॥ ११० ॥
स्थानानि दिव्यरूपाणि बहून्येवं विधाने तु।
ऋषिभिर्भ्यत्र योगस्य तपसश्च कृतः श्रमः ॥ १११ ॥
तेषां नामानि चैतिह्यं बोधयन्नारदो मुनिः।

तथ्यमेतदवोचच्च मानवः कथमेष तु ॥११२॥

वपुः प्रयोगशालायां तपोयोगसमुद्भवम् ।

प्रखरत्वं समुत्पाद्य देवभूतियुतो भवेत् ॥११३॥

कार्यं तच्च हिमाद्रेस्तु क्षेत्रे वासेन तत्कियत् ।

सरलं जायते नृणां साधनाक्षेत्रगामिनाम् ॥११४॥

टीका—तपस्वी ही योगी बनते हैं। विलास और विकार की गंदगी जब तक बुहारी नहीं जाती, तब तक आत्मा और परमात्मा का योग सधता नहीं, जिससे सच्चिदानंदरूपता की उपलब्धि होती है। अस्तु, अध्यात्म साधकों को प्रथम चरण-तपस्वी बनने का और दूसरा चरण योगाभ्यास करने का उठाना होता है। इसी प्रकार दोनों कदम समन्वित रूप से उठाते हुए पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचना संभव होता है। आज की यात्रा में नारद जी ने मनीषियों की मंडली को ऐसे अनेक स्थान दिखाए, जिनमें ऋषियों ने तपश्चर्या और योग-साधना का प्रबल पुरुषार्थ किया। उनका नाम जताते, इतिहास बताते हुए यह तथ्य समझाया कि काया की प्रयोगशाला में योग-तप की प्रखरता उत्पन्न करके मनुष्य किस प्रकार देवोपम विभूतियों से संपन्न हो सकता है। वह कार्य हिमालय के क्षेत्र में निवास करने पर साधक मनुष्यों को कितना सरल पड़ता है ॥ १०६-११४ ॥

विना शैथिल्यमेवाद्य यात्रेयं पूर्णतां गता ।

योजनाबद्धरूपेण विधाय भ्रमणं तथा ॥ ११५ ॥

दृष्ट्वा सर्वमपि स्वान्तं जातं नैव निरुत्सुकम् ।

अभूदुत्कण्ठितं भूयो ज्ञातुं बोद्धुं मनः पुनः ॥ ११६ ॥

परं विवशता तत्र जाता सूर्यो यतोऽगमत् ।

अस्ताचलं विरामोऽतः प्रवासस्य कृतः समैः ॥ ११७ ॥

देवप्रयागो रामस्य भगवतस्तु तपः स्थलम् ।

लक्ष्मणस्य च कुब्जाम्रतपोभूमेरदूरतः ॥ ११८ ॥

भरतस्यापि विज्ञाय विस्मिताः सर्व एव ते ।

उत्तराखंडमाहात्म्यं मेनिरे परमाद्भुतम् ॥ ११९ ॥

उपयुक्तं नवं स्थानमन्विष्याथ विधाय च ।

विश्रमस्य व्यवस्थां तु निशां तेऽगमन् सुखम् ॥ १२० ॥

टीका—आज की लंबी यात्रा बिना थके पूरी हो गई। योजना भ्रमण कर लेने और बहुत कुछ देख लेने पर भी मन भरा नहीं। अधिक जानने-देखने की उत्कंठा बनी रही, किंतु विवशता थी। सूर्य अस्त हो जाने पर प्रवास को विराम देना पड़ा। देवप्रयाग भगवान राम की तथा (ऋषिकेश से) कुब्जाम्र तीर्थ से थोड़ी दूरी पर स्थित लक्ष्मण झूला-लक्ष्मण की व पास ही भरत की तपस्थली है यह जानकर सभी को आश्चर्य हुआ व उन्होंने उत्तराखंड के माहात्म्य का अद्भुत अनुभव किया। अंततः उपयुक्त स्थान खोजकर सभी ने विश्रामव्यवस्था बनाई और सुखपूर्वक रात्रि बिताई ॥ ११५-१२० ॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीताप्रकरणेन देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युग दर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,

महर्षिनारद - प्रतिपादिते हिमाद्रिहृदयप्रकरणे इति प्रकरणो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

अदृश्यलोक-प्रकरण

पर्यवेक्षणजश्चाद्य प्रवासस्तु हिमालये ।
चतुर्थं दिवसं प्राप्तः स्होन्वे मनीषिणाम् ॥ १ ॥
मण्डलं नव्यज्ञातव्य - प्राप्तौ प्रतिदिनं तु तत् ।
अगात्परममानन्दं जीवनोत्कर्षदायकम् ॥ २ ॥
अग्रिमे दिवसे यच्च प्राप्यते ज्ञानमुत्तमम् ।
प्रतीक्षा तस्य सर्वेषां हृदये तिष्ठति स्म सा ॥ ३ ॥
पूर्वं चतुरता हेतोर्ब्राह्मकालादपि प्रियात् ।
जाग्रति स्म समे प्रश्नान् कुर्वते लिखितान् बहून् ॥ ४ ॥
उपलब्धं भवेद्येन सर्वेषामग्रिमे दिने ।
समाधानं निजेज्ञाने वृद्धिः स्याद् विपुला च सा ॥ ५ ॥
टीका—हिमालय पर्यवेक्षण प्रवास का आज चौथा दिन था। रहस्यान्वेषी मनीषियों की मंडली नित नई जानकारीयाँ मिलने व जीवन में उत्कर्षता आने से बहुत प्रसन्न थी। अगले दिन जो जानने को मिलेगा उसकी प्रतीक्षा सभी के मन में रहती थी। सब लोग ब्रह्म मुहूर्त में पहले ही उठ बैठते और प्रश्नों की बड़ी संख्या एकत्रित कर लेते ताकि अगले दिन उनका समाधान उपलब्ध हो सके व अपने-अपने ज्ञान में विशाल वृद्धि हो सके ॥ १-५ ॥

समाप्ते पूर्व सन्ध्यादौ यथा पूर्वमिहाद्य च ।
विज्ञः स समुदायस्तु नेतृत्वे नारदस्य तु ॥ ६ ॥
पर्यवेक्षितुमत्रत्यां प्रकृतेः सम्पदं तथा ।
क्षेत्रगौरवजं जातो रहस्यं ज्ञातुमुत्सुकः ॥ ७ ॥
चर्मचक्षुषि पश्यन्ति वस्तुनो बाह्यमेव तु ।
स्वरूपं तस्य सत्ता सा महत्ता गरिमाऽपि च ॥ ८ ॥
उपयोगित्वमप्येतच्छक्यते ज्ञातुमुत्तमैः ।
सूक्ष्मेणैव नरैः सर्वैः पर्यवेक्षणकेन तु ॥ ९ ॥
अवलंबनमेतस्यास्तत्त्वदृष्टेश्च मंडलम् ।
स्वीचकाराथ ज्ञातं च सर्ववस्तुगतं रहः ॥ १० ॥
नारदः स्वयमेवात्र प्रारब्धां कृतवांस्ततः ।

चर्चा दिव्येन ज्ञानेन संपन्नः साधुसत्तमः ॥ ११ ॥

टीका—नित्य की भाँति संध्यावन्दन के उपरांत आज भी वह विज्ञ-समुदाय नारद जी के नेतृत्व में प्रकृति संपदा का पर्यवेक्षण करने के साथ-साथ इस क्षेत्र की गरिमा के रहस्य जानना चाह रहा था। चर्म-चक्षुओं से मात्र वस्तुओं के स्वरूप देखे जा सकते हैं, किंतु उसकी सत्ता, महत्ता, गरिमा एवं उपयोगिता समझनी हो तो सूक्ष्म पर्यवेक्षण की आवश्यकता होती है। मंडली को इसी तत्त्व दृष्टि का अवलंबन लेना पड़ रहा था। इसी से उन्होंने वस्तु मात्र के सारे रहस्यों को समझा। साधु-शिरोमणि दिव्यज्ञानी नारद जी ने अपनी ओर से चर्चा आरंभ करते हुए कहा ॥ ६-११ ॥

नारद उवाच—

दृश्यस्य जगतः पृष्ठभूमाविह तु वर्तते ।
अदृश्यं जगदत्यर्थं क्षमं चास्याप्यपेक्षया ॥ १२ ॥
जानन्तीदं च सर्वेऽपि प्राणादीनामभावतः ।
अवकरत्वं शवत्वं च शरीरं याति सुंदरम् ॥ १३ ॥
तुच्छं जानन्ति मृत्पिण्डं जनाः सर्वेऽपि केवलम् ।
परमाणोस्तु विस्फोटे सामर्थ्यं ज्ञायतेऽतुलम् ॥ १४ ॥
यद् व्याप्तमन्तरिक्षेऽत्रासीमिते तत्र केवलम् ।
दृश्यन्ते ग्रहनक्षत्रप्रभृतीन्येव मानवैः ॥ १५ ॥

टीका—नारद जी बोले दृश्य जगत के पीछे एक अदृश्य जगत है। परोक्ष की क्षमता तथा महत्ता प्रत्यक्ष की तुलना में कहीं अधिक है। दृश्य शरीर से, अदृश्य प्राण, आत्मा की सत्ता कितनी मूल्यवान है। प्राण न रहने पर काया मात्र कचरा शव बनकर रह जाती है यह बात सभी जानते हैं। मिट्टी का ढेला तुच्छ है, किंतु उसके सब से छोटे अदृश्य घटक परमाणु की सामर्थ्य का पता विस्फोट होने पर ही चलता है। असीम अंतरिक्ष में जो भरा है, उसमें से ग्रह नक्षत्र जैसी कुछ ही वस्तुएँ दीखती हैं ॥ १२-१५ ॥

वायु सम्पत्तिरेषा या भ्रमति प्राणदायिनी ।

मूल्यमस्या भुवोऽपेक्ष्य मतं बह्वधिकं गुरु ॥ १६ ॥

प्रकृतेश्च प्रवाहस्य तापशब्दप्रकाशजाः ।
तरङ्गद्रष्टुमेते न नेत्रैर्योग्याः कदाचन ॥ १७ ॥
परं विश्वस्य सर्वस्य चेष्टाया उद्गमास्तु ते ।
मन्यन्ते समभूवंस्त आविष्काराः समेऽपि च ॥ १८ ॥
वैज्ञानिका, रहस्येषु प्रकृतेर्बोधितेषु हि ।
पूर्वाभासक्षमत्वं चाज्ञातज्ञाने क्षमोऽभवत् ॥ १९ ॥
क्षमता भौतिकक्षेत्रसंभवा विस्मयान्विताः ।

अध्यात्मपुरुषार्थेन लभ्या या सिद्धयस्तु ताः ॥ २० ॥
टीका—प्राणदायिनी वायुभूत संपदा इतनी मँडराती रहती हैं कि मूल्यांकन करने पर वह पृथ्वी की तुलना में असंख्यों गुना भारी तथा मूल्यवान सिद्ध होती हैं। प्रकृति प्रवाह के ताप, शब्द एवं प्रकाश की तरंगों नेत्रों से दृष्टिगोचर नहीं होती, पर समस्त संसार की हलचलों का उद्गम उन्हीं को माना जाता है। उच्चस्तरीय वैज्ञानिक आविष्कार प्रकृति की रहस्यमयी क्षमताओं को जानने पर ही संभव हो सके हैं। अविज्ञात का पता लगाने में मनुष्य की पूर्वाभास क्षमता ने ही योगदान दिया है। भौतिक क्षेत्र की जिन चकित करने वाली क्षमताओं को अध्यात्म पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त किया जाता है, उन्हें सिद्धियाँ कहते हैं ॥ १६-२० ॥

चेतनायाश्च प्रत्यक्षं कार्यमत्र तु विद्यते ।
शरीरस्यानिवार्यत्वपूर्तिरिव ततश्च सा ॥ २१ ॥
मनइंद्रियजन्यानामाकांक्षाणां कृते सदा ।
यतते कर्तुमस्यैव चिन्तनस्य वशानुगा ॥ २२ ॥
परं बाह्याच्छरीराच्चेदंतर्द्रष्टुं क्षमं भवेत् ।
संभवेत्तर्हि ज्ञातुं यच्छरीरे ग्रंथिषु क्वचित् ॥ २३ ॥
विभिन्नेषु च चक्रेषु भाण्डागाराः सुपूरिताः ।
विद्यन्ते दिव्य शक्तीनां विश्वबीजस्य चास्य तु ॥ २४ ॥

टीका—चेतना का प्रत्यक्ष कार्य शरीर की आवश्यकताओं को पूरा करना मात्र है। इंद्रियजन्य और मनोजन्य आकांक्षाओं के लिए ही वह चिंतक के चिंतनानुसार ताना-बाना बुनती रहती है। किंतु यदि बहिरंग कलेवर से भीतर झाँककर देखा जा सके तो प्रतीत होगा कि ब्रह्मांड वृक्ष के बीज स्वरूप मनुष्य के सूक्ष्म शरीर में चंद ग्रंथियों एवं विभिन्न चक्रों के रूप में दिव्य शक्तियों के भंडार भरे पड़े हैं ॥ २१-२४ ॥

यथालब्धेस्तुतलेदृश्ये दृश्यतेऽवकरः परम् ।
मज्जद्भिर्गहने मर्त्यैः प्राप्यन्ते मणिसंपदः ॥ २५ ॥
तथा शरीरे मर्त्यस्य विपुलास्तु विभूतयः ।
एवं विधास्तु वर्तन्ते यासां भागेऽल्प एव तु ॥ २६ ॥
जाते हस्तगते सिद्धः पुरुषो मन्यते जनः ।
कार्यं तत्कुरुते यत्र सामान्यस्थितिसंभवम् ॥ २७ ॥

टीका—जिस प्रकार समुद्र की ऊपरी सतह में कूड़ा-करकट भर दीखता है, किंतु गहरी डुबकी लगानेपर मणिमुक्त

कों की बहुमूल्य संपदा हाथ लगती है, उसी प्रकार मानवी काया के अंतराल में ऐसी विभूतियाँ भरी पड़ी हैं, जिनका थोड़ा-सा भी भाग हस्तगत होने पर मनुष्य सिद्ध पुरुष माना जाने लगता है और वह ऐसे काम कर सकता है जो सामान्य स्थिति में मनुष्य के लिए कभी संभव नहीं हो पाते ॥ २५-२७ ॥

प्रकृतेस्तु रहस्यानां बोधेनात्र तथैव च ।
अज्ञातानां सुशक्तीनां प्राप्या हस्तगतानि तु ॥ २८ ॥
साफल्यानि च विज्ञान - संभवानि हि संपदः ।
उच्यन्ते पुरुषार्थेन नैवाह्यः केवलं नरः ॥ २९ ॥
प्रकृते रहस्ययुक्तानां शक्तीनां ज्ञातवानसौ ।
उपयोगं समृद्धीनां ततोऽधिष्ठातृतामगात् ॥ ३० ॥
एतासामुपलब्धौ च तस्याऽदृश्यस्य दर्शकः ।
विवेकः सहयोगित्वमगादत्र निरंतरम् ॥ ३१ ॥
जाग्रतं कर्तुमेतं च साफल्यं यो गतो यथा ।
भाग्यवान् स तथैवात्र जातो लोकेऽभिनन्दितः ॥ ३२ ॥

टीका—प्रकृति के रहस्यों को जानने और अविज्ञात शक्तियों को हस्तगत करने से मनुष्य को जो वैज्ञानिक सफलताएँ हस्तगत हुई हैं, उन्हीं को संपदा कहते हैं। मात्र पुरुषार्थ से ही मनुष्य सुसंपन्न नहीं बना है। मात्र पुरुषार्थ से ही मनुष्य सुसंपन्न नहीं बना है। उसने प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियों का उपयोग जाना और तदनुसार चित्र-विचित्र समृद्धियों का अधिष्ठाता बना है। इन उपलब्धियों में उसकी अदृश्यदर्शी सूझबूझ ही सहायक रही है। इसे जागृत करने में जो जितना सफल हो सका, वह उतना ही भाग्यवान बना है व लोक में सम्मान प्राप्त कर पाया है ॥ २८-३२ ॥

स्थानान्यत्र हिमाद्रेः सोऽदर्शयन्तानि नारदः ।
येषु चैतन्य सिन्धुं तु मथित्वा मूल्यवन्ति च ॥ ३३ ॥
रत्नान्यादाय वासं स्वं स्वीचक्रुः सर्व एव च ।
वैज्ञानिका महान्तस्ते प्रकृतिशक्तिपारगाः ॥ ३४ ॥
तेषामेव प्रयासेन तानि सूक्ष्माणि भूतले ।
प्रथमं हस्तगान्यत्र जातान्यथ यदाश्रिता ॥ ३५ ॥
उपलब्धिरसामान्या पदार्थप्रकृत्योद्भयोः ।
क्षेत्रयोरुभयोर्ब्रह्म चैतन्यस्यापि सन्ततम् ॥ ३६ ॥

टीका—नारद जी ने हिमालय में स्थित ऐसे अनेकों स्थान दिखाए, जिनमें चेतना के महासमुद्र का मंथन कर के बहुमूल्य रत्न निकालने वाले प्रकृति शक्ति के पारखी महान वैज्ञानिकों का निवास रहा था। उनके प्रयास से वह सूत्र हस्तगत हुए थे, जिनके सहारे पदार्थ, प्रकृति और ब्रह्मचेतना के दोनों ही क्षेत्रों में असाधारण उपलब्धि बन पड़ी ॥ ३३-३६ ॥

पर्यवेक्षणमेतत् प्रकृतेः सरलं तथा ।
तस्या रहस्ययुक्तानि सर्वाण्यावरणानि च ॥ ३७ ॥

६.१८ प्रज्ञोपनिषद्

बुद्धिमान् पुरुषस्तीक्ष्ण-विवेकस्य निजस्य तु ।
आधारेणाधिगच्छन्ति परं क्षेत्रं तु तन्महत् ॥ ३८ ॥
असीमितमनन्तं चागोचरं ह्यद्भुतं तथा ।
चेतनायास्तु ब्राह्म्या याऽवगाह्या प्रज्ञयैव तु ॥ ३९ ॥
अध्यात्मक्षेत्र - विज्ञान - पंडिता अवगाहनम् ।
कुर्वते त्रिविधानां तु क्षेत्राणां सन्ततं भृशम् ॥ ४० ॥
श्रद्धाप्रज्ञासुनिष्ठानां जायन्तेऽपि ततः समे ।
देवमानवगानां च भूतीनां निधयः स्वयम् ॥ ४१ ॥

टीका—प्रकृति का पर्यवेक्षण सरल है। उसकी रहस्यमयी परतों को बुद्धिमान व्यक्ति अपनी पैनी सूझ-बूझ के आधार पर प्राप्त कर लेते हैं, किंतु ब्राह्मी चेतना का क्षेत्र तो असीम, अनंत, अद्भुत एवं अगोचर है, उसका अवगाहन महाप्रज्ञा द्वारा ही संभव है। अध्यात्म विज्ञानी श्रद्धा प्रज्ञा और निष्ठा के त्रिविध क्षेत्रों का अवगाहन करते हैं और देवमानव स्तर के विभूतिवान बनते हैं ॥ ३७-४१ ॥

नारदोऽदर्शयद्विद्वदर्शनां स्तरगामिनाम् ।
ब्रह्मज्ञानां तु सिद्धानां स्थानान्यत्र निवासिनाम् ॥ ४२ ॥
कथं ते किमकार्षुश्च व्यधाद् व्याख्यामिमां स्फुटम् ।
अवोचच्च दिनेष्वेवं तेषु चात्मविदस्तु ते ॥ ४३ ॥
भूमेर्गौरवमस्यास्तु वर्द्धयन्ति स्म संततम् ।
सत्पात्रेभ्यो ददत्येव विद्यां तां लोकमंगलाम् ॥ ४४ ॥
निगमागमनान्नाऽथ योगतंत्रेति वा पुनः ।
रहोविभूतयस्त्वेताः प्रसिद्धानि महीतले ॥ ४५ ॥

टीका—नारद जी इस स्तर के दिव्यदर्शी ब्रह्मपरायण महासिद्धों के अनेक निवास स्थान दिखाए। उनमें किस प्रकार क्या किया, इसका विवरण सुनाया और कहा कि उन दिनों आत्मविज्ञानी इस भूमि की गरिमा को उस विद्या की शिक्षा देते थे। आगम और निगम योग और तंत्र इन्हीं रहस्यमयी विभूतियों के नाम हैं ॥ ४२-४५ ॥

संबोधयन् स जिज्ञासून् यथापूर्वं विवेचनम् ।
व्यधात्प्रारब्धमेवैतत्प्रकृतिज्ञान - बोधकम् ॥ ४६ ॥
प्रत्यक्षं जगादेषोऽत्र भूलोको दृश्य एव यः ।
इंद्रियग्राह्य एवं चानेके लोकास्तथापरे ॥ ४७ ॥
परलोका निगद्यन्ते वासा ये चाशरीरिणाम् ।
त्रिलोक्यन्तर्गताः सर्वे स्थूल दृष्टेरगोचराः ॥ ४८ ॥
जन्ममृत्योरन्तरे च तत्रात्मानो वसन्ति तु ।
तेषामेव विभागौ च नरकः स्वर्ग एव च ॥ ४९ ॥

टीका—जिज्ञासुओं को संबोधित करते हुए देवर्षि नारद ने प्रकृति ज्ञान के बोधक अपने विवेचन को जारी रखते हुए फिर कहा। प्रत्यक्ष जगत भूलोक है। यह दृश्यमान और इंद्रियगम्य है। ऐसे ही अन्य अनेक लोक हैं जिन्हें परलोक कहते हैं। इसमें अशरीरी आत्माओं का निवास है। ये त्रिलोकी

के अंदर ही है जो स्थूल दृष्टि से आग्राह्य है। जन्म और मरण के मध्यांतर में आत्माएँ इन्हीं में से किसी में रहती हैं। स्वर्ग-नरक उन्हीं के विभाजन हैं। ४६-४९ ॥

आत्मानः केचनात्रैव भाविकार्यविधेरथ ।
निर्धारण - प्रतीक्षायां विश्रमन्ति निरंतरम् ॥ ५० ॥
परिकरत्वे विशिष्टे च नियन्तुः सन्ति केचन ।
प्रयोजनेभ्य एवाति विशिष्टेभ्यः सुरक्षिताः ॥ ५१ ॥
जीवन्मुक्ता इमे सर्वेऽप्युच्यन्ते देववर्गगाः ।
आत्मानः सृष्टि-संस्थायामदृश्याः सन्ति संरताः ॥ ५२ ॥
सत्पात्राण्यभियान्येते साहाय्यार्थमयाचिताः ।
दुष्टतां च पराजेतुं तेषां योगस्तु विद्यते ॥ ५३ ॥
शरीरिणामिवैतेषां कार्याण्यत्राशरीरिणाम् ।
भवन्ति सत्ता सूक्ष्मा च सामान्यानामपेक्षया ॥ ५४ ॥
नृणामधिकसामर्थ्यमुक्ता सा द्रुतगामिनी ।
व्यापिकाऽस्ति लभन्ते च नरा एभिः सहायताम् ॥ ५५ ॥
पूर्वाभासमनेके च लभन्ते च नरा इह ।
मुच्यन्ते संकटेभ्यश्च तथोत्कर्षं भजन्त्यपि ॥ ५६ ॥

टीका—कुछ आत्माएँ भावी कार्य निर्धारण की प्रतीक्षा में विश्राम करती रहती हैं। कुछ नियंता के विशिष्ट परिकर में विशिष्ट प्रयोजनों के लिए सुरक्षित रहती हैं, इन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं। देवता वर्ग की आत्माएँ सृष्टि के सुसंचालन में अदृश्य रूप से संलग्न रहती हैं। सत्पात्रों के पास अयाचित सहायता के लिए दौड़ जाती हैं। दुष्टता को परास्त करने में भी उनका योगदान रहता है। अशरीरी होते हुए भी इनके क्रियाकलाप शरीरधारियों जैसे होते हैं। इनकी सूक्ष्म सत्ता सामान्य मनुष्यों की पात्रता के अनुरूप उनका अविज्ञात सहयोग मिलता रहता है। कितनों को ही वे ऐसे पूर्वाभास कराती हैं, जिससे संकट से बचा जा सके और उत्कर्ष का अप्रत्याशित सुयोग मिल सके ॥ ५०-५६ ॥

भूलोकेन सम्बद्धं प्रकृतेरेकमस्ति तत् ।
प्रतिविश्वं च लोकाद् यद् विपरीतं हि विद्यते ॥ ५७ ॥
प्रतिगामिभिरेवादः पदार्थैरिव संभृतम् ।
द्वयोः समन्वयेनैव सृष्टिसन्तुलनं स्थितम् ॥ ५८ ॥
छिद्रमस्यां व्यवस्थायां यदि सञ्जायते क्वचित् ।
भवेद् विपर्ययः कोऽपि प्रलयो वा लघुर्महान् ॥ ५९ ॥
ईदृश्यः स्थितयः प्रायो जायन्ते मानवैर्यदि ।
गृह्यन्तेऽभीप्सिता लोके विधयः प्राणिकष्टदा ॥ ६० ॥

टीका—इस भूलोक से सटा हुआ एक विपरीत प्रकृति का प्रतिविश्व भी है। उसमें प्रति पदार्थ भरा है। दोनों के समन्वय से सृष्टि संतुलन बना है। यदि इस व्यवस्था में कहीं छिद्र पड़ जाए या विपर्यय चल पड़े तो फिर समझना चाहिए कि महाप्रलय या खंड प्रलय जैसा संकट आ खड़ा होगा।

ऐसी विपत्ति भरी परिस्थितियाँ मनुष्यों द्वारा अपनाई गई अवांछनीय प्राणिमात्र विरोधी गतिविधियों द्वारा उत्पन्न होती हैं ॥ ५७-६० ॥

महत्त्वं सम्पदः सर्वे जानन्त्येव नरास्तथा ।
वपुःशक्तिं बुद्धिशक्तिं शस्त्रशक्तिं तथैव च ॥ ६१ ॥
संघशक्तिं विजानन्ति मानवाः सर्व एव च ।
आत्मशक्तिस्तु सर्वेभ्यः श्रेष्ठा प्रोक्ता बुधैरिह ॥ ६२ ॥
तयाधिपत्यं लोकेऽस्मिन् प्रकृतौ कर्तुमञ्जसा ।
संभवेच्चेतनस्यात्र स्तर एतादृशश्च सः ॥ ६३ ॥
परिष्कृतो विधातुं च संभवोऽस्ति यतः स्वयम् ।
स हि स्रष्टेव स्यात्सर्वशक्तिमानात्मभूर्विभुः ॥ ६४ ॥
प्रसुप्तं जाग्रतं कर्तुं विधिर्यः साधनाऽस्ति सा ।
मानवो निर्मितः स्रष्टा युवराजो निजो महान् ॥ ६५ ॥
दायित्वं तच्च निर्वोदुं शक्तिस्तु विपुलाऽपि सा ।
बीजरूपे प्रदत्ता यां कुर्यात्सुफलतां नरः ॥ ६६ ॥

टीका—संपदा का महत्व सभी जानते हैं। शरीर बल, बुद्धि बल, शस्त्र-बल, संघ-बल आदि से भी सब परिचित हैं। इन सबसे बड़ा आत्मबल है। उसके द्वारा प्रकृति पर आधिपत्य पाया जा सकता है और चेतना को इस स्तर तक परिष्कृत किया जा सकता है कि वह स्रष्टा की भाँति सर्वशक्ति मान स्वयंभू बन सके। प्रसुप्त को जागृत करने की विधा को ही साधना कहते हैं। मनुष्य को स्रष्टा ने अपना महान उत्तराधिकारी युवराज बनाया है और उस उत्तरदायित्व का भली प्रकार निर्वाह कर सकने जैसा शक्ति भंडार उसे बीज रूप में प्रदान किया है। उसे अंकुरित और फलित करना मनुष्य का काम है ॥ ६१-६६ ॥

सीमितं दृश्यपर्यन्तं यत्तत्तुच्छं तु वर्तते ।
अदृश्यविस्तरं यस्तु वैभवं ज्ञातवानुत ॥ ६७ ॥
प्रविष्टस्तत्र तस्माच्च भांडागाराद्गृहीतवान् ।
किञ्चित्स ज्ञायतां जातो महानैवात्र संशयः ॥ ६८ ॥
महत्ता प्राप्तये दृष्टिरुदात्ता हृदयं महत् ।
विश्वासः साहसं गन्तुमपेक्ष्यन्तेऽपि चैकतः ॥ ६९ ॥
महामानवसंज्ञानां चिन्तनं चरितं महत् ।
तथैव व्यवहारश्च निर्धारणमथापि वा ॥ ७० ॥
तत्स्तरं स्पृशति प्रोच्यं महत्तायां तु न्यक्कृतम् ।
सम्पन्नत्वं भवेदेव श्रेष्ठा सा भुवि सर्वतः ॥ ७१ ॥

टीका—जो दृश्य तक सीमित है वह तुच्छ है। जिसने अदृश्य का विस्तार वैभव समझा, उस क्षेत्र में प्रवेश किया, उस भंडार में से कुछ समेटा-बटोरा, समझना चाहिए वह महान बन गया। महानता की प्राप्ति के लिए उदात्त दृष्टिकोण, विशाल हृदय और एकाकी चल पड़ने योग्य साहस तथा विश्वास चाहिए। महामानवों का चिंतन, चरित्र, व्यवहार,

रुझान, निर्धारण इसी स्तर का होता है। महानता पर संपन्नता को न्योछावर किया जा सकता है। महानता सर्वश्रेष्ठ है ॥ ६७-७१ ॥

आदौ शब्दः समुत्पन्नः सृष्टेरस्या महानयम् ।
ततस्तयोश्च संहत्या लोके ताप - प्रकाशयोः ॥ ७२ ॥
शक्तिस्त्रोतांसि जातानि विविधानि ततोऽभितः ।
पञ्चप्राणादयः पञ्चतत्त्वान्युत्पन्नतां ययुः ॥ ७३ ॥
सृष्टिरेषा समुत्पन्ना तेषां योगेन विस्तृता ।
मूलं प्रकृतेः शब्दोऽस्ति य ओंकार इहोदितः ॥ ७४ ॥
स्रष्टुरिच्छानुसारं च बहुधा भवितुः स्वतः ।
ध्वनिप्रवाहरूपेऽग्रे वैखरीं समुपागतः ॥ ७५ ॥
नादशब्दौ बुधा यच्च ब्रह्मलोके वदन्ति ते ।
सर्वोपरि च सामर्थ्यमेतस्यास्ति महत्त्वगम् ॥ ७६ ॥

टीका—सृष्टि के आदि में शब्द उत्पन्न हुआ। उससे ताप और प्रकाश की संहति से शक्ति के कितने ही स्रोत उमड़े और पाँच प्राण तथा पंचतत्त्व विनिर्मित हुए। समस्त सृष्टि उन्हीं के सहयोग-समन्वय से उत्पन्न हुई है। प्रकृति का मूल शब्द है। स्रष्टा की इच्छा शक्ति जब एक से बहुत बनने के लिए अग्रसर हुई तो सर्वप्रथम उसका प्रकटीकरण ओंकार शब्द के ध्वनि-प्रवाह में बैखरी रूप से परिलक्षित हुआ। यह शब्द ही नाद ब्रह्म और शब्द ब्रह्म है। उसकी सामर्थ्य सर्वोपरि है ॥ ७२-७६ ॥

जीविताः प्राणिनस्तस्य सहयोगेन भावनाः ।
स्वकीया व्यञ्जयन्त्यत्र सहयोगस्य संततम् ॥ ७७ ॥
मार्गं प्रशस्तं कुर्वन्ति दानादानगतं तथा ।
व्यष्टेरथ समष्टेश्च गतौ वा प्रगतावपि ॥ ७८ ॥
शब्दस्य योगदानं तदति सर्वं हि मन्यते ।
ज्ञानविज्ञानयोस्तारतम्यं चलति तच्छ्रुतम् ॥ ७९ ॥
टीका—जीवित प्राणी इसी के आधार पर अपनी भावनाएँ व्यक्त करते और सहयोग का आदान-प्रदान का पथ प्रशस्त करते हैं। समष्टि और व्यष्टि की सामान्य गति और विशेष प्रगति में शब्द का योगदान सर्वोपरि माना जाता है। ज्ञान और विज्ञान का तारतम्य उसी के सहारे चल रहा है ॥ ७७-७९ ॥

ऋषयो नादब्रह्माथ शब्दब्रह्माप्युपास्य वा ।
विभूतीरर्जयामासुरध्यात्म - क्षेत्रजा भृशाः ॥ ८० ॥
सामर्थ्यमिदमाश्रित्य विश्वकल्याणं तथा ।
आत्मकल्याणं चेमे प्रशस्तां पद्धतिं व्यधुः ॥ ८१ ॥
ज्ञानचर्चा विधावत्र सत्संगेऽथ प्रशिक्षणे ।
उच्चारणं यदस्त्येतच्छब्द - ब्रह्मोदमुच्यते ॥ ८२ ॥
नामरूपाश्रितं ध्यानं क्रियते स्वरतालगः ।
ध्वनिप्रवाह एवात्र नादयोगोऽभिधीयते ॥ ८३ ॥
उपयुज्जत एनं च विकासेऽन्तर्गते बुधाः ।

६.२० प्रज्ञोपनिषद्

तत्त्वदर्शिन आत्मज्ञाः प्रकृतिज्ञान पारगाः ॥ ८४ ॥

टीका—ऋषियों ने शब्द-ब्रह्म और नाद-ब्रह्म की उपासना से अध्यात्म क्षेत्र की अनेकानेक विभूतियाँ अर्जित की। उस सामर्थ्य के सहारे आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण का पथ-प्रशस्त किया। ज्ञान-चर्चा सत्संग और प्रशिक्षण की विधा में उच्चारण का प्रयोग होता है। यह शब्द-ब्रह्म है। ध्यान में नाम, रूप का आश्रय लिया जाता है। स्वरताल-बद्ध ध्वनि प्रवाह को नादयोग कहते हैं। आंतरिक विकास में उसका उपयोग प्रकृति विज्ञान के पारखी आत्मज्ञ तत्त्वदर्शी किया करते हैं ॥ ८०-८४ ॥

टीका—ऋषियों ने शब्द-ब्रह्म और नाद-ब्रह्म की उपासना से अध्यात्म क्षेत्र की अनेकानेक विभूतियाँ अर्जित की। उस सामर्थ्य के सहारे आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण का पथ-प्रशस्त किया। ज्ञान-चर्चा सत्संग और प्रशिक्षण की विधा में उच्चारण का प्रयोग होता है। यह शब्द-ब्रह्म है। ध्यान में नाम, रूप का आश्रय लिया जाता है। स्वरताल बद्ध ध्वनि प्रवाह को नादयोग कहते हैं। आंतरिक विकास में उसका प्रकृति विज्ञान के पारखी आत्मज्ञ तत्त्वदर्शी करते हैं ॥ ८०-८४ ॥

परिष्कृतेन चित्तेन चरित्रेणाथ मानवाः ।

परिष्कृताभ्यामाहार - विहाराभ्यां च सर्वदा ॥ ८५ ॥

पाठेनाथ जपेनापि स्वर - साधनया पुनः ।

कुर्वते मंत्रसिद्धिं च विश्वकल्याण - कारिकाम् ॥ ८६ ॥

अस्त्यसाधारण - शक्तिर्मन्त्रे यस्य प्रभावतः ।

स्थितिर्वातावृत्तिर्व्यक्तिः परिवर्तन्त एव तु ॥ ८७ ॥

मंत्रसिद्धिरथैषा च वाक्सिद्धिर्नापरामता ।

भौतिकाध्यात्मकार्याणि यया सिद्ध्यन्ति चाञ्जसा ॥ ८८ ॥

टीका—परिष्कृत अंतःकरण परिष्कृत चरित्र और परिष्कृत आहार-विहार वाले मनुष्य जप, पाठ और स्वर साधना द्वारा विश्वकल्याण कारक मंत्र सिद्धि करते हैं। मंत्र में असाधारण शक्ति है। उसके प्रभाव से व्यक्ति, परिस्थिति और वातावरण को बदला जाता है। वाक् सिद्धि और मंत्र सिद्धि एक ही बात है। उससे भौतिक और आत्मिक दोनों ही क्षेत्रों के अनेकानेक प्रयोजन सिद्ध होते हैं ॥ ८५-८८ ॥

वाचः सिद्धिः कृता यैस्तु शापैरथ वरैर्निजैः ।

तैः समर्थं विधातुं तद्धर्मं दूरयितुं तथा ॥ ८९ ॥

अधर्म भूमिका दिव्या निरूढा संयतात्मभिः ।

मंत्रशक्त्युपयोगोऽस्ति धर्मकृत्येषु स महान् ॥ ९० ॥

तस्मादेव च हेतोस्तु फलन्त्येतानि पूर्णतः ।

अन्यथा यज्ञपूजादिस्तुतयः सामगीतयः ॥ ९१ ॥

नैव महत्त्वमायान्ति यथोक्तं तु पदे पदे ।

मन्त्रे महत्ता या गीता शब्दोच्चारणजा बुधैः ॥ ९२ ॥

विधिश्चिता ततो वक्तुर्व्यक्तित्वस्याधिका मता ।

साधकैः संयमोऽपेक्ष्यः कर्मकांड - गतैरपि ॥ ९३ ॥

सीमितं सुविचार्यैव वक्तुमभ्यास इष्यते ।

आहारसंयमश्चास्य कृते प्रोक्तोऽनिवार्यतः ॥ ९४ ॥

संयतस्य च वागेषा रामबाण इव स्वतः ।

लक्ष्यं विध्यति यन्त्रेभ्योऽधिका शक्तिश्च मंत्रजा ॥ ९५ ॥

ऋषिष्वनेके निष्णाता मंत्रविद्या विधाविह ।

साधनायाः स्थलान्येष दर्शयामास मंडलम् ॥ ९६ ॥

टीका—जिनने वाणी सिद्ध की थी, आत्मसंयमी उनने अपने शाप वरदान से धर्म को समर्थ बनाने और अधर्म को निरस्त करने की महती भूमिका संपन्न की। धर्मानुष्ठानों में मंत्र शक्ति का असाधारण उपयोग है। उन्हीं के कारण वे फलित होते हैं अन्यथा यज्ञ, पूजा-उपचार, स्तवन, सामगान आदि का वैसा महत्त्व नहीं रहता जैसा कि बताया गया है। मंत्र में विधिवत शब्दोच्चार की जितनी महत्ता है उससे भी अधिक उच्चारणकर्ता के व्यक्तित्व की है। मंत्र साधक को मंत्र साधना के लिए उच्चारणपरक कर्मकांडों की तरह वाक् संयम भी अपनाना होता है। वचन सीमित और सोच-समझकर बोलने का अभ्यास करना होता है। इस प्रयोजन के लिए आहार संयम नितांत आवश्यक है। संयमी की वाणी ही रामबाण की तरह लक्ष्य वेधती है। यंत्रों से भी बड़ी शक्ति मंत्रों में मानी गई है। ऋषियों में से अनेक मंत्र विद्या के निष्णात थे। उनके अनेकों साधना स्थल इस मंडली को नारद जी ने दिखाए ॥ ८९-९६ ॥

ऊर्ध्वमहामर्त्याः कियन्तो जगतश्च किम् ।

हितमेभिः कृतं लोकेऽनुसंधानैरुपार्जनैः ॥ ९७ ॥

इति विस्तरशः प्रोक्तं नारदेन महर्षिणा ।

यतः स पूर्वमेभिस्तु संगतोऽनेकशो मुनिः ॥ ९८ ॥

शृण्वन्तः सर्व एवात्र मंडलस्था व्यचारयन् ।

परंपराः पुराणास्ता नव्यकालानुरूपतः ॥ ९९ ॥

नवीनेन प्रकारेण कर्तुं सर्वाश्च जीविताः ।

पुरुषार्थस्तथाऽस्माभिः कार्य आर्षो यथा ह्यभूत् ॥ १०० ॥

स्वयं धन्यास्तु ते जाता गौरवं च हिमालयः ।

देवात्मनो गतस्तेषां कृपया गौरवेण च ॥ १०१ ॥

टीका—हिमालय के क्षेत्र में कितने महामानवों ने निवास किया और उनके अनुसंधानों उपार्जनो ने संसार का क्या क्या हित साधन किया इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया, चूँकि वह उनसे अनेक बार पहले मिले थे। श्रवण करते हुए उस यात्रा मंडली में से प्रत्येक ने सोचा उन पुरातन परंपराओं को नए समय के अनुरूप नए सिरे से जीवंत करने के लिए हमें वैसा ही पुरुषार्थ करना चाहिए जैसा कि पुरातन काल के ऋषियों ने किया। वे स्वयं धन्य हुए और हिमालय को देवात्मा

कहे जाने का गौरव दिलाया ॥ ९७-१०१ ॥
यात्रा पूर्णा यथापूर्वमद्य सोत्साहमुत्तमा।
अतिवाहयितुं रात्रियोग्यमन्वेषितं स्थलम् ॥ १०२ ॥
कंदमूलानि मार्गेषु यान्याप्तानि मुनीश्वरैः।
खादित्वा कृतसन्ध्यैश्च शयितं सुखपूर्वकम् ॥ १०३ ॥

टीका—आज भी कल की ही तरह यात्रा अतीव उत्साह के साथ पूर्ण हुई। रात्रि बिताने के लिए उपयुक्त स्थान खोज निकाला गया। रास्ते में जहाँ-तहाँ से कंदमूल लोग समेटते गए थे। संध्या-वंदन कर के उसी से पेट भरे और संतोषपूर्वक शयन किया ॥ १०२-१०३ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युग दर्शन युग साधना प्रकटीकरणयोः,
अदृश्यलोक - प्रकरण इति प्रकरणो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

यज्ञविज्ञान-वनस्पतिविज्ञान-प्रकरण

पञ्चमो दिवसोऽद्याभूत्प्रवासस्य हिमालये।
हिमालयरहस्यानि देवर्षेमार्गदर्शने ॥ १ ॥
मण्डलं ब्रह्मवेतृणामृषीणां पर्यवेक्षणम्।
विदधत्क्षेत्रयात्राया आनन्दं परमं ययुः ॥ २ ॥
दृश्यं नेत्रैस्तु संदृष्टं केवलं कौतुकं नृणाम्।
समाधत्ते परं तेन भावनाश्च विचारणाः ॥ ३ ॥
संयुज्यन्ते सदा दिव्यदर्शनं तत्तदोच्यते।
संक्षिप्तं नाम चास्यैव दर्शनं सन्निगद्यते ॥ ४ ॥
ऋषीणां देवमूर्तीनां दर्शनस्यैवमेव हि।
माहात्म्यं कथितं लोके विद्वद्भिस्तत्त्व पारगैः ॥ ५ ॥
अन्यथा नयनैर्मार्गमाकृतिर्दृश्यते तु सा।
छविस्मरण - मात्रस्य सिद्ध्यत्यत्र प्रयोजनम् ॥ ६ ॥
प्रेरणा प्राप्तये त्वत्र नूनमावश्यकं मतम्।
दृश्यानां गौरवं चोच्चस्तराणां तु रहस्यगम् ॥ ७ ॥
ज्ञायेतैर्भिश्च तादात्म्य भावनास्याच्च निर्मिता।
अतोऽन्यूनेन सिद्धं स्याददर्शनस्य प्रयोजनम् ॥ ८ ॥
टीका—आज प्रवास का पंचम दिन था। देवर्षि नारद के मार्गदर्शन में हिमालय के रहस्यों का पर्यवेक्षण करती हुई ब्रह्मवेत्ताओं की मंडली उस क्षेत्र के पर्यटन का आनंद ले रही थी। मात्र नेत्रों से देखा गया दृश्य तो मात्र कौतूहल का समाधान करता है। उसके साथ जब विचारणाएँ व भावनाएँ जुड़ जाती हैं तब उसे दिव्य दर्शन कहते हैं। इसी का संक्षिप्त नाम दर्शन है। देव प्रतिमाओं एवं ऋषियों का ऐसा ही दर्शन करने का माहात्म्य तत्त्वज्ञ विद्वानों ने कहा है। अन्यथा आँखों से देखने पर तो आकृति भर दीखती है। उससे तो छवि स्मरण आने जितना ही प्रयोजन भर सधता है। प्रेरणा प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि उच्चस्तरीय दृश्यमानों की रहस्यमयी गरिमा समझी जाए और साथ ही उसके साथ तादात्म्य होने की

भावना बनाई जाए। इससे कम में दर्शन का महान प्रयोजन सधता नहीं ॥ १-८ ॥

मनीषिमण्डलं तच्च रहस्यं नारदो मुनिः।
बोधयंस्तदृषीणां च स्थानान्येवं क्रिया अपि ॥ ९ ॥
दर्शयन्नग्रतोऽगात्स येषां हेतोर्हिमालयः।
जडोऽपि जातः श्रद्धेयो देवश्चैतन्य सम्भृतः ॥ १० ॥

टीका—नारद जी मनीषि मंडल को यह रहस्य बताते हुए उन ऋषियों के स्थानों एवं क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन कराते चल रहे थे जिनके कारण हिमालय का जड़ दिखने वाला क्षेत्र चैतन्य देवता जैसा श्रद्धास्पद एवं सामर्थ्यवान बना ॥ ९-१० ॥

पञ्चमे दिवसे चाद्य दर्शयामास नारदः।
कार्यक्षेत्राणि सर्वेषामृषीणां यत्र संततम् ॥ ११ ॥
अनुसंधानकर्म्मेषां वनस्पति - विधावगात्।
शारीरं मानुषं चास्ति वनस्पतिसमुद्भवम् ॥ १२ ॥
मांसपिण्डमिदं सर्वे वदन्येव तथैव च।
मांसं रूपान्तरं नूनमाहारस्यैव वर्तते ॥ १३ ॥
आहारो जीवनस्योक्तं प्रमुखं साधनं तथा।
आहारस्यानुकूलश्च वपुश्चित्तस्तरो भवेत् ॥ १४ ॥
यत्स्तरं वपुरिष्टं स्यात्तथाऽऽहार - व्यवस्थितिः।
विधातव्या तथा येषां विशेषरससंभृताम् ॥ १५ ॥
पदार्थानामिहाधिव्यान्यूनतायाश्च कारणात्।
कायसन्तुलनं नृणां प्रायस्तद् व्यतिगच्छति ॥ १६ ॥
तत्पूर्तयेऽनुरूपेण शुद्धाहारेण, तद् भवेत्।
परिवर्तनमप्यत्र परिवर्द्धनमुत्तमम् ॥ १७ ॥

टीका—आज पाँचवें दिन नारद जी ने उन ऋषियों के कार्यक्षेत्र दिखाए जिनमें वनस्पतियों के संबंध में उनका अनुसंधान कार्य चला था। मनुष्य शरीर भी वनस्पतियों की ही उत्पत्ति है। उसे मांस पिंड कहा जाता है और मांस आहार का ही रूपांतरण है। आहार को जीवन का प्रमुख साधन कहा गया

६.२२ प्रज्ञोपनिषद्

है। शरीर और मन का स्तर वैसा ही बनता है जैसा आहार ग्रहण किया जाता है। अस्तु जिस स्तर का भी उन्हें बनाना अभीष्ट हो, वैसे ही आहार का प्रबंध करना चाहिए। जिन रासायनिक पदार्थों की न्यूनाधिकता से काय-संतुलन प्रायः गड़बड़ाता है उनकी पूर्ति के लिए तदनु रूप आहार से परिवर्तन अभिवर्द्धन किया जाना चाहिए ॥ १२-१७ ॥

विद्यात्वाहार संबद्धा मानवोत्कर्षबोधकम्।

अंगजीवनविज्ञानसम्बद्धं तु महत्त्वगम् ॥ १८ ॥

ऋषिभिश्चात्रसन्दर्भं त्वनुसन्धितमुत्तमम्।

गहनं प्रस्तुतं यच्च सर्वसाधारणस्य तत् ॥ १९ ॥

सम्मुखे व्रतचर्चाभिः खाद्याखाद्य विवेचनैः।

अयं विधिस्तु यैर्मर्यैः स्वीकृतो दीर्घजीविनः ॥ २० ॥

नीरोगा अपि ते जाता उपयोगं व्यधुः शुभम्।

स्वास्थ्यसम्पद आप्ताया स्थितिस्तेषां तथेदुशी ॥ २१ ॥

टीका—आहार विद्या जीवन विज्ञान का मानवोत्कर्ष-बोधक अति महत्त्वपूर्ण अंग है। ऋषियों ने इस संदर्भ में गहरी खोजें कीं और सर्व साधारण के सम्मुख व्रतों व औषधियों व खाद्याखाद्य विवेचनों के रूप में प्रस्तुत की। यह विधान अनुशासन जिनने सीखा अपनाया, वे निरोग रहे, दीर्घजीवी बने और उपलब्ध स्वास्थ्य संपदा का श्रेष्ठतम सदुपयोग कर सकने की परिस्थितियों में रहे ॥ १८-२१ ॥

यदा स्वास्थ्य - विधेयत्र व्यतिगामितया नरः।

आधिव्याधिभिराक्रांतो जायतेऽत्र तदा सदा ॥ २२ ॥

असन्तुलनमत्रैतत्कर्तुं सन्तुलनस्थितम्।

औषधीनां तु वन्यानामाश्रयो गृह्यते नरैः ॥ २३ ॥

उचितः सरलश्चैष चिकित्साधार उत्तमः।

विधिष्वन्येषु लाभोऽल्पो हानिश्च विपुला मता ॥ २४ ॥

चरकः सुश्रुतश्चक्रदत्तः शाङ्गधरस्तथा।

वाग्भट्टः स तथैवान्ये तत्त्वज्ञानविदांश्चिरम् ॥ २५ ॥

अन्विष्य गहनं वन्याः सर्वेऽप्यौषधयस्तु तैः।

अन्वेषिताः शरीरस्य मनसो ये च कुर्वते ॥ २६ ॥

असन्तुलनमत्रैतत्पूर्णतः सुव्यवस्थितम्।

विषाक्तत्वं विजातीय द्रव्यजं सारयन्त्यलम् ॥ २७ ॥

तत्त्वानां न्यूनता येषां जायते पूरयन्ति तत्।

क्षेत्रजानां क्षेत्रजानि वस्तून्नुगुतान्यलम् ॥ २८ ॥

स्वकीयक्षेत्रसम्भूता वनौषधय उत्तमाः।

खाद्याः पदार्थाः सर्वेषामुपयोगाय सम्मताः ॥ २९ ॥

टीका—जब भी स्वास्थ्य अनुशासन के व्यतिरेक से आधि-व्याधियों में उलझना पड़ता है तब उस असंतुलन को संतुलन में बदलने के लिए वनौषधियों का आश्रय लिया जाता है। चिकित्सा का यही सरल और सही आधार है। अन्य उपाय अपनाने पर लाभ कम और हानि अधिक है। चरक,

सुश्रुत, वाग्भट्ट, चक्रदत्त, शार्ङ्गधर आदि तत्त्वज्ञानियों ने लंबे समय तक गहरी खोजें की और उन वनौषधियों को खोज निकाला जो शारीरिक और मानसिक असंतुलन को ठीक करती है, विजातीय द्रव्यों की विषाक्तता को निकाल फेंकती हैं। जिन तत्वों की कमी पड़ जाती है, उनकी पूर्ति करती हैं। जो प्राणी जिस क्षेत्र में जन्मते हैं, उन्हीं वहाँ की उपजी हुई खाद्य वस्तुएँ अनुकूल पड़ती हैं। अस्तु यथासंभव अपने क्षेत्र में उत्पन्न हुए खाद्य पदार्थों और वनौषधियों के उपयोग का विधान है ॥ २२-२९ ॥

एकस्मिन् समये चैकं पदार्थं लब्धुमामतम्।

हितकारकमत्यर्थं बहूनां मिश्रणेन तु ॥ ३० ॥

मौलिकास्ते गुणास्तेषां समेषां व्यतियान्त्यपि।

तत्तत्खाद्यैरपेक्ष्यं च लाभं नाप्तुं नरोऽर्हति ॥ ३१ ॥

आहारकल्पे चैकस्य वस्तुनः सेवनं मतम्।

औषधीनां च सम्बन्धे व्यवस्थैषैव वर्तते ॥ ३२ ॥

सम्मिश्रणं यथान्यूनं भवेत्तु तथोत्तमम्।

रक्षितं मौलिकत्वं स्याद् वर्गाणां प्रायशो यथा ॥ ३३ ॥

सम्मिश्रण - समुत्पन्नं संकरत्वं यदस्ति तत्।

आकर्षकं तथोत्तेजकमारंभे प्रतीयते ॥ ३४ ॥

परं कालान्तरे हानिरस्मात्संजायते तु सा।

अनुभवस्य च सारोऽयं वनस्पतिविदामिह ॥ ३५ ॥

प्रवासाभिरतं विद्वन्मण्डलं पर्यवेक्षणम्।

कुर्वद् भिन्नेषु भागेषु रहस्यं त्वध्यगादिदम् ॥ ३६ ॥

ततोलाभमवाप्तुं तमन्येभ्यो दातुमप्यलम्।

निश्चयं कृतवन्तस्ते मण्डलस्थाः समेऽपि तु ॥ ३७ ॥

टीका—एक बार में एक ही पदार्थ लेना अधिक हितकर है। कड़्यों को मिला देने से उस सम्मिश्रण से सभी के मौलिक गुण बदल जाते हैं और जिस खाद्य से जो लाभ मिलने की अपेक्षा की गई थी वह मिल नहीं पाता। अस्तु आहार कल्प विधान में एक ही वस्तु का सेवन कराया जाता है। यही बात औषधियों के संबंध में भी है। सम्मिश्रण से जितना बचा जा सके उत्तम है। हर वर्ग की मौलिकता बनी रहनी चाहिए। मिश्रण से जो संकरत्व होता है वह आरंभ में ही आकर्षक—उत्तेजक लगता है। कालांतर में उससे हानि ही होती है। यही है वनस्पति विज्ञानी ऋषियों के अनुभवों का सार संक्षेप। प्रवासरत विद्वान् मंडली ने विभिन्न क्षेत्रों का पर्यवेक्षण करते हुए इस रहस्य को भली प्रकार समझा और उससे लाभ प्राप्त करने तथा कराते रहने का निश्चय किया ॥ ३०-३७ ॥

सन्दर्भेऽस्मिन् स देवर्षिः पक्षं प्राबोधयत्वलम्।

वानस्पत्यस्य विज्ञानस्यास्ति यः सूक्ष्मशक्तिगः ॥ ३८ ॥

असन्तुलतः सूक्ष्मशरीरस्यास्ति रक्षणम्।

पदार्थस्य स्वरूपं तत्कठोरं द्रवमप्यलम् ॥ ३९ ॥

नेत्रैर्द्रष्टुं भवेच्छक्यं वायुभूतं तृतीयकम् ।
 नैवाक्षिगोचरं सूक्ष्मं महाप्राणं महाबलम् ॥ ४० ॥
 जलं हिमस्य रूपे तु कठोरं दृश्यते तथा ।
 प्रवाहे द्रवरूपं च वायुभूतं तु वाष्पके ॥ ४१ ॥
 प्रत्येकस्मिन् पदार्थे च स्थितिरैव विद्यते ।
 नात्र नश्यति किञ्चित्तु केवलं परिवर्तते ॥ ४२ ॥
 गुणास्तदनुसारं च परिवर्तन्त एव ते ।
 न्यूनतामधिगच्छन्ति तथैवाधिकतां क्वचित् ॥ ४३ ॥
 वनस्पतीन् विधातुं च वायुभूतांस्तु वर्तते ।
 विशेषं त्वेकविज्ञानमग्निहोत्रं वदन्ति यत् ॥ ४४ ॥
 वृक्षांस्तु समिधारूपे हविष्ये च वनस्पतीन् ।
 उपयुज्जत एवात्र यज्ञे मंगलकारिणि ॥ ४५ ॥
 सूक्ष्मा शक्तिरुदेत्येषामेवं स्थूलाच्च वर्तते ।
 सूक्ष्मेसामर्थ्यमत्यर्थं जानन्त्येतज्जनाः समे ॥ ४६ ॥

टीका—इसी संदर्भ में देवर्षि ने वनस्पति विज्ञान का वह पक्ष समझाया जिसमें उनकी सूक्ष्म शक्ति का उपयोग किया जाता है और सूक्ष्म शरीर के असंतुलन से त्राण पाया जाता है । पदार्थ के ठोस और द्रव स्वरूप प्रत्यक्ष होने के कारण नेत्रों से देखे जा सकते हैं । तीसरा स्वरूप वायुभूत होता है जो आँखों से दीखता नहीं है । यह सूक्ष्म रूप महाप्राणवान् एवं महाबलशाली है । जल को हिम के रूप में ठोस प्रवाही रूप में द्रव और वाष्प रूप में वायुभूत होते देखा जा सकता है । यही स्थिति हर पदार्थ में है । यहाँ कुछ भी नष्ट नहीं होता, परिस्थितिवश उनमें परिवर्तन होता रहता है । तदनुसार उसके गुण भी बदलते और न्यूनाधिक होते रहते हैं । वनस्पतियों को वायुभूत करने का एक विशेष विज्ञान है जिसे अग्निहोत्र कहते हैं । प्राणिमात्र के लिए मंगलमय इस कार्य में समिधा रूप में और वनस्पतियों को हविष्य बनाया जाता है । इस प्रकार उनकी सूक्ष्म शक्ति उभरती है । स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की सामर्थ्य अत्यधिक होती है, इस तथ्य को सभी जानते हैं ॥ ३८-४६ ॥

अग्निहोत्रे वायुभूतान् निर्मान्यत्र वनस्पतीन् ।
 नासामार्गेण तान् बुद्धौ फुप्फुसे प्रापयन्त्यथ ॥ ४७ ॥
 रक्तस्य माध्यमेनात्र श्वासस्यापि च संभवम् ।
 शरीरे प्रेषितुं तस्मात्तत्कालं जायतेऽञ्जसा ॥ ४८ ॥
 द्रवरूपे कठोरे च सेवितानां तु पाचने ।
 पदार्थानां प्रभावोऽत्र शरीरे जायते सदा ॥ ४९ ॥
 तस्मिन् विधौ मले मूत्रे शक्तिरेषा प्रयात्यपि ।
 विलंबेन प्रभावश्च जायते वपुषि क्रमात् ॥ ५० ॥
 गृहीते त्वग्निहोत्रे च स्वरूपं वायुतां गतम् ।
 वानस्पत्यं सपदयेव मर्मस्थानानि गच्छति ॥ ५१ ॥
 चित्तोपचार दृष्ट्या चाऽमोघोऽयं विधिरुत्तमः ।
 मस्तिष्कस्य समेष्वेव भागेष्वेवं तदञ्जसा ॥ ५२ ॥

औषधिप्रेषणं श्वासमार्गेणैव सुसंभवम् ।

विज्ञानं पृथगेवैतद् गंधस्यास्ति निजं महत् ॥ ५३ ॥

टीका—अग्निहोत्र में वनस्पतियों को वायुभूत किया जाता है । उन्हें नासिका द्वारा मस्तिष्क तथा फेफड़ों में पहुँचाना तथा रक्त और श्वास के माध्यम से समस्त शरीर में तत्काल पहुँचाना संभव होता है । ठोस और द्रव रूप में सेवन किए पदार्थों का प्रभाव पचने पर ही होता है । उस प्रयास में बहुत कुछ मल-मूत्र में निकल जाता है और प्रभाव भी देर में होता है । अग्निहोत्र विद्या को अपनाने पर वनस्पतियों का वायुभूत स्वरूप अतिशीघ्र शरीर के मर्मस्थलों तक पहुँच जाता है । मानसोपचार की दृष्टि से तो यह उपाय अमोघ है क्योंकि मस्तिष्क के हर क्षेत्र में किसी औषधि को पहुँचाना श्वास मार्ग से ही संभव हो सकता है । गंध का अपना अलग विज्ञान है ॥ ४७-५३ ॥

विभिन्नानां च गन्धानां नासया ग्रहणेन तु ।

शारीरिकां स्थितौ भेदो मानसिकां विजायते ॥ ५४ ॥

अग्निहोत्रोपयोगोऽत आधि - व्याधि - विनाशने ।

अस्माद्धेतोर्मतो लोके प्राणिकल्याणकामुकैः ॥ ५५ ॥

अवाञ्छनीयतानां एव नैवापि स महान् ।

गुणः सामर्थ्यवृद्धेः स वर्ततेऽस्मिन् शुभावहः ॥ ५६ ॥

अग्निहोत्रेणत्वग्रौम - कूपैर्योगृह्यते ततः ।

आरोग्यं वर्द्धते यश्च भागः श्वासेन गृह्यते ॥ ५७ ॥

प्रतिक्रिया मनः क्षेत्रे शीघ्रं तस्य तु दृश्यते ।

अग्निहोत्रे पदार्थानां सूक्ष्मशक्तेः शुभोदयः ॥ ५८ ॥

शक्तिपूर्णं तथैवास्या विजृम्भणमपीह च ।

भावना शब्दशक्तिभ्यामिह संभवतः स्वतः ॥ ५९ ॥

टीका—विभिन्न गंधों के नासिका द्वारा ग्रहण करने पर मनुष्य की शारीरिक-मानसिक स्थिति में विशेष प्रकार का अंतर होता है । अग्निहोत्र की उपयोगिता आधि-व्याधियों के निवारण में प्राणिमात्र के हितैषी ऋषियों ने इसी कारण मानी गई है । उसमें अवाञ्छनीयता निवारण का ही नहीं, समर्थता-अभिवर्द्धन का भी महान गुण है । अग्निहोत्र के माध्यम से त्वचा के रोमकूपों द्वारा जो ग्रहण किया जाता है वह आरोग्य बढ़ता है और जो भाग श्वास द्वारा ग्रहण किया जाता है, उसकी प्रतिक्रिया मनःक्षेत्र पर जल्दी ही दृष्टिगोचर होती है । अग्निहोत्र में पदार्थों की सूक्ष्म शक्ति का प्रकटीकरण व शक्ति पूर्ण विजृम्भण (फैलाव) भावना एवं शब्दशक्ति का समावेश होने पर ही संभव होता है ॥ ५४-५९ ॥

प्रयोज्या ये पदार्थास्ते विशेषविधिना समे ।

प्रखरा अपि पूताश्च विधीयन्ते विधानगैः ॥ ६० ॥

आधारेण च तेनैव सामान्या अपि ते ततः ।

असामान्यास्तु जायन्ते पदार्थाः पूर्णतः समे ॥ ६१ ॥

६.२४ प्रज्ञोपनिषद्

जलाग्नि - समिधागव्याघृतादि - हविषामिह।
 येषां प्रयोग इष्टस्तु क्रियन्तेऽथोच्चगान्यपि ॥ ६२ ॥
 यज्ञे प्रयुज्यमानस्य कर्मकांडस्य विद्यते।
 इदमेव रहस्यं तु नित्यकर्म विधेरलम् ॥ ६३ ॥
 विधेरस्य प्रयोक्तृणां व्यक्तित्वं ब्राह्मणोचितम्।
 भवेत्तदैव कर्मैषां वाणी स्यातां परिष्कृते ॥ ६४ ॥
 एतादृशैः प्रयुक्तैस्त्वैर्मन्त्रैश्च विधिभिः स्वतः।
 अग्निहोत्रं स्तरं तं तु याति यो यज्ञ उच्यते ॥ ६५ ॥

टीका—प्रयुक्त किए जाने वाले पदार्थों को विशेष विधि से पवित्र और प्रखर बनाया जाता है। उसी आधार पर वे पदार्थ सामान्य से असामान्य बनते हैं। जिस जल, अग्नि, समिधा, हविष्य, गोघृत आदि का उपयोग होता है उसे विधि विशेष से उच्चस्तरीय बनाया जाता है। यही यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले नित्य कर्म विधि स्वरूप कर्मकांड का रहस्य है। इस विधान के प्रयोक्ताओं का व्यक्तित्व भी ब्राह्मणोचित होना चाहिए। तभी उनकी वाणी एवं क्रिया परिष्कृत होती है। ऐसे ही लोगों द्वारा प्रयुक्त किए गए मंत्रों एवं विधानों द्वारा अग्निहोत्र उस स्तर का बनता है जिसे यज्ञ कहते हैं ॥ ६०-६५ ॥

यज्ञमाहात्म्यमुक्तं च शास्त्रेष्वप्यतः स्वपि।
 अग्निप्रज्वलनं नेदं वस्तुहोमफलं न च ॥ ६६ ॥
 केवलं मन्यतां, किंतु प्रयुक्तानां यथाविधि।
 वस्तूनां सूक्ष्मशक्तेरुन्नयनं प्रमुखं मतम् ॥ ६७ ॥
 कर्मकांडाय यद्यत्र मंत्रोच्चाराय लभ्यते।
 उपयुक्तः प्रवक्ता तत्साफल्ये नहि संशयः ॥ ६८ ॥
 कर्मदे यज्ञकृत्ता भवत्येव पुरोधसाम्।
 पूततामधिकृत्याथ प्रखरत्वमपि स्वयम् ॥ ६९ ॥
 अग्निहोत्रस्य आश्चर्यजनकं फलमदभुतम्।
 अस्मिन्नेवविधौ सर्वमवलंबितमस्ति तत् ॥ ७० ॥

टीका—यज्ञ के माहात्म्यों का वर्णन शास्त्रों और आप्त वचनों में सर्वत्र मिलता है। यह मात्र अग्निप्रज्वलन और वस्तु हवन का प्रतिफल नहीं है। विधिपूर्वक प्रयुक्त वस्तुओं का सूक्ष्म शक्ति का उन्नयन उसमें प्रमुख है। कर्मकांड और मंत्रोच्चार के लिए उपयुक्त प्रवक्ता यदि मिल सकें तो उसकी सफलता में संदेह नहीं रह जाता। यह कार्य यज्ञ पुरोहितों की पवित्रता और प्रखरता के आधार पर बन पड़ता है। अग्निहोत्र के आश्चर्यजनक प्रतिफल इसी विधि व्यवस्था पर अवलंबित है। ॥ ६६-७० ॥

उपयोगोऽग्निहोत्रस्य वपुः संबंधिनामथ।
 मनः संबंधिनां चैव रोगाणां नाशने तथा ॥ ७१ ॥
 उभयोः क्षेत्रयोश्चापि तस्मिन्नुन्नयने सदा।
 जायते यज्ञ एषोऽत्र विद्यते स्तर उच्चगः ॥ ७२ ॥
 वातावृतेः परिष्कारे स सदैव प्रयुज्यते।

राजसूयादियज्ञेषु भौतिकानां तु प्रायशः ॥ ७३ ॥
 समस्यानां समाधानहेतवे भवति स्म च।
 तत्स्तरप्रतिभानां तु तदेकीकरणं शुभम् ॥ ७४ ॥
 वाजपेये च यज्ञे तु धर्मज्ञास्ते मनीषिणः।
 जायन्ते च परिष्कर्तुं संगता जनमानसम् ॥ ७५ ॥
 उभे चायोजने वायुमण्डलं परिशोधितम्।
 निर्धारणं च निश्चेतुं भवतस्तत्र तत्र तु ॥ ७६ ॥
 प्रयोजनानि चालक्ष्य - विशेषाणि तु पूर्वसु।
 स्थानेषु हि विशेषेषु यज्ञानायोजयन्त्यपि ॥ ७७ ॥
 आस्थां प्रति समायातं दूरीकर्तुं तु संकटम्।
 गायत्री यज्ञ एवास्ति संस्कर्तुं मानसं विधिः ॥ ७८ ॥
 उत्कृष्टतममेतच्च विधातुं जनजीवनम्।
 मतं विशेषमेवास्य महत्त्वं वेदपारगैः ॥ ७९ ॥

टीका—अग्निहोत्र का उपयोग शारीरिक-मानसिक रोग निवारण और दोनों ही क्षेत्रों के उन्नयन (अभिवर्द्धन) के निमित्त होता है। यज्ञ इसी का ऊँचा स्तर है। उसे वातावरण के परिशोधन करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। राजसूय यज्ञ समारोहों में भौतिक समस्याओं के समाधान हेतु उसी स्तर की प्रतिभाओं का एकीकरण होता है। वाजपेय यज्ञ में जनमानस के परिष्कार की आवश्यकता पूरी करने के लिए धर्म क्षेत्र के मनीषियों का संगम होता है। दोनों ही प्रकार के आयोजन वायुमंडल का परिशोधन का उपाय खोजने और निर्धारण निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए होते हैं। विशेष प्रयोजनों के लिए विशेष स्थानों और पर्वों पर विशेष यज्ञों के अनुष्ठान आयोजन भी होते रहते हैं। आस्था संकट निवारण और जनमानस को परिष्कृत करने के लिए गायत्री यज्ञ ही एकमात्र उपाय है। जनजीवन में उत्कृष्टता भरने के लिए उसका विशेष महत्व वैदिकों द्वारा माना गया है ॥ ७१-७९ ॥

यज्ञे व्यक्तेस्तु चैतन्ये देवत्वस्य सुभावनाम्।
 परिवर्द्धयितुं नूनं विशेषोऽस्ति गुणो महान् ॥ ८० ॥
 ब्रह्मकर्मसु यज्ञस्य सर्वत्रैवात एव तु।
 समावेशोऽनिवार्योऽस्ति मंत्रशक्तिस्तदाश्रयात् ॥ ८१ ॥
 प्रखरत्वमुपैत्यैवं परिपक्वत्वमप्यलम्।
 ऋषयः पुरोधसोऽजस्रं श्रयन्ते यज्ञ - सन्निधिम् ॥ ८२ ॥
 वायुमंडलमत्यर्थं दूषितं तत्र विकृतम्।
 वातावरण मप्येतन्मृणां दुर्बुद्धि संभवम् ॥ ८३ ॥
 निराकर्तुमसंदिग्धं क्षमत्वं वर्तते ध्रुवम्।
 यज्ञोपचारकार्यस्य बलादबुद्धि - प्रभाविणः ॥ ८४ ॥

टीका—यज्ञ में व्यक्ति चेतना में देवत्व की मात्रा बढ़ाने का विशेष महान गुण है। इसलिए ब्रह्मकर्मों में सर्वत्र यज्ञ का अनिवार्य रूप से समावेश किया जाता है। मंत्र शक्ति उसी आधार पर प्रखर परिपक्व होती है। पुरोहित और ऋषि

निरंतर यज्ञ के सान्निध्य में रहते हैं। दूषित वायुमंडल और विकृत मानवीय वातावरण के निराकरण में यज्ञोपचार की क्षमता असंदिग्ध है क्योंकि वह बुद्धि को बलपूर्वक प्रभावित करता है।

यज्ञैर्विधिकृतैः प्राण - पर्जन्यो वर्द्धते दिवि।

वर्षत्यपि जलेनैष वायुना भुवि चान्ततः ॥ ८५ ॥

न्यूनातायास्तु दुर्भिक्षमाधिक्येन च जायते।

सुभिक्षं प्रकृतेश्चापि प्रातिकूल्यं तथैव च ॥ ८६ ॥

आनुकूल्यं तु तत्प्रायस्तिष्ठत्येव तदाश्रितम्।

यज्ञाद् प्राणदपर्जन्य - वर्षणं भवतीह तु ॥ ८७ ॥

तेनाभिवर्षणेनात्र तत्त्वानां पुष्टिदायिनाम्।

बाहुल्यं जायते नूनं वनस्पत्यादिषु स्वयम् ॥ ८८ ॥

तेषां चैवोपभोक्तारः पशवः पक्षिणोऽथ च।

मनुष्या अपि जायन्ते समर्था बलवत्तराः ॥ ८९ ॥

कृषावुद्यान वृक्षेषु कृमयो हानिकारकाः।

उत्पद्यन्ते न कुत्रापि यान्त्युत्पन्ना विनाशिताम् ॥ ९० ॥

टीका—विधिवत् किए गए यज्ञों से अंतरिक्ष में प्राण पर्जन्य बढ़ता है और बरसता है। जल और वायु के साथ पृथ्वी पर आकाश से प्राण भी बरसता है। उसी की न्यूनाधिकता से दुर्भिक्ष सुमिक्ष पड़ते हैं। प्रकृति की प्रतिकूलता-अनुकूलता भी बहुत कुछ उसी स्थिति पर निर्भर रहती है। प्राण-पर्जन्य वर्षा यज्ञ से उपयुक्त मात्रा में होती है। उस अभिवर्षण के कारण वनस्पतियों में पोषण तत्वों का बाहुल्य रहता है और उसका सेवन करने वाले पशु पक्षी और मनुष्य समर्थ एवं बलिष्ठ रहते हैं। कृषि-उद्यानों में हानिकारक कृमि-कीटक नहीं लगते व लगे हों तो नष्ट हो जाते हैं ॥ ८५-९० ॥

इयदेव न मर्त्यानां दुर्विचारा विशन्त्यलम्।

वायावव्यक्तशब्दानां रूपे तेनेदमन्ततः ॥ ९१ ॥

भूमंडलमशेषं तु दूषितं जायतेऽथवा।

वातावरणमत्यर्थं स्थानानां दूषितं भवेत् ॥ ९२ ॥

दुर्विचारा इमे सर्वे जले नायान्ति भूतले।

प्रविशन्ति फलान्नेषु वनस्पत्यादिषु स्वतः ॥ ९३ ॥

एतेषामुपयोक्तृणां दोषणैषा धराऽखिला।

दूषिता जायते यज्ञः परिष्कर्तुं क्षमः समान् ॥ ९४ ॥

टीका—इतना ही नहीं मानवों के दुर्विचार जब अव्यक्त शब्द रूप में वायु में प्रवेश करते हैं तो क्रमशः सारा भूमंडल या तत्तत् स्थानों का वातावरण दूषित हो जाता है। यही दुर्विचार जल के साथ पृथ्वी पर आते हैं व फल वनस्पति अन्न में प्रवेश कर जाते हैं और इनका उपयोग करने पर समस्त पृथ्वी दुर्विचार वाली हो जाती है। इन सब का परिष्कार यज्ञ से ही संभव है ॥ ९१-९४ ॥

प्राणी सामाजिको मर्त्यश्चर्यास्य जीवनस्य तु।

प्रगतिश्च बहूनां सा सहयोगस्य लब्धिभिः ॥ ९५ ॥

व्यवतिष्ठत आदान प्रदानाभ्यां परस्परम्।

साधनानि नरा नूनं संगृह्णन्ति तथैव च ॥ ९६ ॥

लाभं तेऽनुभवोत्पन्नं हस्तगं कारयन्ति च।

जन्मदात्री समृद्धेः सा प्रगतेः सहकारिता ॥ ९७ ॥

आधारमिममाश्रित्य नरः सामर्थ्यवानपि।

बुद्धिमान् धनवांश्चैव बभूवाद्यापि जायते ॥ ९८ ॥

टीका—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसकी जीवनचर्या और प्रगति अनेकानेकों का सहयोग उपलब्ध होने पर ही ठीक प्रकार चलती है। मनुष्य पारस्परिक आदान-प्रदान से एक दूसरे के लिए सुविधा साधन जुटाते और अनुभवजन्य लाभ लोगों को हस्तगत कराते हैं। सहकारिता ही प्रगति और समृद्धि की जन्मदात्री है। इसी आधार पर मनुष्य बुद्धिमान, सामर्थ्यवान और संपत्तिवान बना है व आज भी बन रहा है ॥ ९५-९८ ॥

समुदायानुदानेऽस्मिन् पशूनां पक्षिणामपि।

योगदानं नहि न्यूनं विद्यते सुमहांस्तथा ॥ ९९ ॥

सहयोगोऽस्ति वृक्षाणां येषामेवानुदानतः।

मानवः प्रगतिं याति जीवत्यपि महीतले ॥ १०० ॥

एभ्यो लभ्यो भवत्येष प्राणवायुः सदैव तु।

आहारो बीजपत्रादिकंद - प्रसव - रूपतः ॥ १०१ ॥

प्राणिनः प्राप्नुवन्त्यत्र मेघा आकर्षणेन च।

वर्षन्त्येषां च मूलानि जलं रुन्धन्ति भूतले ॥ १०२ ॥

खाद्योर्वरां धरा शक्तिं पत्रैः प्राप्नोति संततम्।

तद्गतानीन्धनानीह भवनानां विनिमित्तौ ॥ १०३ ॥

विना नैवेन्धनैः कार्यं सिद्ध्यत्यन्नानि तान्यलम्।

वस्त्राण्यपि ददत्येते वनस्पतय उत्तमाः ॥ १०४ ॥

टीका—इस सामुदायिकता में पशु-पक्षियों का भी कम योगदान नहीं है। इससे भी बड़ा सहयोग वृक्ष वनस्पतियों का है। वृक्ष वनस्पतियों के अनुदानों से ही मनुष्य जीवित रहता और प्रगतिशील बनता है। प्राण, वायु उन्हीं से मिलती है। आहार उन्हीं के बीज, पत्तों, कंदों और फलों से उपलब्ध होते हैं। वर्षा के बादल उन्हीं के खिंचाव से बरसते हैं। वर्षा के जल को भूमि में रोकने का काम जड़ें ही करती हैं। धरती के उर्वरक खाद उनके पत्रों से मिलती है। ईंधन उन्हीं की देन है। भवन निर्माण में लकड़ी के बिना काम नहीं चलता। अन्न, वस्त्र जैसी आवश्यकता वनस्पतियाँ ही पूरी करती हैं ॥ ९९-१०४ ॥

आलक्ष्यैवानुदानानि महान्तीह वनस्पतीन्।

संजीवनीतिनाम्नैव कीर्तयन्ति जनाः समे ॥ १०५ ॥

वनस्पति - वृक्षेषु बहवो देवता इव।

पूज्यन्ते पूजिताः पूर्वं कृतज्ञैः पुरुषैः सदा ॥ १०६ ॥

६.२६ प्रज्ञोपनिषद्

कुटुंबेन यथामर्त्यः सुखं वसति स तथा ।
सुखिने जीवनायैव निवासेऽस्य तथैव च ॥ १०७ ॥
कार्यक्षेत्रे भवेदेव हरितत्वं तु प्रायशः ।
सुमनःसु हसत्स्वत्र सुषमा सा विलोक्यते ॥ १०८ ॥

टीका—इन अनुदानों को देखते हुए वनस्पतियों को “जीवन मूरि” (संजीवनी) कहा जाता रहा है। वृक्षों और वनस्पतियों में से अनेकों को देवता की तरह पूजा जाता रहा है व आज भी पूजे जाते हैं। जिस प्रकार परिवार के साथ सुखपूर्वक रहा जाता है, उसी प्रकार सुखी जीवन के लिए निवास स्थान एवं कार्य क्षेत्र में हरीतिमा का बाहुल्य रहना चाहिए। हँसते-हँसाते पुष्पों में शोभा सौंदर्य का भंडार माना गया है ॥ १०५-१०८ ॥

अभिवर्द्धनमेतेषां परिपोषणमप्यथ ।
सरक्षणं कथं कार्यं वृक्षादीनां विधाविह ॥ १०९ ॥
ऋषयो ज्ञानमापुस्ते गहनं चक्रुरत्र च ।
उद्यानानां नृभिः सार्धं स्थापनां स्वयमप्यथ ॥ ११० ॥
वनस्पतिभिरावास - प्रेरणामृषयो ददुः ।
साधारणेभ्यो मर्त्येभ्यो वसन्तः तैः सह स्वयम् ॥ १११ ॥
कारणं चेदमेवास्ति यदृषीणां वनौकसाम् ।
आवास वर्णने वृक्ष लतानां सरसामपि ॥ ११२ ॥
वनस्पत्यादिकानां च निर्झराणां च वर्णनम् ।
पशुपक्षिकलारावर्णनं विद्यते बहु ॥ ११३ ॥
स्वर्गस्यगौरवं प्रोक्तं नन्दनं वनमाश्रितम् ।
सुखिनः समुन्नतान् कर्तुं मानवांस्ते व्यधुः स्वयम् ॥ ११४ ॥
कृष्युद्यानादि - संबद्धशोधकार्याण्यथापि च ।
सोत्साहंश्च नरांश्चक्रुः प्राप्तुं प्रावीण्यमत्र तु ॥ ११५ ॥
क्षेत्राणि विविधान्यत्र प्रवासस्थं तु मंडलम् ।
सोत्साहं तत्र चाद्राक्षीन्ननन्दुश्च मनीषिणः ॥ ११६ ॥

टीका—वृक्ष वनस्पतियों का अभिवर्द्धन, परिपोषण, संरक्षण कैसे किया जाए, इस विधा की ऋषिगण गहरी जानकारी प्राप्त करते रहे हैं। वे स्थान-स्थान पर अगणित उद्यान लगाते-लगवाते रहे हैं। वनस्पतियों के साथ गुँथे रहने की प्रेरणा वनस्पतियों के साथ रहने वाले ऋषिगण सदैव जन-साधारण को देते रहे हैं। स्वर्ग का गौरव नंदन वन पर आधारित बताया गया है। मनुष्यों को सुखी समुन्नत बनाने के लिए उनसे कृषि, उद्यान से संबंधित अगणित तथ्यों को खोजा और उस कला में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए जन-जन को उकसाया। इस

कार्य में प्रयुक्त हुए अनेक क्षेत्र प्रवास मंडली ने उत्साहपूर्वक देखे और सभी मनीषीगण अति प्रसन्न हुए ॥ १०९-११६ ॥

नारदो दर्शयामास तानि स्थानानि तत्र च ।
असंख्यानि तु येष्वत्र क्षेत्रेऽभूवन् बहून्यहो ॥ ११७ ॥
अनुसंधान - कार्याणि यज्ञविज्ञानगानि च ।
तद्वनस्पतिविज्ञानसंबद्धान्यपि संततम् ॥ ११८ ॥
तत्प्रयोजनहेतोश्च यत्र जातानि तानि तु ।
आयोजनानि सोत्साहैराप्तो लाभो नैररपि ॥ ११९ ॥
ऊर्जो विज्ञानगः प्रोच्य उपयोगः कथं कियान् ।
अग्निहोत्रैस्तथा यज्ञैस्तत्राक्रियत शोभनः ॥ १२० ॥
तस्याधारेण संसारः कियन्तं लाभमाप्तवान् ।
इतिहासमिमं सर्वं श्रावयामास नारदः ॥ १२१ ॥
तत्प्रयोगाभिसंबद्ध - क्षेत्रमस्याक्षिगोचरम् ।
मंडलस्य व्यधात्तत्र नारदो यर्हि तर्हि ते ॥ १२२ ॥
सदस्या मंडलस्थास्तु परमानंदमाययुः ।
पर्यवेक्षण यात्रायां संतुष्टास्ते विशेषतः ॥ १२३ ॥

टीका—नारद जी ने उन अगणित स्थानों को भी दिखाया जहाँ इस क्षेत्र में वनस्पति विज्ञान तथा यज्ञ विज्ञान के गहन अनुसंधान होते थे। जहाँ उस प्रयोजन के निमित्त बड़े-बड़े आयोजन हुए और अनेकानेकों ने उत्साह पूर्वक लाभ उठाए। ऊर्जा विज्ञान का उच्चस्तरीय उपयोग अग्निहोत्र एवं यज्ञादि द्वारा किस प्रकार किया जाता रहा और उस आधार पर समस्त संसार को कितना लाभ मिला, यह इतिहास देवर्षि नारद द्वारा सुनाया गया। तथा उस प्रयोग से संबंधित अनेकानेक स्थलों क्षेत्रों का दिग्दर्शन कराया गया तो प्रवास मंडली के प्रत्येक सदस्य को बहुत आनंद मिला और उस यात्रा पर्यवेक्षण पर विशेष संतोष हुआ ॥ ११७-१२३ ॥

दिनं परिणतं दृष्ट्वा खाद्यचिन्ता तथैव च ।
योग्यावासस्य चिन्ताऽपि समायाता तु सम्मुखे ॥ १२४ ॥
उभयोश्च समाधाने सूर्येऽस्ते स्थगिता समैः ।

यात्रा नित्यविधिं कृत्वा रात्रिवासं व्यधुः सुखम् ॥ १२५ ॥
टीका—दिन ढलने लगा तो खाद्य पदार्थ ढूँढ़ने और रात्रि विश्राम के लिए उपयुक्त स्थान खोजने की चिन्ता होने लगी। दोनों ही साधन जुट गए तो सूर्यास्त होने पर यात्रा को विराम दिया गया। नित्यकर्म से निवृत्त होकर मंडली के सदस्य सुखपूर्वक रात्रि बिताने लगे।

॥ इति श्रीमद्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः,

युगदर्शनसाधना प्रकटीकरणयोः महर्षिनारदप्रतिपादित - यज्ञविज्ञान वनस्पति विज्ञान इति प्रकरणो नाम पंचमोऽध्यायः ॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

आत्मशोधन - प्रकरण

षष्ठस्य दिवसस्याथ प्रवासे मंडलस्य ते ।
सदस्याः साभिलाषा संजाता ज्ञातुमिदं कथम् ॥ १ ॥
वैभवं वर्च एवापि मानवोचितमुत्तमम् ।
प्राप्तुं शक्यं कुतो येन सुखिनः स्युः समेऽप्यलम् ॥ २ ॥
तत्परत्वस्य यद्येष आकांक्षायाश्च विद्यते ।
परिणामस्तदा त्वेते सर्वेष्वत्र तिष्ठतः ॥ ३ ॥
इच्छायामपि सत्यां च साफल्यं यान्ति नो जनाः ।
प्राप्तुमेतत्कथं सर्वे कारणं किं च विद्यते ॥ ४ ॥
अनुग्रहोऽयं दैवश्चेत्समदर्शितया ततः ।
भगवतो मानवैः सर्वैः प्राप्येतैव सुनिश्चितम् ॥ ५ ॥
प्रगतेरिच्छुकानां च समृद्धेरपि ते कथम् ।
असंख्याः सन्ति साफल्यहीनास्ते दुर्मनायिताः ॥ ६ ॥
समानाः स्थितयः सर्वैः प्रायः प्राप्ता अपीह च ।
न्यूनाधिक्यतया चित्तं शरीरं च समं नृणाम् ॥ ७ ॥
अनुत्तस्थितावेव केषाञ्चित्तु नृणामिह ।
केषाञ्चित्प्रगतेरुच्चशिखरेऽत्र स्थितिस्तदा ॥ ८ ॥
पतनस्य पराभूतेर्यन्त्रणासहनं नृणाम् ।
कथं भवति तत्सर्वं रहस्यं ज्ञेयमेव तु ॥ ९ ॥
नृणां चित्तगतेज्ञाने निष्णातो नारदो मुनिः ।
मंडलस्य सदस्यानां जिज्ञासां प्राप्य चाह सः ॥ १० ॥
टीका—छठे दिन के प्रवास में मंडली के सदस्यों को यह जानने की अभिलाषा हुई कि मनुष्योचित वैभव-वर्चस किस प्रकार कहाँ से उपलब्ध होता है, जिससे सभी सुखी हो सकते हैं। यदि यह आकांक्षा और तत्परता का परिणाम है, तो वह सभी में रहती है, फिर लोग इच्छा रहते हुए भी सफल क्यों नहीं होते? यदि वह दैवी अनुग्रह है, तो फिर भगवान के समदर्शी होने के नाते वह सभी को समान रूप से क्यों उपलब्ध नहीं होता? प्रगति और समृद्धि की आकांक्षा करने वालों में से क्यों असंख्याओं को मन-मसोस कर असफल रह जाना पड़ता है। परिस्थितियाँ न्यूनाधिक मात्रा में सभी को एक जैसी उपलब्ध हैं। शरीर और मन की सरंचना भी प्रायः मिलती-जुलती ही है, फिर किसी का पिछड़ी स्थिति में पड़े रहना, किसी का प्रगति के उच्चशिखर पर जा पहुँचना और किसी का पतन-पराभवजन्य यंत्रणाएँ सहते रहना क्यों कर होता है? यह रहस्य जानना चाहिए। जन-जन के मन-मन की बात जानने में निष्णात महाभाग नारद जी ने मंडली के साथियों की जिज्ञासा का आभास पाया और मुस्कराते हुए बोले ॥ १-१० ॥

नैव भाग्यविधानस्य विधिः शोच्यः कदाचन ।
भवद्भिर्न विचार्य च यन्मंत्रस्याथवा पुनः ॥ ११ ॥
देवस्य कस्यचिच्छिन्नचमत्कारेण वाऽञ्जसा ।
नरः साफल्यमाप्नोति वैभवं चातुलं तथा ॥ १२ ॥
प्राप्यते यत्पौरुषस्य फलं तन्मन्यतां ध्रुवम् ।
पुरुषार्थेषु मुख्यं तदात्मशोधनमुच्यते ॥ १३ ॥
जन्मान्तरकुसंस्कारान् दूरीकर्तुं निजात्मना ।
तप आदाय संघर्षः कार्य एवं नरैः समैः ॥ १४ ॥
आकांक्षामान्यतास्वत्र प्रकृतिष्वपि संगतैः ।
पशुस्तरैर्निकृष्टैस्तैर्भावैर्मत्या वृता इह ॥ १५ ॥
चक्रव्यूहे च तस्मिंस्ते स्पर्शिताश्च भ्रमन्त्यलम् ।
यंत्रवृषभतुल्यास्ते शर्म विन्दन्ति नो क्षणम् ॥ १६ ॥
न चैवं प्राप्नुवन्त्येते किमपीप्सितमुत्तमम् ।
मानवं जीवनं येन भवेत्सार्थकमन्ततः ॥ १७ ॥

टीका—नारद ने कहा आप लोग भाग्य-विधान की बात न सोचें। किसी देवता या मंत्र के चमत्कार से मनुष्य अनायास ही सफलताएँ प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा भी न सोचें। जो मिलता है, वह मनुष्य के पुरुषार्थ का प्रतिफल होता है। पुरुषार्थों में प्रमुख आत्मशोधन है। जन्म-जन्मांतरे के संचित कुसंस्कार को निरस्त करने के लिए अपने आप से तपश्चर्या का माध्यम अपनाकर लड़ना पड़ता है। आकांक्षाओं, मान्यताओं और आदतों में घुसी हुई पशुस्तर की निकृष्टता से सामान्य जन घिरे रहते हैं। वे उसी चक्रव्यूह में फँसे, कोल्हू के बैल की तरह जुते रहते हैं, उन्हें एक क्षण भी सुख नहीं मिल पाता तथा उनके पल्ले कुछ ऐसा नहीं पड़ता, जिससे मनुष्य जीवन की सार्थकता सिद्ध हो सके ॥ ११-१७ ॥

मनोरथा अहंकारसंभवा लोभमोहजाः ।
भवबंधनशब्देन कथ्यन्ते मुनिभिर्वरैः ॥ १८ ॥
भंक्तुमेतदपेक्ष्यं तदन्तः साहसमुत्तमम् ।
इदमेवोदगतं कर्तुं संभवेच्चेत्तदैव तु ॥ १९ ॥
आत्मशोधन होतोश्च संभवेदात्मना स्वयम् ।
योद्धुं लोके नरः पुण्यो भविष्यत्कर्तुमुज्ज्वलम् ॥ २० ॥
गीतायां वर्णितं दिव्यं य एव जयति स्वतः ।
इदमान्तरिकं मर्त्यो महाभारतमुत्तमम् ॥ २१ ॥
नरं तं वृणुते शीघ्रं विजयश्रीस्तथैव सः ।
ऋद्धिसिद्धिरवाप्नोति भौतिकाध्यात्मकीर्तुतम् ॥ २२ ॥

टीका—लोभ-मोह और अहंकार के क्षुद्र मनोरथों को ही मुनिगण भव-बंधन कहते हैं। इन्हें तोड़ने के लिए आंतरिक साहस की आवश्यकता पड़ती है, उसे उभारा जा सके, तो आत्मशोधन के लिए अपने आपसे लड़ सकना संभव होता है,

६.२८ प्रज्ञोपनिषद्

ऐसा कर सकने वालों का भविष्य उज्ज्वल बनता है, व वही पुण्यात्मा होता है। जो गीता में वर्णित इस आंतरिक महाभारत को जीतता है, उसे विजय श्री वरण करती है और भौतिक सिद्धियों तथा आत्मिक ऋद्धियों का उपहार अनायास ही प्राप्त होता है ॥ १८-२२ ॥

मनोनिग्रहरूपे च तपश्चर्याविधौ तु ये ।

स्वभाव अनुपयुक्तास्तु स्पष्टं द्रोह्याः समेऽपि ते ॥ २३ ॥

एतदर्थं नैर्ग्राह्यमनुशासनमुत्तमम् ।

व्रतधारणमप्यत्र विधेयं च यथाविधि ॥ २४ ॥

मनो जयति यो विश्वविजयी स भवेन्नरः ।

अभ्यासेऽस्मिन् समग्रास्यात्साधना संयमस्य तु ॥ २५ ॥

चतुर्था संयमः प्रोक्तो विचारेन्द्रिययोरथ ।

कालार्थयोश्च मर्त्यस्य जीवने सर्वदैव तु ॥ २६ ॥

य इमान् साधयेन्मर्त्यः साधको वस्तुतस्तु सः ।

साधना परिणामश्च सिद्धिरूपे भवेदिह ॥ २७ ॥

टीका—मनोनिग्रह की तपश्चर्या करने में अभ्यस्त आदतों में से जो अनुपयुक्त है, उनके विरुद्ध खुला विद्रोह करना पड़ता है। इसके लिए अनुशासन अपनाने और व्रत धारण करने पड़ते हैं। जो मन को जीतता है, वह विश्वविजयी बन सकता है। इस अभ्यास में समग्र संयम साधना होती है। संयम चार प्रकार के हैं—इंद्रिय संयम, अर्थ संयम, समय संयम और विचार संयम, जो मनुष्य के जीवन में सदा अपेक्षित हैं। जो इन्हें साध लेता है, वही सच्चा साधक है। साधना की परिणति सिद्धि के रूप में होकर रहती है ॥ २३-२७ ॥

कुसंस्कारैश्च योद्धुं यो मानवस्तु प्रवर्तते ।

अयने प्रथमे सोऽत्र पशुस्तरगतास्तु तान् ॥ २८ ॥

आदर्शरहितान् मर्त्यान्मानुकर्तुं तथैव च ।

तैर्दत्तं च परामर्शं वाञ्छत्यल्पमपीह नो ॥ २९ ॥

साधकस्त्वात्मनो लक्ष्यं निश्चिनोति स्वयं तथा ।

आत्मानं परमात्मानं सधयञ्चौ प्रविचारयन् ॥ ३० ॥

ताभ्यां विनिश्चतो मार्गोऽवलम्ब्यः प्रेरणां च ये ।

अधिगच्छन्ति हीनैस्ते तथा हीना भवन्त्यपि ॥ ३१ ॥

आदर्शास्ते सदैवात्र गृह्णन्त्यध्यात्मवादिनः ।

असंख्याननुकर्तुं च प्रेरकं मार्गमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

चिन्वन्ति दूरदर्शित्वयुतेनैतेन चात्मनः ।

विवेकेन त्यजन्त्येनं नैवात्मन्यादिभिः क्वचित् ॥ ३३ ॥

संघर्षेणात्मनो विद्युदुदेति स्वयमेव सा ।

प्रयोजनानि पूर्यन्ते ययाऽऽश्चर्यकराणि तु ॥ ३४ ॥

मनोबलं न कश्चित्तु लभते पुरुषोऽञ्जसा ।

तदापुं च निजेनात्र स्वभावेनाथवा पुनः ॥ ३५ ॥

स्वजनोत्पादिता बह्वीः सिद्धांतरहितास्तु ताः ।

बाध्यतास्त्यक्तुमभ्येति साहसं ज्ञायतां ततः ॥ ३६ ॥

अर्जितुं विपुलामात्मशक्तिं तस्य कृते धुवम् ।

अपावृतमिवद्वारं पूर्णतो मंगलोन्मुखम् ॥ ३७ ॥

टीका—कुसंस्कारों से लड़ने के प्रथम मोरचे पर जो जूझता है, उसे पशुस्तर के आदर्शहीन लोगों का अनुकरण करने, परामर्श अपनाने की तनिक भी इच्छा नहीं होती है। साधक को अपना लक्ष्य स्वयं निर्धारित करना पड़ता है और आत्मा तथा परमात्मा के दो साथियों को पर्याप्त मानकर उनके बताए हुए मार्ग का अवलंबन करना पड़ता है। गए-गुजरे लोगों से जो प्रेरणा ग्रहण करते हैं, वे उन्हीं के जैसे क्षुद्र बन जाते हैं। अध्यात्मवादी आदर्श अपनाते हैं और असंख्यों को अनुकरण की प्रेरणा दे सकने वाला मार्ग दूरदर्शी विवेकशीलता के आधार पर चयन करते हैं तथा इस मार्ग को आलस्यादि कारणों से भी कभी नहीं छोड़ते हैं। इस निजी परिकर के संघर्ष से ही वह आत्म-विद्युत उत्पन्न होती है, जिनके सहारे अनेकानेक आश्चर्यजनक प्रयोजन पूरे किए जा सकें। मनोबल अनायास ही किसी को नहीं मिलता। उसे प्राप्त करने के लिए अपनी आदतों से, तथाकथित स्वजनों द्वारा पड़ने वाले सिद्धांत रहित दबावों को अस्वीकार करने की हिम्मत पड़ गई, तो समझना चाहिए कि उसके लिए अजस्र आत्मबल एकत्रित करने का मंगलमय द्वार पूर्णरूप से खुल गया है ॥ २८-३७ ॥

घर्षणाज्जायते विद्युद् विदन्तीदं समेऽपि तु ।

युद्ध्यते यः कुसंस्कारैः स्वजनैर्मन्दबुद्धिभिः ॥ ३८ ॥

प्रमाथिभिस्तथा लोभैरोजस्वी स नरस्तथा ।

मनस्वी कथ्यते लोके तेजस्वी वा नरैः सदा ॥ ३९ ॥

आत्मशक्तिधनाः सन्ति नरास्ते वस्तुतस्तथा ।

तदाश्रित्य च संव्याप्ता विभूतीः प्राप्तमन्ततः ॥ ४० ॥

अशुभानि निराकर्तुं समर्थास्ते भवन्त्यपि ।

प्रयोजनद्वयं चात्मशक्तिः पूरयति स्वतः ॥ ४१ ॥

वैभवार्जनमेवं च संकटानां विनाशनम् ।

येनात्मतेजसा सिद्धेत्तद् ब्रह्माग्निरुदाहृतः ॥ ४२ ॥

इदमेव तदूर्जस्तु यदाश्रित्यात्र संभवेत् ।

प्रगतिर्भौतिकेऽध्यात्मक्षेत्रे लब्धिरनुत्तमा ॥ ४३ ॥

एतादृशा जना स्वस्यां मार्गनावि विधाय च ।

असंख्यानपविष्टास्तु प्रापयन्ति तटं परम् ॥ ४४ ॥

टीका—सभी जानते हैं कि रगड़ से बिजली उत्पन्न होती है। अपने कुसंस्कारों से, मूढमति प्रियजनों से, आकर्षक प्रलोभनों से, जो लड़ सका, उसी को ओजस्वी, मनस्वी और तेजस्वी कहते हैं। ऐसे लोग आत्मबल के धनी बनते हैं और उसके सहारे संव्याप्त विभूतियों को खींचने तथा अशुभ-अनुपयुक्त को फेंकने में समर्थ होते हैं। आत्मशक्ति यह दोनों ही प्रयोजन पूरे करती है। संकट को टालना और वैभव को बटोरना, जिस आत्मतेज के माध्यम से बन पड़ता है, उसे

प्राणाग्नि या ब्रह्माग्नि कहते हैं। यही वह ऊर्जा है जिसके सहारे भौतिक क्षेत्र में द्रुतगति से आगे बढ़ना और अध्यात्म क्षेत्र में असाधारण ऊँचाई तक उठ जाना संभव होता है। ऐसे लोग अपनी नाव पर बिठाकर असंख्यों को इस किनारे से उस किनारे तक पहुँचाते हैं ॥ ३८-४४ ॥

विलासाभिरता लुब्धा लिप्सा जलधिमज्जिताः ।

येन-केन प्रकारेण कर्मकांडोपचारतः ॥ ४५ ॥

देवानात्मकृते तुष्टानिव कर्तुं कथञ्चन ।

यतन्ते स्वार्थसिद्धयै चापात्रायैस्पृह्यन्त्यपि ॥ ४६ ॥

सन्त्येवासफला मर्त्या निराशाश्चेदृशाः समे ।

अध्यात्मनि कृता नैव सफला स्याद् विडंबना ॥ ४७ ॥

लाञ्छितं साधनायास्तु तत्त्वज्ञानं हि कुर्वते ।

गोपायन्ति स्वदुर्बुद्धिं नरा एतादृशा इह ॥ ४८ ॥

टीका—विलासी, लालची, लिप्साओं में डूबे हुए व्यक्ति जिस-तिस प्रकार कर्मकांड उपचार के सहारे देवताओं को फुसलाने का प्रयत्न करते हैं और उनसे ऐसे स्वार्थ साधना चाहते हैं, जिनकी पात्रता नहीं है। ऐसे लोग सदा निराश और असफल रहते हैं। अध्यात्म के नाम पर अपनाई गई विडंबना कभी फलीभूत होती नहीं। ऐसे लोग ही साधना के तत्त्वज्ञान पर लांछन लगाकर अपनी दुर्बुद्धि छिपाते रहते हैं ॥ ४५-४८ ॥

नारदो दर्शयामास विविधानां तपस्विनाम् ।

कार्यक्षेत्राणि सिद्धानामर्जितो यैर्निधर्महान् ॥ ४९ ॥

दिव्यशक्तेः परिष्कारसाधनानि निजात्मनः ।

कर्माण्यसंभवान्यन्यैर्हितान्या - चरितान्यपि ॥ ५० ॥

साफल्यानां विभूतीनां सम्पदां शक्तिरेव तु ।

जननी, संग्रहो यस्याः पौरुषेणैव संभवेत् ॥ ५१ ॥

आध्यात्मिकैस्तथैवैतन्निमित्तं संयमस्तपः ।

परार्थरतिरेतानि मतान्यावश्यकानि तु ॥ ५२ ॥

टीका—नारद जी ने ऐसे अनेक तपस्वी सिद्धपुरुषों के कार्यक्षेत्र दिखाए, जिनने आत्म परिष्कार की साधना से दिव्यशक्ति का भंडार अर्जित किया और लोकहित के ऐसे काम कर दिखाए, जो सामान्य लोगों द्वारा, सामान्य परिस्थितियों में संभव नहीं होते। शक्ति ही संपदाओं, विभूतियों और सफलताओं की जननी है। उसका संग्रह आध्यात्मिक पुरुषार्थों द्वारा ही संभव होता है। इसके लिए संयम-साधने, तप करने और परमार्थ में निरत रहने की आवश्यकता पड़ती है ॥ ४९-५२ ॥

सुविधानां साधनानां साफल्यानां च संश्रयैः ।

उल्लासं परमं यान्ति जनाः सर्वेऽपि संततम् ॥ ५३ ॥

आधारमिममाश्रित्य साहसं कौशलं तथा ।

स्वास्थ्यं मनोबलं तेषां वृद्धिं यान्ति क्रमादिह ॥ ५४ ॥

अध्यात्मक्षेत्र - विज्ञानवेत्तारः श्रद्धया तथा ।

विश्वासेनापि निर्मान्ति मनोभूमिं तथा यथा ॥ ५५ ॥

प्रसन्नता तथाऽऽनंदो यायातां वृद्धिमुत्तमाम् ।

ब्रह्मानन्दं वदन्त्येनं सच्चिदानंदमप्यथ ॥ ५६ ॥

परमानंदमप्यत्रानुभूतीरीदृशीर्नहि ।

असाफल्यानि कुर्युश्च काठिन्यानीह पीडिताः ॥ ५७ ॥

साधनेषु निजेष्वेव सीमितेषु परिग्रहम् ।

पालयन्तो व्रतं सर्वे स्थिरप्रज्ञस्तरं सुखम् ॥ ५८ ॥

अनुभवन्ति च सन्तोषं गन्धेनेवास्य कुर्वते ।

वातावरणमत्यर्थमुल्लासेनाभिपूरितम् ॥ ५९ ॥

असंख्याः प्राप्नुवन्त्यस्मादुत्साहं साहसं तथा ।

आदर्शवादितामत्र स्वीकर्तुं जीवने स्वके ॥ ६० ॥

टीका—साधनों, सफलताओं और सुविधाओं के सहारे सभी प्रसन्न-उल्लसित होते हैं। इस आधार पर उनका स्वास्थ्य, साहस, कौशल और मनोबल भी बढ़ता है, पर अध्यात्म क्षेत्र के विज्ञानी श्रद्धा-विश्वास के सहारे भी ऐसी मनोभूमि विनिर्मित कर लेते हैं, जिसमें प्रसन्नता और प्रफुल्लता की मात्रा अत्यधिक बढ़ सके। इस मनःस्थिति को परमानंद, ब्रह्मानंद, सच्चिदानंद आदि नाम दिए गए हैं। ऐसी अनुभूति वालों को सांसारिक कठिनाइयाँ और असफलताएँ भी व्यथित नहीं करतीं। सीमित साधनों में अपरिग्रह का व्रत पालते हुए ऐसे लोग स्थितप्रज्ञ स्तर के सुख-संतोष का अनुभव करते रहते हैं। प्रसन्न व्यक्ति अपनी अनुभूति की सुगंधि से वातावरण को उल्लसित किए रहते हैं। उससे असंख्यों को अपने जीवन में आदर्शवादिता अपनाने का साहस उत्साह मिलता है ॥ ५३-६० ॥

ब्रह्मचैतन्यमेतच्च विराड्विश्वं तु वर्तते ।

तत्राहं भावसंन्यासमान्यतां संविधाय च ॥ ६१ ॥

परिपक्वां ब्रजेत्क्षुद्रः महत्तां साधकस्ततः ।

सीमाबंधनगा लोभमोहाहंकार चक्रगाः ॥ ६२ ॥

श्चोतयन्ति रसं सर्वे जीवनस्यात्र संपदः ।

तीव्रलिप्सा कुचक्रे च हापयन्तीशकृत्स्थितिम् ॥ ६३ ॥

श्लथताया निराशायाः क्षोभताया अथापि च ।

अतिरिक्तं च पापान् लभ्यते किमपि क्वचित् ॥ ६४ ॥

परमाध्यात्मिकं दृष्टिकोणं ये तूत्तमं नराः ।

स्वीकृत्यात्मनि सर्वाश्च सर्वेष्व्वात्मानमप्यथ ॥ ६५ ॥

द्रष्टुं जाताः समर्थास्तु सर्वे पश्यन्ति ते स्वकम् ।

अनुभवन्ति धनं लब्धं सममिन्द्रकुबेरयोः ॥ ६६ ॥

टीका—विराट् विश्व की ब्रह्मचेतना में अपने आपे का समर्पण करने की मान्यता परिपक्व करके साधक क्षुद्र से महान बनता है। सीमा-बंधनों से जकड़े हुए लोग मात्र लोभ, मोह, अहंकार के कुचक्र में पिलते हुए जीवन-संपदा का सारा रस निचोड़ डालते हैं और न बुझने वाली लिप्सा के

६.३० प्रज्ञोपनिषद्

कुचक्र में ईश्वर प्रदत्त सुयोग को बुरी तरह गवाँ बैठते हैं। थकान, निराशा, खीज और पाप के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता, किंतु जिनने अध्यात्मवादी उदात्त दृष्टिकोण अपनाकर अपने में सबको और सबमें अपने को देखना सीख लिया उन्हें सब कुछ अपना ही दीखता है और इंद्र-कुबेर जैसे वैभव प्राप्त कर लेने जैसा अनुभव होता है ॥ ६१-६६ ॥

एकमस्तीश्वरस्येह दर्शनस्य तु वस्तुतः ।
स्वरूपं विश्वमेतत्तु पश्येत्तस्मिन् परात्मनि ॥ ६७ ॥
ओतप्रोतं तथोद्यानं कर्तुं विकसितं श्रयेत् ।
पौरुषं मुदितः स्याच्च तस्य सामीप्यो नरः ॥ ६८ ॥
मनःस्थितौ तथेदृश्यां व्यक्तेश्चिन्तनमप्यथ ।
प्रयासा लोककल्याण निरतास्ते भवन्ति हि ॥ ६९ ॥
आत्मार्पणेन तस्मै च साधका विन्दु-सिंधुवत् ।
स्फुलिङ्गाग्निसमस्तेन विराजैकत्वमाप्नुयात् ॥ ७० ॥
विराजं ब्रह्ममत्वा च विश्वं श्रद्धायुतेन तु ।
चेतसा तस्य सेवायां लग्नता भक्तिरुत्तमा ॥ ७१ ॥
भक्ता एवं विधा नित्यमीशसन्निध्यजं समे ।
लभन्ते परममानन्दमनुकम्प्याः प्रभोश्च ते ॥ ७२ ॥
एकता भगवतोऽत्यर्थं भक्तस्यातश्च संभवेत् ।
निजं भक्तस्य किञ्चिन्न शिष्यते तत्र चेश्वरः ॥ ७३ ॥
समाविष्टो भवत्येव पृथक्त्वं तत्तथैव च ।
वैमुखं तिष्ठतस्तावद् यावल्लिप्सोन्मदो नरः ॥ ७४ ॥
ईश्वरेच्छैव स्वेच्छा च यदा संजायते तदा ।
शिष्यतेकामनानैवयाच्चाया न स्थितिः क्वचित् ॥ ७५ ॥
पूर्णता लक्ष्यसंप्राप्तिरस्यामेव मनः स्थितौ ।
जायते प्राणिषु ब्रह्मावेशस्तत्प्रभुदर्शनम् ॥ ७६ ॥

टीका—ईश्वर दर्शन का एक ही वास्तविक स्वरूप है। इस संसार को ईश्वर से ओत-प्रोत देखना और विश्व उद्यान को सुविकसित बनाने के लिए पुरुषार्थ कर उसकी निकटता का आनंद लेना। ऐसी मनःस्थिति में व्यक्ति का चिंतन और प्रयास मात्र लोकमंगल में ही निरत रहता है। ईश्वर को आत्मसमर्पण करने पर साधक विदु-सिंधु की तरह, आग-चिंगारी की तरह उस विराट् सत्ता से तादात्म्य एकाकार हो जाता है। विश्व को विराट् ब्रह्म मानकर उसकी सेवा साधना में श्रद्धापूर्वक जुट जाना सच्ची भक्ति है। ऐसे भक्तजन निरंतर ईश्वर-सन्निध्य का आनंद लाभ करते हैं। उन पर ईश्वर की अनुकंपा निरंतर बरसती है। भक्त और भगवान की एकता-एकात्मता इसीलिए बनती है कि भक्त का अपना कुछ रहता ही नहीं, तो उस खालीपन में भगवान का भर जाना स्वाभाविक है। पृथक्ता और विमुखता तभी तक रहती है, जब तक ललक-लिप्सा का उन्माद चढ़ा रहता है। जब भगवान की इच्छा ही अपनी इच्छा बन गई, तो फिर न कुछ कामना रहती

है, न याचना की आवश्यकता पड़ती है। पूर्णता का लक्ष्य इसी मनःस्थिति में प्राप्त होता है। भगवान का दर्शन सब में ब्रह्मसत्ता का समावेश देखना है ॥ ६७-७६ ॥

सेवा सा साधना चैव भक्तिरत्रोच्यते तथा ।
उदातोदृष्टिकोणश्च स्वर्ग एव न संशयः ॥ ७७ ॥
अहंकारस्य लोभस्य मोहस्य त्रिविधं च यत् ।
भवबंधनमेतस्मान्मोचनं मुक्तिरुच्यते ॥ ७८ ॥
इच्छायां भगवतोऽथापि व्यवस्थायां निजस्य च ।
तत्परत्वं च विद्वद्भिः प्रोक्ता लोक उपासना ॥ ७९ ॥
संस्कारपद्धतौ स्वस्य जीवनस्य गतिश्च सा ।
उच्यते साधनेशस्य मित्रं नो शत्रुरेव वा ॥ ८० ॥
नोपहारं स्तुतिं वा स वाञ्छतीह तु कस्यचित् ।
तस्य नावश्यकं चैतद् विद्यते परमात्मनः ॥ ८१ ॥
न निजो न परस्तस्य न शत्रुर्मित्रमेव वा ।
अस्ति वास्तविकं रूपं पूजायाः श्रमसीकरैः ॥ ८२ ॥
विश्वोद्यानस्य तस्यालं सिञ्चनं श्रेष्ठताविधेः ।
बीजारोपणमादर्शवादिता वृद्धिरत्र च ॥ ८३ ॥

टीका—भक्ति सेवा-साधना को कहते हैं। उदात्त दृष्टिकोण का नाम स्वर्ग है। लोभ-मोह-अंधकार के त्रिविध भव-बंधनों से छुटकारा पाने का नाम मुक्ति है। भगवान की इच्छा और व्यवस्था में अपने-आपको खपा देना उपासना है। साधना का अर्थ है, जीवन को सुसंस्कारिता के ढाँचे में ढाल लेना। ईश्वर का न कोई मित्र है, न कोई शत्रु। उन्हें किसी का उपहार-मनुहार नहीं चाहिए। इसकी उन्हें आवश्यकता भी नहीं है। न उनका कोई अपना है, न पराया। न मित्र है, न शत्रु। पूजा का वास्तविक स्वरूप है भगवान के विश्व उद्यान को श्रम-सीकरो से सींचना और उसमें उत्कृष्टता का बीजारोपण, आदर्शवादिता का अभिवर्द्धन करना ॥ ७७-८३ ॥

आत्मनः शोधने लग्नाः परमार्थे रताश्च ये ।
पुरुषास्ते मता लोके वस्तुतो भक्तसत्तमाः ॥ ८४ ॥
वरदानांश्च तान् सर्वान् प्राप्नुवन्त्यपि ते सदा ।
अनादिकालाद् भक्ता यान् योगिनोऽथ तपस्विनः ॥ ८५ ॥
महात्मानश्च विप्रास्ते प्रापुरस्या न ते जनाः ।
अधिकारिणि आहुयं व्यवहारेण सन्त्यथ ॥ ८६ ॥
चिन्तनेन चरित्रेण निकृष्टाः स्वार्थपूरकम् ।
मंत्रतंत्र - क्रियाभिस्तं वश्यं वाञ्छन्ति पूजया ॥ ८७ ॥
दिग्भ्रान्तानां नृणां नैव न्यूनता क्वचनास्ति सा ।
बहवोऽध्यात्ममार्गेऽपि भ्रान्ताः सन्ति नरा इह ॥ ८८ ॥
हेयं जीवन्ति स्वार्थाय दैवीः शक्तीरिह स्वयम् ।
उपयोक्तुं दिवास्वप्नं पश्यन्ति प्राय एव च ॥ ८९ ॥
ऋषयो बहवश्चात्र हिमाद्रेः क्षेत्र उत्तमे ।
वसन्तः सत्यभक्तानामिव संस्कारसंयुताम् ॥ ९० ॥

चक्रुर्जीवनचर्या च प्रापुरस्माच्च संततम् ।
भगवतश्चानुकम्पां ते दिव्या मंगलसंयुताम् ॥ ११ ॥
एतादृशा इह प्रोक्ता ऋषयस्तत्त्वदर्शिनः ।
कृतकृत्याश्च ते जाता सर्वतः सन्ततं स्वतः ॥ १२ ॥
तेषां शरणमायाता ऋद्धयः सिद्धयोऽपि च ।
धन्यास्ते पूर्णतो जाता जीवने च निजे शुभे ॥ १३ ॥

टीका—आत्मशोधन और परमार्थ में निरत व्यक्ति ही सच्चे भक्त माने जाते हैं और वे ही उन वरदानों को प्राप्त करते हैं, जो अनादिकाल से समय-समय पर भगवद् भक्तों, योगी-तपस्वियों, संत-ब्राह्मणों को मिलते रहे हैं। इस अनुकंपा के अधिकारी वे नहीं बन सकते। जिनका चिंतन चरित्र और व्यवहार तो निकृष्ट स्तर का है, पर पूजा-अर्चा, तंत्र-मंत्र और क्रिया-कृत्यों के बदले दिव्य सत्ता को वशवर्ती बनाना और भले-बुरे मनोरथ पूरे कराना चाहते हैं। दिग्भ्रांतों की किसी क्षेत्र में कमी नहीं। अध्यात्म क्षेत्र में भी ऐसे भटके लोग बहुत हैं, जो हेय जीवन जीते और स्वार्थपूर्ति के लिए दैवी शक्ति का उपयोग करने के दिवास्वप्न देखते हैं। अनेकों ऋषिगणों ने पावन हिमालय क्षेत्र में निवास करते हुए सच्चे भक्तों जैसी जीवनचर्या बनाई और बदले में भगवान की

अजस्र अनुकंपा पाई। ऐसे तत्त्वदर्शी तपस्वी ही ऋषि कहाए और हर दृष्टि से कृतकृत्य हुए ऋद्धि-सिद्धियों ने उनके चरण चूमे। वे अपने जीवन में धन्य हो गए ॥ ८४-९३ ॥

प्रवासोऽद्यतनश्चायं व्यतीतश्चर्चयाऽनया ।
ऋषीणामाश्रमांस्तत्र सर्वेषां पश्यतां ततः ॥ १४ ॥
नवीना अपि यत्रेव मिलिता मुनयोऽथ च ।
मनीषिणोऽपि यात्रायां सश्रद्धं प्रणमच्च तान् ॥ १५ ॥
सौहार्दं चार्पयन्तत्र ततोऽग्रेऽगाच्च मंडलम् ।
सायं समय आयाते यातुमग्रेतमस्यथ ॥ १६ ॥
कठिनं प्रविचार्यैव मण्डलं पूर्ववत्ततः ।
विश्रमं संनियोज्यैव सुखं रात्र्यतिवाहिता ॥ १७ ॥

टीका—आज का प्रवाह इस चर्चा के साथ ऋषि-आश्रमों के पुरातन स्थान देखते हुए व्यतीत हो गया। जहाँ-तहाँ अर्वाचीन मुनि-मनीषी भी इस यात्रा प्रसंग में मिले, उन सबको नमन करती और श्रद्धा-सौहार्द्र प्रस्तुत करती हुई मंडली आगे बढ़ती रही। सायंकाल होने पर रात्रि के अंधकार में आगे चलना कठिन देखकर मंडली ने नित्य की तरह विश्राम का सुयोग बिठा लिया और आनंदपूर्वक रात्रि बिताई ॥ १४-१७ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
महर्षिनारदप्रतिपादिते आत्मशोधन इति प्रकरणो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

ऋषिपरंपरा - पुनर्जीवन - प्रकरण

दिवसोऽन्यः प्रवासस्य सोऽद्याभून्मुनिमंडलम् ।
सप्ताहमवधिं कृत्वा पर्यवेक्षणयोजनाम् ॥ १ ॥
हिमाद्रेः प्रविधायैतत्क्षेत्रगौरवगानि तु ।
कारणानि परिज्ञातुं निर्गतं सोत्सुकं ततः ॥ २ ॥
नारदस्य बहुज्ञत्वकारणाल्लब्धमेव च ।
एभिरेतन्निजं सर्वमीप्सितं ज्ञानवर्द्धकम् ॥ ३ ॥
सामान्यास्ते जनास्त्वेनं हिमाद्रिं प्रोच्यमुज्ज्वलम् ।
कठोरं सजलं किं वा हिमाच्छादितमुत्तमम् ॥ ४ ॥
हरितं पार्श्वभागेषु प्रकृतेः सुषमायुतम् ।
मेनिरे द्रष्टुमायान्ति यं तु कौतुकपूर्तये ॥ ५ ॥
परिवर्तनजं लाभं प्राप्यं यान्ति स्म ते गृहान् ।
परं मंडलमेतत्तु दृष्टिं भिन्नां व्यधानिजाम् ॥ ६ ॥
उल्लासोऽतः प्रकाशश्च प्राप्तौ नव्यस्तरावपि ।
ज्ञातं तैः कथमेतस्य भारतस्य जगत्यलम् ॥ ७ ॥

भारते च हिमाद्रेस्तद् गौरवं विद्यते महत् ।
यस्माद्धेतोर्वदन्त्येनं भारतं तु जगद्गुरुम् ॥ ८ ॥
इदं सर्वमहर्षीणां व्यक्तित्वेनोच्चतां गतैः ।
क्रियाविधिभिरेवात्र जातं संभवमन्ततः ॥ ९ ॥
अन्यथाभूमिखंडानि न्यूनाधिकतया भुवि ।
समानानि हि सर्वत्र विद्यन्ते तानि तानि तु ॥ १० ॥

टीका—आज प्रवास का अंतिम दिन था। एक सप्ताह के लिए हिमालय पर्यवेक्षण की योजना बनाकर मनीषी-मंडली इस क्षेत्र की गरिमा के आधारभूत कारणों को खोजने चली थी। नारदजी की बहुज्ञता ने उन सभी को अपने ईप्सित की यह उपलब्धि करा दी, जो ज्ञानवर्द्धक सिद्ध हुई। सामान्यजनों को हिमालय ऊँचा, उज्ज्वल, हिमाच्छादित, कठोर, सजल, बढ़िया, हरीतिमा संपन्न, मात्र प्रकृति शोभा-सज्जाओं से भरा-पूरा शोभायमान ही लगता था। उसे देखने लोग कौतूहलपूर्ति भर के लिए आते थे और परिवर्तन का लाभ लेकर वापस चले जाते थे। पर इस प्रवासी मंडली ने दृष्टिकोण

६.३२ प्रज्ञोपनिषद्

भिन्न रखा। तदनुरूप प्रकाश-उल्लास भी नए स्तर का पाया। उनने जाना कि विश्व भर में भारत की और भारत भर में हिमालय की गरिमा किस कारण है, यह वही कारण है, जिससे भारत जगद्गुरु कहलाया। यह सब ऋषियों के महान व्यक्तित्वों और उनके उच्चस्तरीय क्रियाकृत्यों के कारण ही संभव हुआ है, अन्यथा भूमिखंड तो न्यूनाधिक मात्रा में सर्वत्र एक जैसे ही हैं ॥ १-१० ॥

मनुष्येष्वपि चाकृत्या निर्मित्या वपुषोऽथवा।
नैव कश्चिन्महान् भेदो जायते दृष्टिगोचरः ॥ ११ ॥
तेषु भेदो महान् योऽसौ लभ्यते तस्य कारणम्।
सद्भावस्य संस्कारः केवलं विद्यते त्वयम् ॥ १२ ॥
स यत्रैव यावांश्च जायतेऽधिक एव तु।
औत्कृष्ट्यं तावदेवासावुत्पादयति तत्र च ॥ १३ ॥
दृष्टिगोचरतां याति तावती चोपयोगिता।
तत्र तत्र तथा लोकश्रद्धाऽप्येषाऽभिवर्षति ॥ १४ ॥
धन्यतां ये गताश्चान्यान् धन्यान् येऽकार्षुर्न तु।
रहस्यं चेदृशां नृणां स्थानानां गुप्तमस्त्यदः ॥ १५ ॥
तथ्यमेतच्च विज्ञातुं यतन्ते ये च कुर्वते।
मार्गदर्शनमस्त्येषां प्रवासः सार्थकस्त्वयम् ॥ १६ ॥
अन्ये मृगकपोतानां गणा इव दिशो दश।
मनोविनोदहेतोस्तु प्रधावन्त निरंतरम् ॥ १७ ॥
शाखामृग समास्ते च शाखाभ्योऽन्या निरन्तरम्।

समाश्रयन्ति शाखास्तु श्रमकालविनाशकाः ॥ १८ ॥

टीका—मनुष्यों के बीच भी आकृति एवं शरीर-सरंचना की दृष्टि से कोई बड़ा अंतर नहीं है, फिर उनके बीच जमीन-आसमान जैसा जो अंतर पाया जाता है, उसका एकमात्र कारण सदाशयता का पुट लगना ही है। वह जहाँ जितनी मात्रा में अधिक होता है, वहाँ उतनी ही उत्कृष्टता उत्पन्न करता है वहाँ उतनी ही उपयोगिता भी दृष्टिगोचर होती है। तदनुरूप लोक-श्रद्धा भी उतनी ही बरसती है। धन्य बनने और बनाने वाले व्यक्तियों तथा स्थानों के पीछे यही रहस्य छिपा रहता है, जो इस तथ्य को समझने का प्रयत्न करते हैं, उन्हीं का प्रवास-पर्यटन सार्थक होता है। अन्य लोग तो हिरन-कबूतरों की तरह मन बहलाव के लिए इधर-उधर दौड़ लगाते रहते हैं। बंदरों की तरह इस डाली से उस डाली पर उचकने-मचकने वाले अपने समय-श्रम को जिस-तिस प्रकार बिताते भर रहते हैं ॥ ११-१८ ॥

प्रवासस्य श्रमो विज्ञवर्गस्याभूत्तु सार्थकः।

यतस्तैर्दृष्टिरादत्ता दिव्या वैज्ञानिकी बुधैः ॥ १९ ॥

ज्ञातुं दृश्यगतान्यत्र तथ्यान्युच्चस्तराणि तु।

अकार्षुरिदमेवात्र तत्त्वदर्शिन उक्तमाः ॥ २० ॥

कृष्णांगार समादस्मात्संसारान् बहुमूल्यकान्।

लभन्ते हीरकान् क्षारात् समुदात्ते यथा सदा ॥ २१ ॥

मज्जका गहने गत्वालभन्ते मणिमौक्तिकम्।

प्रतिभैव नरानुच्चान् कुरुते सूक्ष्मदृष्टितः ॥ २२ ॥

नेत्राभ्यां दृश्यते यत्तु तदेवास्तीतिवादिनः।

इंद्रियप्रियवस्तूनामनुगन्तार एव ये ॥ २३ ॥

नरास्ते पशुभिस्तुल्यं जीवन्तीह तथाऽन्ततः।

पश्चात्तापभराक्रांता रिक्तहस्ताः प्रयान्त्यतः ॥ २४ ॥

विचारेणाद्य चैतेन दिने संपूर्ण एव तु।

स्थित्वैकस्मिंस्तु देशे तन्मण्डलं निश्चयं व्यधात् ॥ २५ ॥

यद् दृष्टं तु तदाश्रित्य निर्मेयं किमपि स्वयम्।

परित्यज्य प्रवासं तु ज्ञानगोष्ठी सुयोजिता ॥ २६ ॥

संगमेऽलकनन्दाया भागीरथ्याः स्थिते शुभे।

देवप्रयागतीर्थे ते शिलाखण्डं समाश्रिताः ॥ २७ ॥

विचारे संनिमग्नास्ते शोभामापुर्यथा दिवि।

सप्तर्षिमण्डलं रात्रौ वैशिष्ट्यं द्योतयत्यलम् ॥ २८ ॥

टीका—इस विज्ञ समुदाय का प्रवास श्रम सार्थक हुआ, क्योंकि उनने दृश्य के पीछे छिपे हुए तथ्यों को समझने की वैज्ञानिक दृष्टि अपनाई। तत्त्वदर्शी यही करते रहे हैं और इस कोयले की खदान जैसे कुरूप संसार में से बहुमूल्य हीरक उपलब्ध करते रहे हैं। खारी समुद्र में से गोताखोर ही गहरी डुबकी लगाते और मणिमुक्त क बटोरते हैं। सूक्ष्मदृष्टि में प्रतिभा ही मनुष्य को ऊँचा उठाती, आगे बढ़ाती है। जो दीखता है, उसी को सब कुछ मान बैठने वाले और जो इंद्रियों को प्रिय है, उसी के पीछे दौड़ने वाले व्यक्ति नर-पशुओं जैसा जीवन बिताते और अंततः पश्चात्ताप का पोटला सिर पर लाद कर हाथ मलते हुए इस संसार से विदा होते हैं। इस विचारणा के साथ आज का दिन मंडली ने एक स्थान पर बैठकर जो देखा, उसके आधार पर किसी निर्णय-निष्कर्ष तक पहुँचने का निश्चय किया। सो प्रवास स्थगित रखकर ज्ञान-गोष्ठी की योजना बनाई गई। अलकनंदा और भागीरथी के संगम पर बसे हुए देव प्रयाग के एक सुरम्य शिलाखंड पर बैठकर वे लोग विचार मग्न हो गए। वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानो आकाश में रात्रि के समय सप्तऋषि मंडल प्रकाशवान होकर अपनी विशिष्टता का परिचय दे रहे हों ॥ १९-२८ ॥

मंडलस्य सदस्यास्ते कृतवन्तः स्वकां ततः।

जिज्ञासां भगवन् सोऽयं हिमाद्रिः संस्कृतिश्च सा ॥ २९ ॥

नरा अपि तथा चैव स्थितावेव तिरोहिता।

पुण्यालोकहिता श्रद्धान्युतैषर्षि - परंपरा ॥ ३० ॥

पूर्वस्मिन् समयेत्वल्पा ऋषयो दिव्यतेजसः।

भारतस्य समस्तस्य विश्वस्यापि निरंतरम् ॥ ३१ ॥

मर्त्यगौरवजं पुण्यमौत्कृष्ट्यं स्थापितं व्यधुः।

वर्द्धिताश्चक्रुरेषोऽद्य समाप्तो वर्ग एव तु ॥ ३२ ॥
तथावेषधरामर्त्यास्तदाडंबरकारिणः ।
संतो लक्षधिका दृष्ट्या पौरुषेण तथैव च ॥ ३३ ॥
चरित्रेण तथा नैव सन्ति चैवं स्थितावयम् ।
हिमगिरेर्दृश्यभागस्तु दुर्गतो ध्वंसदुःखतः ॥ ३४ ॥
शोभायां विद्यमानायामपि तद्गौरवस्य सः ।
निर्माता मुख्य आधारे मृग्यते नैव मार्गणात् ॥ ३५ ॥
देवास्य कारणं ब्रूतां निवारणमपि प्रभो ।

मनोऽस्माकं व्यथाव्याप्तं ग्लान्या भारायितं तथा ॥ ३६ ॥
टीका—मंडल के सदस्यों ने पूछा भगवन हिमालय वही है, संस्कृति का अस्तित्व भी है, मनुष्य भी वैसे ही है, इतने पर भी अब लोक हितैषिणी श्रद्धेय ऋषि परंपरा तिरोहित कैसे हो गई? पूर्वकाल में मुट्ठी भर ऋषि ही इस देश की समस्त संसार की मानवी गरिमा की उत्कृष्टता बनाते और बढ़ाते रहते थे, पर अब तो वह वर्ग एक प्रकार से समाप्त हुआ जैसा ही लगता है। वैसा वेष और आडंबर बनाने वाले लाखों की संख्या में रहते हुए भी न वैसा दृष्टिकोण है, न चरित्र, न पुरुषार्थ। ऐसी दशा में हिमालय का दृश्यमान कलेवर भी ध्वसांवेश की तरह दुःखी दुर्गतिग्रस्त हो रहा है। प्रत्यक्ष शोभा बनी रहने पर भी उसकी गरिमा बनाए रहने वाला आधार कहीं खोजे नहीं मिलता। हे देव इसका कारण और निवारण बताने की कृपा करें। हम सबका मन ग्लानि से बोझिल और व्यथित हो रहा है ॥ २९-३६ ॥

भद्राः परणतिस्वेषा स्थूलदृष्टेर्हि वर्तते ।
तथ्यान्वेषकरी बुद्धिर्दुर्बला जायते ततः ॥ ३७ ॥
बाह्यं कलेवरं मत्वा सर्वस्वं पुरुषा अथ ।
अंधानुसरणेनैवमुपहासं व्रजन्ति च ॥ ३८ ॥
स्वयं भ्रान्ता भवन्त्येवमसंख्यान् भ्रामयन्त्यपि ।
भ्रान्ता विन्दन्त्यनर्थं च जानन्त्येतत्समेऽपि तु ॥ ३९ ॥
अन्यक्षेत्रमिवैषाऽपि दुर्गतिं भजते पराम् ।
शोच्यां, पण्यतमा लोक इयमृषिपरंपरा ॥ ४० ॥
बल्लैर्वसनैरत्र हिमाद्रावृषयः पुरा ।
कुर्वते कार्यसिद्धिं ते गैरिकांबर धारणात् ॥ ४१ ॥
तथा वेषोऽधुना मर्त्यैः स्वीकृतः शीतवारणम् ।
तदा न्यैरकार्षुश्च दारुभिः कृष्णवर्त्मगैः ॥ ४२ ॥
निर्गतं भस्मगात्रे ते लेपने चोपयुज्जते ।
शीतोष्णसहने ऽनेन सारल्यं जायते स्म च ॥ ४३ ॥
नाधुना सुलभान्येव दारुण्येवं न चाधुना ।
वस्त्राणां न्यूनतास्तीह तथाप्यत्र तु साधवः ॥ ४४ ॥
छायाग्राहितया तस्य चलनस्य तु कुर्वते ।
अंधानुसरणं तेऽद्य विचारेण विनैव तु ॥ ४५ ॥
टीका—नारद बोले हे भद्रजनो यह स्थूल दृष्टि का परिणाम

है। जब तथ्यान्वेषी बुद्धि पार कर जाती है, तब मनुष्य मात्र बहिरंग कलेवर को ही सब कुछ मान बैठते हैं और अंधानुकरण करके उपहासास्पद बनते हैं, स्वयं भ्रमित होते और असंख्यों को भ्रम में डालते हैं। भ्रमित जनों के पल्ले अनर्थ ही पड़ता है इसे सभी जानते हैं। वैसी ही दुर्गति अन्य क्षेत्रों की तरह पवित्र ऋषि परंपरा की भी रही है। कभी ऋषियों को हिमालय क्षेत्र में उपलब्ध वल्कल वस्त्रों से काम चलाना पड़ता था। अब उसकी चिह्न पूजा के लिए गेरुए वस्त्र पहन कर वैसा ही स्वरूप बनाया जाता है। उन दिनों शीतनिवारण के लिए वन क्षेत्र में विपुल मात्रा में लकड़ी रहती थी। उसे साफ करने और शीत निवारण के लिए वे उसे धूनी के रूप में जलाते रहते थे। निकलने वाली भस्म को शरीर पर लपेटते थे, इससे गरमी-सरदी का सहन कर पाना सुगम हो जाता था, पर अब न तो लकड़ी सुलभ है और न वस्त्रों का अभाव फिर भी तथाकथित साधु जन लकीर पीटने के लिए उसी प्रचलन का विचारे अंधानुकरण करते हैं ॥ ३६-४५ ॥

नारिकेलस्य तुम्ब्याश्च जलपात्राणि चाञ्जसा ।

सुलभानि तदाऽभूवन् परिग्रहमानि तु ॥ ४६ ॥

पात्रेषु चाल्पमूल्येन प्राप्तव्येष्वपि तेष्वलम् ।

आग्रहः क्रियते नैतत्समयानुमतं नृणाम् ॥ ४७ ॥

अग्निं व्यवस्थितं कर्तुं सन्देशोऽपेक्ष्यते तथा ।

छेतुं गुल्मादिकं तत्र कुठारोऽपेक्ष्यतां गतः ॥ ४८ ॥

अस्त्रतां गच्छति क्वापि तथावश्यकता विधेः ।

तथा स्थिता वसत्यां ते धारयन्त्यद्य तानि च ॥ ४९ ॥

स्वयं मृतानां वन्यानां पशूनां तूपयुज्जते ।

चर्म ते चासनस्थाने परं हत्वाऽद्य तान् पशून् ॥ ५० ॥

चर्मप्राप्तौ विशुद्धत्वं कुतस्तद् विद्यते तथा ।

पुराणे समये चाति विशिष्टान्वेषणेच्छया ॥ ५१ ॥

अभ्यासार्थमिहैकांतवनानां भवति स्म सा ।

इहावश्यकता लभ्या जाताश्चास्मै गुहास्तदा ॥ ५२ ॥

परमद्य तथा शोध - प्रयोजनमृतेऽपि तु ।

वातपूर्णकुटीनां च व्ययेऽल्पेऽधिगतावपि ॥ ५३ ॥

गुहा निर्मान्ति व्यर्थं च तत्र ते च दिवानिशम् ।

बिलेशया इव स्थित्वा समयं नाशयन्त्यलम् ॥ ५४ ॥

विना कारणमत्रैव तदावरणनिर्मितिः ।

उदरं भरितामात्रं बालबुद्धिरथास्ति वा ॥ ५५ ॥

टीका—उन दिनों तूबा और नारियल के जल पात्र वन क्षेत्र में सहज उपलब्ध होते थे, अस्तु वे अपरिग्रह के चिन्ह थे, किंतु आज बरतन सस्ते और सुविधाजनक होने पर भी उन्हीं वस्तुओं के लिए आग्रह रखा जाना समय के अनुकूल नहीं है। अग्नि सँभालने के लिए बड़ा सा चिमटा झाड़ियाँ साफ करने के लिए कुल्हाड़ी नित्य की आवश्यकता पूरी

६.३४ प्रज्ञोपनिषद्

करती थी। वह आवश्यकतानुसार अस्त्र का भी काम करती थी, पर आज वैसी परिस्थिति न होने पर भी लोग इन उपकरणों को धारण किए फिरते हैं। वन प्रदेश में अपनी मौत मरने वाले पशुओं का चर्म आसन आदि के काम आता था, किंतु अब हत्या करके उन्हें प्राप्त किए जाने पर शुद्धता कहाँ रही? पुराने समय में अतिमहत्वपूर्ण अन्वेषण-अभ्यास के लिए एकांतवन की आवश्यकता पड़ती थी, इसके लिए पर्वतीय गुफाएँ सहज उपलब्ध थीं, पर अब वैसा शोध प्रयोजन सामने न रहने पर भी हवादार झोंपड़े सस्ते पड़ने पर भी लोग गुफा बनाते और उनमें अजगर की तरह निरर्थक समय नष्ट करते हुए पड़े रहते हैं। कारण न होने पर आवरण बनाना बाल बुद्धि का चिह्न या उदरपूर्ति मात्र का साधन माना जाएगा ॥ ४६-५५ ॥

परिस्थित्यनुरूपेण निर्धारणमथापि वा ।
परिवर्तनमस्त्येव बुद्धिमत्तादि लक्षणम् ॥ ५६ ॥
अदूरदर्शिताभावक्रमेऽन्धानुगतेस्तु ताः ।
गृह्यन्ते मान्यतामूढभावपुष्टा नरैः सदा ॥ ५७ ॥
मूढा परंपराणां तु कुर्वन्ते ते दुराग्रहम् ।
आहुः प्रचलनान्येव कुरीतीर्यानि चान्ततः ॥ ५८ ॥
उपहासास्पदान्येवं मर्त्यहानिकराण्यपि ।
सिद्धत्येतानि संत्यक्तुं चलन्त्यान्दोलनान्यपि ॥ ५९ ॥
सामान्यानां नृणामेव स्थितिश्चेत्संचलेदिह ।
परंपरायां दिव्यायामृषीणामपि तत्तदा ॥ ६० ॥
दुर्भाग्यविषयो नूनं वक्तव्यः स्याद् बुधैः समैः ।
अद्य दुर्भाग्यगतेऽस्मिन् मज्जत्येषा परंपरा ॥ ६१ ॥
हिमाद्रिक्षेत्रमेतच्चाऽभावेऽस्य जायतेऽधुना ।
तेजो रहितमत्यर्थं सर्पो लुप्तमणिर्यथा ॥ ६२ ॥
तस्मिन् क्षेत्रे समस्तेऽपि बाह्यं सौन्दर्यमुत्तमम् ।
प्रकृतेस्तु तथैवैतद् विद्यते परमस्य ते ॥ ६३ ॥
प्राणाः क्षीणा इवाद्याभूद् येषां हेतोश्च गौरवम् ।
स्वर्गोपमं सहैवास्य तेजस्वित्वेन हन्त ते ॥ ६४ ॥

टीका—परिस्थिति के अनुरूप निर्धारण एवं परिवर्तन करते रहना बुद्धिमत्ता का चिह्न है, पर अदूरदर्शिता का, दौरे चढ़ने पर तो अंधानुकरण की मूढ़मान्यताएँ ही अपनाई जाने लगती हैं। मूढ़मति लोग परंपराओं का दुराग्रह करते हैं। ऐसे प्रचलन ही कुरीतियाँ कहलाते, उपहासास्पद और हानिकारक ठहरते हैं। उन्हें बदलने के लिए सुधार आंदोलन भी चलते हैं। सामान्य जनों की भाँति यदि ऋषि परंपरा के संबंध में भी वैसी ही विडंबना चल पड़े, तो उसे दुर्भाग्य का विषय माना जाएगा। आज इस दुर्भाग्य के गर्त में ही ऋषि परंपरा समाती चली जा रही है। अस्तु हिमालय क्षेत्र इस अभाव में मणिविहीन सर्प की तरह निस्तेज होता चला जा रहा है। उसमें प्रकृति

शोभा-सौंदर्य का बाह्य कलेवर तो यथावत् बना हुआ है, पर वह प्राण क्षीण हो चला, जिसके कारण उसकी तेजस्विता और गरिमा कभी स्वर्गोपम बनी हुई थी ॥ ५६-६४ ॥

निस्तेजस्त्वविधे हेतुमस्याजानन् समेऽपि ते ।
विडम्बनास्थितिं दिव्यां समाप्यर्षि- परंपराम् ॥ ६५ ॥
दुःखमापुरथैतस्मिन्नवसादे समेऽपि ते ।
नारदं पृष्ठवन्तस्ते विधिं च सरलं शुभम् ॥ ६६ ॥
दुर्गतेरन्त एतस्याः कथं स्यात् परिवर्तनम् ।
शोधकार्यं दिनेष्वत्र स्यातां किं निकटेऽपि ॥ ६७ ॥
देवसंस्कृतिरेषोक्ता लोकेऽस्मिन्नजराऽमरा ।
तत्तस्या दुर्गतिं दूरीकर्तुं मृग्यो विधिर्नवः ॥ ६८ ॥
निराशा नैव संचित्या जीर्णता समुपैत्यपि ।
न स्थिता सृज्यतेऽस्यास्तु स्थाने नव्योविधिः पुनः ॥ ६९ ॥
वृद्धारुग्णामशक्तां च स्थितिं यान्यथ तद्वपुः ।
तेषां प्रकृतिरादाय ददात्यन्यद् भवान्तरे ॥ ७० ॥
उपसंहारमेत्येष मध्याह्नान्ते तु भास्करः ।
अन्तेऽस्ताचलमभ्येति क्रमः प्राकृतिकस्त्वयम् ॥ ७१ ॥
परमस्मात्समुत्पन्नो नान्धकारोऽत्र तिष्ठति ।
सदा प्राभातिकस्तं च नाशयत्यरुणोदयः ॥ ७२ ॥

टीका—हिमालय क्षेत्र की निस्तेजता का कारण ऋषि-परंपरा का अवसान और उसके स्थान पर विडंबना का ठाट-बाट के साथ विराजमान हो जाना मंडली के सभी सदस्यों ने जाना। इस अवसाद पर दुःख मनाया। साथ ही नारद जी से पूछा, इस दुर्गति का अंत कैसे होगा? उसमें सुधार-परिवर्तन के लिए क्या कुछ अगले दिनों बन पड़ेगा? देव संस्कृति को अजर-अमर माना जाता रहा है, तब फिर उसकी दुर्दशा को दूर करने का कोई नया उपाय भी बनना चाहिए। नारद जी ने कहा निराश होने की कोई बात नहीं। जीर्णता आती तो है पर वह स्थिर नहीं रहती। उसके स्थान पर नव सृजन का भी विधि-विधान है। वृद्धजन अशक्त और रुग्ण स्थिति में जा पहुँचते हैं, तो प्रकृति उनका वह कलेवर छीन लेती है और नया जन्म देकर नया शरीर प्रदान करती है। सूर्य मध्याह्नक उपरांत ढलने लगता है और अंततः अस्त हो जाता है यह प्रकृति का निश्चित क्रम है, किंतु इस कारण उत्पन्न हुआ अंधकार भी सदा ठहरता नहीं, प्रभातकालीन अरुणोदय उसका भी अंतर करके रहता है ॥ ६५-७२ ॥

पत्र शातनकाले च गते किसलयास्तथा ।
सुमनांसि च रम्याणि मधुराणि फलान्यपि ॥ ७३ ॥
उत्पद्यन्ते तथा नैवावसानं तिष्ठति क्वचित् ।
चिरायास्य भजत्येव स्थानमभ्युदयः क्रमात् ॥ ७४ ॥
व्यवस्थां नियतेरेनां जानता चिन्त्यतामिदम् ।
परिवर्तनमेषोऽत्र समयस्तु गमिष्यति ॥ ७५ ॥

देवसंस्कृतिसम्बद्धं गौरवं पुनरेव च ।
नवोत्कर्ष - सुयोगं च प्राप्स्यतीह सुनिश्चितम् ॥ ७६ ॥
विज्ञैराशा च कर्तव्या सदोज्ज्वलभविष्यतः ।
निराशैर्नैव भाव्यं च विपन्नासु स्थितिष्वपि ॥ ७७ ॥
निराशस्य जनस्यैवं तिष्ठतो न मनोबलम् ।
पौरुषं च ततो हानिं भजते व्यर्थमेव सः ॥ ७८ ॥
क्षतेः स्वनिर्मितायाः स्वं बुद्धिमान् रक्षति स्वयम् ।
मनःस्थित्या तथा भाव्यमस्माकमपि संततम् ॥ ७९ ॥
चेष्टितव्यं परिष्कर्तुं तथैव परिवर्तितुम् ।

टीका—पतझड़ के उपरांत पेड़ों पर नए कोपल ही नहीं, सुरम्य फूल और मधुर फल भी आते हैं। अवसान भी सदा नहीं रहते। उनका स्थान अभ्युदय भी यथा समय ग्रहण करता है। इस नियति व्यवस्था को समणते हुए ये सोचा जाना चाहिए कि समय बदलेगा और देव संस्कृति की गरिमा का नए सिरे से उत्कर्ष अभ्युदय का सुयोग बनेगा। विज्ञ जन को उज्ज्वल भविष्य की ही सदा आशा करनी चाहिए। विपन्न परिस्थितियों में भी निराश नहीं होना चाहिए। निराश व्यक्ति मनोबल और पुरुषार्थ दोनों ही खो बैठता है और अकारण घाटा उठाता है, इस स्वनिर्मित क्षति से हर बुद्धिमान अपने को बचाता है। हमारी मनःस्थिति भी वैसी ही रहनी चाहिए और यथासंभव सुधार-परिवर्तन की चेष्टा करनी चाहिए ॥ ७३-७९ ॥

अवोचंस्ते बुधाः श्रेष्ठस्त्रिकालज्ञो भवानिह ॥ ८० ॥
उपायं कृपया ब्रूतां येन स्याज्जीविता पुनः ।
लोकमंगल सद्भावा दिव्यैषर्षिपरंपरा ॥ ८१ ॥
स्वरूपं नूतनं तस्यास्तथा स्याद् दृष्टिगोचरम् ।
यथाऽभूच्च पुराकाले तीर्थक्षेत्रेषु सर्वदा ॥ ८२ ॥
परिवर्तनकाले च युगस्यैष महत्तमाम् ।
उवाह भूमिकां प्राणप्रवाहो हिमभूभृतः ॥ ८३ ॥
समयः कांक्षते तस्याः पुनरावृत्तिमेकदा ।
पुनरेव ततो ब्रूतामस्माभिः किं विधीयताम् ॥ ८४ ॥

टीका—मनीषी मंडल ने पूछा, आप ऋषियों के मूर्द्धन्य और त्रिकालदर्शी हैं। कृपया ऐसा उपाय बताइए जिससे लोकमंगल की सद्भावना से युक्त ऋषि परंपरा पुनर्जीवित हो सके। उसका अभिनव स्वरूप वैसा ही दृष्टिगोचर होने लगे जैसा कि पुरातन काल में तीर्थ क्षेत्रों में सदा दृष्टिगोचर होता था। युग परिवर्तन के अवसर पर हिमालय क्षेत्र का प्राण-प्रवाह सदा अपनी विशिष्ट भूमिका निभाता रहा है। समय की मांग उसी की पुनरावृत्ति की है। सो बताएँ कि हम लोगों को इस निमित्त क्या करना चाहिए ॥ ८०-८४ ॥

इमं हृदयसम्भूतं विचारं भवतामहम् ।
मन्ये परात्मनः प्राप्तमात्मनश्च विशेषतः ॥ ८५ ॥

प्रतीक्षा त्यज्यतामन्यैः कर्तव्यस्यात्र कर्मणः ।
ग्राह्यानां कर्मणानां च मूकदर्शनभूमिकाम् ॥ ८६ ॥
स्वयं चैव शुभारंभः क्रियतामचिरेण तु ।
निः शंकमभियातव्यमत्रैकाकिभिरप्यलम् ॥ ८७ ॥
शूरैः सत्साहसैरग्रगामिनस्तु पदक्रमाः ।
न्यस्तास्ताननुजग्मुश्चासंख्यास्ते भावनायुताः ॥ ८८ ॥
भवितव्यं तदेवस्मिन् शुभे चावसरे पुनः ।
नवनिर्धारणेऽस्मिन् स्यात्प्रयासो भवतां मुखः ॥ ८९ ॥
पिपीलिका अपि घ्नन्ति संहत्या बलिनं गजम् ।
कुर्वते रसयुक्तां च शरघां मधुमक्षिकाः ॥ ९० ॥
विहितं वानरैर्ऋच्छै रामकार्यमभूत्तदा ।
गोपबालैः कृतं कृष्णकार्यं तत्सफलं महत् ॥ ९१ ॥
सर्वेषां विदितं चैतद् देवसंयुक्तशक्तिजम् ।
दुर्गावतरणं जातमृषिरक्त - निधेर्घटात् ॥ ९२ ॥
सीताया जन्मसञ्जातं व्याप्ता चासुरता ततः ।

समाप्ताऽथ भवन्तःस्वान् मन्यन्तां नाल्पपौरुषान् ॥ ९३ ॥
टीका—नारद जी ने कहा, आपकी इस अंतःकरण में उद्भूत होने वाली विचारणा को हम आत्मा और परमात्मा का अपने लिए विशेष रूप से भेजा गया परामर्श मानें। अन्यान्यों के द्वारा कुछ किए जाने की प्रतीक्षा छोड़ें और अकर्मण्यों की तरह मूक दर्शक की भूमिका न निभाएँ, शुभारंभ अपने से करें। एकाकी चलें, साहसी शूरवीरों ने सदा से अग्रगामी कदम उठाए हैं, उनके पीछे अनायास ही अगणित भावनाशील चलते रहे हैं। इस अवसर पर भी वही होना चाहिए। इस नव-निर्धारण में आप सबका प्रयास प्रमुख रहना चाहिए। मिल-जुलकर प्रयास करने से चींटियाँ भी हाथी को मार सकती हैं और मधुमक्खियाँ भी रस भरा छत्ता बना सकती हैं। रीछ-वानरों द्वारा किया गया राम कार्य और ग्वाल-बालों द्वारा किया गया कृष्ण सहयोगी कार्य कितना सफल हुआ, यह सर्वविदित है। देवताओं की संयुक्त शक्ति से दुर्गा का अवतरण हुआ था। ऋषियों के रक्त संचय से घड़ा भरने पर सीता का जन्म हुआ और संव्याप्त असुरता का समापन हुआ था। आप लोग अपने को सामान्य न मानें ॥ ८५-९३ ॥

संकल्पान् महतो ये तु कुर्वते पौरुषेषु च ।
महत्स्वत्र प्रवर्तन्ते महान्तः कथितास्तु ते ॥ ९४ ॥
सफलं यशस्विनं देवो निर्मात्येषां पराक्रमम् ।
भवन्तो यदि संनद्धाः कर्तुं च किमपि स्वतः ॥ ९५ ॥
शुभं मुहूर्तमद्यैव ज्ञात्वा सर्वोत्तमं ततः ।
संकल्पः क्रियतां विश्वकल्याणाभिमुखो द्रुतम् ॥ ९६ ॥
किं कार्यं कः प्रकारश्च कुतः कार्यमिति क्रमात् ।
श्रुत्वाप्रश्नान् महर्षिः स उदतारिच्च नारदः ॥ ९७ ॥
स्मरन्त्वद्य भवन्तस्तां दिव्यामृषिपरंपराम् ।

६.३६ प्रज्ञोपनिषद्

प्रयासास्तत्कृता ग्राह्याः कार्यं कार्यं च संहतैः ॥ ९८ ॥
विवेकशीलताऽथापि दायित्वं सचरित्रता ।
पराक्रमो भवद्भिः स आश्रितव्यः समैः सदा ॥ ९९ ॥
महत्त्वाकांक्षया नैव पृथग् भूतैरसंहतैः ।
कार्यं कर्तुं विचार्य तु कदाचिदपि पूरुषैः ॥ १०० ॥
शक्तेरपव्ययो नूनं पृथग् भावात् जायते ।
उद्भवः सहयोगाच्च प्रगतेस्तु प्रपद्यते ॥ १०१ ॥
तथ्यस्यास्य स्मृतावत्र स्वीकृतावपि विद्यते ।
कल्याणं परमं नृणां न तु विस्मरणे क्वचित् ॥ १०२ ॥
टीका—महान संकल्प करने वाले और महान पुरुषार्थ में
जुट पड़ने वाले महान कहलाते हैं। उनके पराक्रम को भगवान
यशस्वी और सफल बनाते हैं। आप भी कुछ करने के लिए
उद्यत हो सकें, तो इसके लिए आज का मुहूर्त ही सर्वोत्तम है।
विश्वकल्याणकारी संकल्प आप लें। क्या करना चाहिए?
किस प्रकार करना चाहिए? कहाँ से करना चाहिए? इन
प्रश्नों के उत्तर में नारदजी ने कहा आप लोग ऋषि परंपरा का
स्मरण करें। उनके द्वारा जो किया गया था, उन प्रयासों को
अपनाएँ और मिल-जुलकर काम करें। समझदारी, ईमानदारी,
जिम्मेदारी और बहादुरी का आश्रय लें। महत्वाकांक्षाओं से
प्रेरित होकर अलग-अलग काम करने की बात कभी न
सोचें। बिखराव में शक्ति का अपव्यय और सहयोग से प्रगति
का उद्भव होता है, इस तथ्य को स्मरण रखने और अपनाने
में ही कल्याण है, विस्मरण में नहीं ॥ ९४-१०२ ॥

पुरासप्तर्षयः सप्तस्रोतःक्षेत्रे तु पावने ।
एकत्रिताः प्रयासैः स्वैर्व्यधुरुग्रं तपः समे ॥ १०३ ॥
दुःस्थितिः कालजाः सर्वाः परिवर्तितुमन्ततः ।
जातास्ते सफलास्तेन पूज्यतां ते गताः समे ॥ १०४ ॥
तत्र स्थाने च गन्तव्यं भवद्भिरपि संगतैः ।
प्रयासः सोऽनुकार्यः सा ग्राह्या दिव्या परंपरा ॥ १०५ ॥
टीका—पुरातनकाल में सप्तऋषियों ने हरिद्वार की पावन
भूमि में सप्तसरोवर नामक स्थान पर एकत्रित होकर संयुक्त
प्रयासों से तपश्चर्या की थी और उस समय की बिगड़ी हुई
परिस्थिति को बदलने-सुधारने में सफलता पाई थी तथा सभी
के पूज्य बन गए। आप लोगों को भी वहाँ जाना और प्रयास-
परंपरा का अनुसरण करना चाहिए ॥ १०३-१०५ ॥

उपस्थिते समस्तेऽपि समुदाये स्थितास्तु ये ।
सदस्यास्तत्र तैः व्यक्तिशः क्रमशस्ततः ॥ १०६ ॥
एकैकस्य महर्षेस्तु मंगलां तां परंपराम् ।
कर्तुं प्रचलितां तत्र दायित्वं स्वीकृतं शुभम् ॥ १०७ ॥
संहतैरेव सर्वैश्च कार्यं कर्तुं तथा ततः ।
प्रतिज्ञातं यथा सत्ता प्रयासः स्यात्तु सुन्दरः ॥ १०८ ॥
संयुक्तावयवैः पूर्तिः शरीरस्य निरंतरम् ।

सदावश्यकतानां तु विविधानां विधीयते ॥ १०९ ॥
वयं तथा करिष्याम इति तैर्निश्चितं ततः ।
एकस्त्वनुसरंस्तेषु पतञ्जलि - परंपराम् ॥ ११० ॥
कालानुकूलं कर्तुं तद् योगविज्ञानमुत्तमम् ।
निश्चिकाय यतो गात्रं मृण्मयं स्वर्णतां व्रजेत् ॥ १११ ॥
अपरो याज्ञवल्क्यस्य च्छिन्नप्रायां तु सर्वतः ।
यज्ञविद्यामिहान्वेष्यं योक्तुं निश्चयमागतः ॥ ११२ ॥
तृतीयश्चरकस्याथ वनौषध्युपयोगिताम् ।
कर्तुं मूर्तिमती तत्र दायित्वं तु गृहीतवान् ॥ ११३ ॥
टीका—उपस्थित समुदाय में से प्रत्येक ने एक-एक
ऋषि की मंगलमय परंपरा प्रचलित करने का शुभ उत्तरदायित्व
अपने कंधे पर उठाया। सभी ने इस प्रकार मिल-जुलकर
काम करने की शपथ उठाई मानी वह एक सत्ता का ही संयुक्त
प्रयास हो। समस्त अवयव मिलकर शरीर की अनेकानेक
आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, वैसा ही हम सब भी करेंगे
ऐसा उन्होंने निश्चय किया। एक ने पतञ्जलि परंपरा का
अनुसरण करते हुए योग विज्ञान को समयानुकूल बनाने का
निश्चय किया, ताकि मिट्टी से विनिर्मित शरीर, दोषरहित
सुवर्ण बन जाए। दूसरे ने ऋषि याज्ञवल्क्य की तरह यज्ञ विद्या
की टूटी हुई कड़ियों को फिर से खोजने और जोड़ने की
प्रतिज्ञा की। तीसरे ने चरक की तरह वनौषधियों की उपयोगिता
फिर से मूर्तिमान करने की जिम्मेदारी उठाई ॥ १०६-११३ ॥

तीर्थानां च चतुर्थः स आरण्यकपरंपराम् ।
कर्तुं प्रचलितां कार्यं विधिना निश्चयं व्यधात् ॥ ११४ ॥
पुरोधसां परिव्राजकानां दिव्या तु योजनाम् ।
प्रशिक्षणस्य निर्माणस्याऽकरोद् बहुसंख्यया ॥ ११५ ॥
प्रज्ञासंस्थानरूपे च देश - देशान्तरेष्वपि ।
युगतीर्थानि निर्मातुं निश्चितं दृढरूपतः ॥ ११६ ॥
पञ्चमो निश्चिकायाथ ज्योतिर्विज्ञानसंभवम् ।
आधारं तु समाश्रित्य प्रभावं ग्रहसंभवम् ॥ ११७ ॥
गृहीत्वा पौरुषं नव्यं कर्तुं किमपि तद्विधौ ।
शब्दशक्तेरहो मंत्र विज्ञानस्याथ तत्र तु ॥ ११८ ॥
षष्ठः कर्तुं च प्रत्यक्षं निश्चयं स्वं व्यधाच्छुभम् ।
वर्तते मंत्रविज्ञानं क्षमं सूक्ष्माभिबन्धने ॥ ११९ ॥
टीका—चौथे ने तीर्थों की आरण्यक परंपरा से संबंधित
सभी प्रचलनों को कार्यान्वित करने का निश्चय किया।
पुरोहितों-परिव्राजकों का बड़ी संख्या में निर्माण तथा प्रशिक्षण
की बनाई। युग तीर्थों को प्रज्ञा संस्थानों के रूप में देश-
देशान्तरों में विनिर्मित करने की ठान ली। पाँचवें ने ज्योतिर्विज्ञान
के आधार पर अंतर्ग्रही प्रभावों के साथ तालमेल बिठाने का
पुरुषार्थ नए सिरे से करने का निश्चय किया। छठे ने शब्दशक्ति
मंत्रविज्ञान के रहस्यों को प्रत्यक्ष करने की ठानी। मंत्र विज्ञान

व सूक्ष्म तत्त्वों को शक्तियों को बाँधने उन्हें सद्बुद्ध करने में समर्थ हैं ॥ ११४-११९ ॥

आस्थासंकटमप्येष सप्तमश्चाश्रयन्नथ ।
तर्कतथ्यप्रमाणानि कर्तुं च जनमानसम् ॥ १२० ॥
परिष्कृतं स्वयं भारं वोढुं निश्चयमागतः ।
नाम प्रज्ञाभियानं च स्थापितं तस्य वै ततः ॥ १२१ ॥
पूर्वं सुनिश्चितस्याथ प्रभोः प्रेरणयाऽपि च ।
क्रियान्वितमिदं कर्तुं सप्तर्षीणां स्थलस्य तु ॥ १२२ ॥
निकटे कर्मठैर्विश्वचिन्तासंव्याप्त - मानसैः ।
विशिष्टैर्निश्चयोऽकार्षीद् गायत्रीतीर्थ - संस्थिते ॥ १२३ ॥
टीका—सातवें ने आस्था-संकट का निवारण करने के लिए तर्कों, तथ्यों और प्रमाणों के सहारे जनमानस के परिष्कार का भार अपने सिर पर वहन करने का निश्चय किया। इस संयुक्त प्रयास का नाम प्रज्ञा-अभियान रखा गया। इसी पूर्व निश्चय व ईश्वर की प्रेरणा के वशीभूत होकर इसे कार्यान्वित करने के लिए प्रमुख सप्तऋषियों की तपस्थली के सन्निकट विश्व कल्याण की चिन्ता से युक्त कर्मठ व्यक्तियों ने गायत्री तीर्थ स्थापित करने का निश्चय किया ॥ १२०-१२३ ॥
उत्साहेन विशालेन निष्ठया च सहैव तु ।
कर्मठास्ते सहैवाशु प्रस्थितास्तत्र सत्वरम् ॥ १२४ ॥
स्थाने च नियते तस्मिन् समायाते च योजना ।
पूर्वोक्ताः सप्तसंयुक्ताः स्थाने तच्छरणं गताः ॥ १२५ ॥

प्रज्ञाभियानमायातं कर्तुमृषिपरंपराम् ।
जीवितां पूर्णवेगेन चोत्साहेन बलीयसा ॥ १२६ ॥
साफल्यं तस्य वीक्ष्यैतच्चकिताः सर्व एव तु ।
पुरातनं पृथिव्यां च पुनः सत्ययुगं समे ॥ १२७ ॥
आयातुं पूर्णमाधारमभियानमिदं शुभम् ।
अमन्यन्त न यत्र स्याद् दुराचारादि - दूषणम् ॥ १२८ ॥
टीका—अपूर्व उत्साह व निष्ठा से ये सभी कर्मठ व्यक्ति साथ-साथ चल पड़े। नियत स्थान पर पहुँचकर उपर्युक्त सातों योजनाएँ संयुक्त होकर एक स्थान पर आ गईं और ऋषि परंपरा को पुनर्जीवित करने वाला प्रज्ञा अभियान अत्यंत उत्साह के साथ तूफानी वेग से चल पड़ा। उसकी सफलता देखकर सभी चकित रह गए और पुरातन सत्ययुग को फिर से वापिस लौट आने का आधार प्रत्यक्ष देखने लगे, सभी ने सोचा अब दुराचार आदि नहीं रहेंगे ॥ १२४-१२८ ॥
आशिषस्तु यथा दत्ता नारदेन हिमालये ।
मंडलस्य सदस्येभ्यो विश्वासश्चपि बोधितः ॥ १२९ ॥
महर्षेर्निश्चितं तेन संकल्पेनोत्तमेन तु ।
सफलेनैव भाव्यं तत्साफल्यं गच्छतीह सः ॥ १३० ॥
टीका—नारद जी ने सभी को जैसा आशीर्वाद हिमालय में दिया था और विश्वास दिलाया था कि उनका संकल्प निश्चित रूप से सफल होना था, वह यहाँ सफल होने लगा ॥ १२९-१३० ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
महर्षिनारदप्रतिपादिते ऋषिपरंपरापुनर्जीवन इति प्रकरणो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

वन्दना परिशिष्ट

कथावाचक का आदर्श यह रहा है कि वह अपने आपको शाश्वत ज्ञान का विनम्र संदेशवाहक मात्र मानकर चले। इसीलिए स्वयं को वक्ता न मानकर आदि वक्ताओं का प्रतिनिधि माने। कथा प्रारंभ करने के पूर्व अपना यह भाव उद्दीप्त करने के लिए वंदना एक बड़ा उपयोगी माध्यम रहा है। भावभरी वंदना से न केवल अपने अनुशासन का निर्वाह होता है, बल्कि अपनी शालीनता का उभार होने से दिव्य अनुदान के रूप में सूक्ष्म प्रवाह का भी सहज ही लाभ मिलने लगता है। अस्तु हर कथा के पहले भावभरी वंदना अवश्य की जाए।

वंदना में पहले ईश वंदना तथा फिर गुरु वंदना के श्लोक बोले जाएँ। समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप २-३ मंत्र दोनों ही प्रसंगों के बोले जा सकते हैं। यहाँ ईश वंदना और गुरु वंदना के पर्याप्त श्लोक दिए जा रहे हैं। ईश वंदना के श्लोक इस तरह के हैं, कि उसमें किसी विशेष नाम रूप का वर्णन न होकर प्रभु की सामर्थ्य सार्वभौम सत्ता का, उनकी विशेषता सामर्थ्य एवं गुणों, आदर्शों का ही उल्लेख है। गुरु वंदना के श्लोक भी सार्वभौम हैं।

ईश-वंदना

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
 बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैय्यायिकाः ।
 अर्हन्तित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
 सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥ १ ॥
 त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
 वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम, त्वया तत् विश्वमनन्तरूपः ॥ २ ॥
 भवानीशंकरो वंदे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
 याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥ ३ ॥
 प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वं, सच्चित्सुखं परमहंस गतिं तुरीयम् ।
 यत्स्वप्नजागरसुषुप्तमवैति नित्यं, तद्ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः ॥ ४ ॥
 प्रातर्नमामि तमसः परमर्कवर्णं पूर्णं सनातनपदं पुरुषोत्तमाख्यम् ।
 यस्मिन्निदं जगदशेषमशेषमूर्तौ रज्वा भुजगं इव प्रतिभासितं वै ॥ ५ ॥
 नमस्ते सते ते जगत्कारणाय नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय ।
 नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ॥ ६ ॥
 यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैस्तवैः ,
 वेदैः सांगंपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः,
 ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो,
 यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥ ७ ॥
 पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
 न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥ ८ ॥
 त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
 त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ ९ ॥
 प्रातर्नमामि मनसा वचसा समूर्ध्ना पादारविन्दयुगलं परमस्य पुंसः ।
 नारायणस्य नरकार्णवतारणस्य पारायणप्रवणविप्र - परायणस्य ॥ १० ॥
 प्रातर्भजामि मनसो वचसामगम्यं वाचो विभान्ति निखिला यदनुग्रहेण ।
 यन्नेतिनेतिवचनैर्निगमा अवोचंस्तं देवदेमजमच्युतमाहुरग्र्यम् ॥ ११ ॥
 भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम् ।
 महोच्चैः पदानां नियन्तृत्वमेकं परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम् ॥ १२ ॥
 नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।

अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ १३ ॥
 वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
 नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्चभूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ १४ ॥
 एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतांतरात्मा ।
 कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ १५ ॥
 त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः प्राणान्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च ।
 सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन् नान्यत् त्वदस्त्यपि मनो वचसा निरुक्तम् ॥ १६ ॥
 अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
 तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ १७ ॥
 नमस्ते नमस्ते विभो! विश्वमूर्ते! नमस्ते नमस्ते चिदानंदमूर्ते ।
 नमस्ते नमस्ते तपोयोगगम्य नमस्ते नमस्ते श्रुतिज्ञानगम्य ॥ १८ ॥
 अजं शाश्वतं कारणं कारणानां शिवं केवलं भासकं भासकानाम् ।
 तुरीयं तमः पारमाद्यन्तहीनं प्रपद्ये परं पावनं द्वैतहीनम् ॥ १९ ॥
 सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्तस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
 सत्तस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥ २० ॥
 वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः ।
 सदेकं निधानं निरालंबमीशं भवाम्भोधिपोतं शरण्यं ब्रजामः ॥ २१ ॥

गुरु वंदना

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुरेव महेश्वरः। गुरुरेव परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ १ ॥
 अखंडमंडलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्। तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ २ ॥
 अज्ञानतिमिरांधस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया। चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ ३ ॥
 वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्। यमाश्रितो हिवक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥ ४ ॥
 अखंडानंदबोधाद्य शिष्यसंतापहारिणे। सच्चिदानंदरूपाय तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ ५ ॥
 ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं द्वंद्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
 एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तन्ममामि ॥ ६ ॥

युगदेव स्तवन

अहो तां गायत्रीमखिल - जगदानंद निलयाम् उपास्या - ब्रह्मासावसृजदमलां सृष्टिमधिकाम् ।
 मता या वेदानामपि निखिल विश्वस्य जननी, सुशान्त्यै शान्तां तां जपत मनुजा! देवजननीम् ॥ १ ॥
 समस्त जगत् के आनंद की आधारभूत जिस गायत्री की उपासना करके ब्रह्माजी ने सृष्टि रची। जिसे वेदमाता,
 देवमाता व विश्व माता कहा जाता है। हे मनुष्यो! अपार शान्ति के लिए शांत-स्वरूप उस गायत्री को भजो, उसका
 जप करो ॥ १ ॥

त्रयोलोका यस्याश्चरण वरणास्तेऽपि च समे, त्रयो देवास्तिष्ठः प्रथितविभवा देव्य इति सा ।
 त्रिवेणी व्याख्याताऽक्षरगण इहाख्यातिमभजत् चतुर्विंशत्याहु ऋषित्रिदश दिव्यावतरणाः ॥ २ ॥
 जिसके तीन चरणों को तीन लोक, तीन देव, तीन वैभवशाली देवी-त्रिवेणी कहते हैं। जिसके चौबीस अक्षर अवतारों,
 देवताओं, ऋषियों के रूप में प्रख्यात हुए ॥ २ ॥

सुदेव्याः संस्कृत्या इहानिगदिता मूलमखिलं, बुधाः प्राहुः यांचामृतममरवृक्षं परमणिम् ।
 शिखासूत्रे यस्या दधुरमृतचिह्नं जपत तां, युगप्रज्ञोन्मेषप्रबलकरुणां सिद्धिजननीम् ॥ ३ ॥
 जो देव संस्कृति की मूल है। जिसे पारस, कल्पवृक्ष और अमृत कहा जाता है, जिसे शिखा-सूत्र के रूप में धारण
 किया जाता है। जो अमृत तत्वदायी चिह्न है जो युग परिवर्तन का उन्मेष करने में अत्यंत करुणामयी सिद्धिदात्री गायत्री को
 जपो ॥ ३ ॥

६.४० प्रज्ञोपनिषद्

अहो आद्यां शक्तिं कलियुगकला विस्मृततनुम् उपेक्षाक्षीणां ताममृतनिधिकां बुद्धिविभवाम् ।
महाप्रज्ञो ह्येनां पुनरुद्धरददेवसदृश, ऋतां तुभ्यं युगपुरुष! नः सन्तु नतयः ॥ ४ ॥
उस आद्यशक्ति को काल-प्रवचना से विस्मृत रूप वाली, उपेक्षित हुई ऋतंभरा प्रज्ञा का जिसने पुनरुद्धार किया उस
महाप्राज्ञ युग पुरुष को देव संस्कृति का, उसके कोटि-कोटि अनुचरों का कोटि-कोटि नमन वन्दन ॥ ४ ॥
सदा भास्वान् भूत्वा तपति गगने यज्ञ इह यो, भृशं पर्जन्योऽयं यमनुसृतं वर्षति रसम् ।
य ओतः प्रोतश्च प्रबलतमत्प्राणामरुता, तदेतद्देवत्वं श्वसिति कृपया यस्य हि चित्तेः ॥ ५ ॥
जो यज्ञ सूर्य के रूप में तपता है । जिसके प्रताप से पर्जन्य बरसते हैं । जो प्राण-ऊर्जा से ओत-प्रोत है । जिसकी चेतना
से देवत्व जीवित है ॥ ५ ॥
यदङ्गे देवानां गण उदयमासाद्य लुठति, भृशं पोषं प्राप्य प्रखरतरतां याति सततम् ।
निधिर्ऋद्धेः सिद्धेरपि च कथिता यत्र वपुषि, तदोजस्तेजस्वे वसत इह वर्चोऽभिलषित ॥ ६ ॥
देवगण जिससे, जिसकी गोद में जन्मते, पलते, प्रखर होते और समर्पण करते हैं । जो ऋषि-सिद्धियों का भंडार है ।
जिसमें ओजस्, तेजस और वर्चस के सभी तत्व विद्यमान हैं ॥ ६ ॥
तिरस्कारं यातो विकृतिमभजद्यः कलिबलात् उपेक्षां संप्राप्तोऽप्यहह निखिलारोग्यसदनम् ।
अहो विष्णुं यागं पुनरुद्धरदो बुधवर!, प्रणामास्तुभ्यं हे युगपुरुष! नः कोटिश इमे ॥ ७ ॥
ऐसे कलि-विडंबना से उपेक्षित, तिरस्कृत, विकृत हुए आरोग्य के उत्पत्ति स्थल विष्णु रूप यज्ञ का जिसने पुनरुद्धार
किया, उस महाप्राज्ञ युग पुरुष को देव संस्कृति का, उसके अनुचरों का कोटि-कोटि नमन-वन्दन ॥ ७ ॥
अहो विश्वस्तानामिव हि हृदयं यस्य सरसं, सदास्ते भक्तानामिव, गहनमाचिन्तनमपि ।
सदाब्रह्मज्ञानामिव च चरितं तदृषि समं, प्रणामास्तुभ्यं हे युग-पुरुष! नः कोटिश इमे ॥ ८ ॥
जिसका हृदय विश्वासी भक्त जैसा सरस, जिसका गहन चिंतन ब्रह्म वेत्ताओं जैसा जिसका चरित्र ऋषियों जैसा जो
महाप्राज्ञ है, ऐसे युग-पुरुष को हम करोड़ों भक्तों का प्रणाम ॥ ८ ॥
उपासते य ईशं ह्यविरतमहो जीवनविधौ, सदासक्ते लोकाधिक - सुखसमाराधनविधौ ।
सदादर्शादर्शो भुवि विदित सत्सौख्य विभवः, प्रणामास्तुभ्यं हे युगपुरुष! नः कोटिश इमे ॥ ९ ॥
जो ईश्वर उपासना, जीवन साधना और लोक को सुखी करने की आराधना में संलग्न आदर्शों के लिए समर्पित स्वयं
आदर्श (दर्पण) के समान हैं, उस महाप्राज्ञ युग-पुरुष का, देवसंस्कृति और उसके अनुचरों द्वारा कोटि-कोटि नमन-वन्दन ॥ ९ ॥
य उत्सेहे पातोन्मुखमनुजसत्संस्कृतिमहो, निरोद्धुं नाशस्य प्रबलतमगर्तादनलसः ।
दधीचेर्व्यासस्य परशुधरं शृंगिप्रथियोर, दधौरूपं यस्त्वां युगनर! नताः कोटिश इमे ॥ १० ॥
जिसने पतनोन्मुख मानवी-संस्कृति को महाविनाश के गर्त से बचाने का आलस्य त्यागकर एकाकी साहस किया ।
जिसने दधीचि, व्यास, परशुराम, शृंगी, पिप्पलाद की भूमिका निभाई, हे युग पुरुष ! आपको कोटि-कोटि हम अनुचरों का
प्रणाम ॥ १० ॥
सुरर्षि यो वाजिश्रवसमपि कार्यादनुगत, ऋषिं विश्वामित्रं मुनिवर वशिष्ठं सगरजम् ।
ज्वलन्दीपान् स्नेहोद्भरित हृदयोऽज्वालयदसौ, महावर्चः सन्तु युगपुरुष ! तुभ्यं प्रणतयः ॥ ११ ॥
जिसने नारद, वाजिश्रवा, ऋषि विश्वामित्र, मुनिवर वशिष्ठ व सगरवंशज भगीरथ की भूमिका एकाकी निभाई । जिसने
स्वयं ज्वलन्त होकर स्नेहायुक्त होकर अगणित दीप जलाए, उस साहस के धनी, ब्रह्मवर्चस् से ओत-प्रोत महाप्राज्ञ युगपुरुष को
देव संस्कृति का, उसके कोटि-कोटि अनुचरों का कोटि-कोटि नमन-वन्दन ॥ ११ ॥

महाकालाष्टम्

असम्भवं सम्भवकर्तुमुद्यतं प्रचंडझञ्झावृत्तिरोधसक्षमम् ।
युगस्य निर्माण कृते समुद्यतम्, परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ १ ॥
'असंभव को संभव करने को उद्यत प्रचंड झंझावृत्तों को रोकने में सक्षम, युग का निर्माण करने को समुद्यत, सर्वश्रेष्ठ
उन महाकाल को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥'
यदा धरायामशान्तिः प्रवृद्धा, तदा च तस्यां शान्तिं प्रवर्धितुम् ।
विनिर्मितं शान्तिकुञ्जाख्यतीर्थकं, परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

‘जब संसार में चतुर्दिक अशांति बढ़ रही थी, तब उसमें शान्ति (अमन-चैन) लाने के लिए शातिकुंज नामक तीर्थ की स्थापना की, उन सर्वश्रेष्ठ महाकाल को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥’

अनाद्यनन्तं परमं महीयसं, विभोः स्वरूपं परिचाययन्मुहुः ।

युगानुरूपञ्च पथं व्यदर्शयत्, परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ३ ॥

जिसने अनादि, अनंत महतो महीयान् परमात्मा के विभु स्वरूप का लोगों को दर्शन कराया, स्वरूप समझाया और युग के, अनुरूप उनकी पूजा-उपासना का मार्ग प्रशस्त किया, उन सर्वश्रेष्ठ महाकाल को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

उपेक्षिता यज्ञमहादिकाः क्रियाः, विलुप्तप्रायं खलु सान्ध्यमाह्निकम् ।

समुद्धृता येन जगद्धितायवै, परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ४ ॥

जिसने जगत के कल्याण के लिए उपेक्षित पड़े यज्ञ, यागादि परम लोक कल्याणकारी कार्यों तथा विलुप्तप्राय सन्ध्या-वन्दन, गायत्री-उपासना आदि आत्मकल्याणकारी परंपराओं का पुनरुद्धार किया, उन सर्वश्रेष्ठ महाकाल को मैं नमस्कार करती हूँ ॥ ४ ॥

तिरस्कृतं विस्तृतमप्युपेक्षितं, आरोग्य - वाहं यजनं प्रचारितुम् ।

कलौकृतं यो रचितुं समुद्यतः, परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ५ ॥

तिरस्कृत, विकृत एवं उपेक्षित पड़े आरोग्यदायी यज्ञ का प्रचार-प्रसार करने के लिए तथा कलियुग को सतयुग में बदलने के लिए जो समुद्यत (तत्पर) हैं, उन सर्वश्रेष्ठ महाकाल को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५ ॥

तपः कृतं येन जगद्धितायवै, विभीषिकायाश्च जगन्नु रक्षितुम् ।

समुज्ज्वला यस्य भविष्यघोषणा, परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ६ ॥

जिसने जगत के कल्याण के लिए आजीवन तप किया और अनेकानेक विभीषिकाओं से संतुष्ट संसार की रक्षा के लिए उसे प्रयुक्त किया। जिसने (इक्कीसवीं सदी को) भविष्य को समुज्ज्वल होने की घोषणा की है, उन सर्वश्रेष्ठ महाकाल को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥

उदार-नम्रं हृदयं नु यस्य यत्, तथैव तीक्ष्णं गहनं च चिंतनम् ।

ऋषेश्चरित्रं परमं पवित्रकं, परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ७ ॥

जिनका हृदय अति विनम्र रहा और चिंतन अति गहन तथा तीक्ष्ण, जिनका चरित्र ऋषियों जैसा परम पवित्र था। उन सर्वश्रेष्ठ महाकाल को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ७ ॥

जनेषु देवत्ववृत्तिं प्रवर्धितुं, नभोधरायाञ्च विधातुमक्षयम् ।

युगस्य निर्माणकृता च योजना, परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ८ ॥

जन-जन में देवत्ववृत्ति-दिव्यगुण जाग्रत करने के लिए और धरती पर स्वर्ग का वातावरण बनाने के लिए जिसके द्वारा युग निर्माण योजना बनाई गई, उन परम महाकाल को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ८ ॥

यः पठेच्चिन्तयेच्चापि, महाकालस्वरूपकम् ।

लभेतपरमां प्रीतिं, महाकालकृपादृशा ॥ ९ ॥

जो भी व्यक्ति महाकाल के स्वरूप को प्रकट करने वाले (इस महाकालाष्टक को) पढ़े और चिंतन करे, वह महाकाल की कृपादृष्टि के फलस्वरूप परम प्रसन्नता को प्राप्त करे ॥ ९ ॥

गुरु-मातृ वंदना

वन्दे भगवतीं देवी, श्रीरामञ्चजगद्गुरुम् ।

पादपद्मे तयोः श्रित्वा, प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥ ४ ॥

(जगत्) माता भगवती देवी एवं जगत पिता श्री राम के चरण-कमलो में तदाश्रित होकर बारंबार प्रणाम करता हूँ ॥

४ ॥

ॐ प्रखरप्रज्ञाय विद्महे, महाकालाय धीमहि तन्नो श्रीरामः प्रचोदयात् ।

ॐ सजलश्रद्धायै विद्महे, महाशक्त्यै धीमहि तन्नो भगवती प्रचोदयात् ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥